परमाचार्य-श्रीमद्यामुनाचार्यसमनुगृहीतं

सिद्धित्रयम्

आत्म-ईश्वर-संवित्सिद्धयः

तत्त्वप्रकाशिकाव्याख्यासमलङ्कृतम्



व्याख्याकारः

श्रीस्वामीदामोदरप्रपन्नाचार्यः



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

587

परमाचार्य-श्रीमद्यामुनाचार्यसमनुगृहीतं

सिद्धित्रयम्

(आत्म-ईश्वर-संवित्सिद्धयः)

तत्त्वप्रकाशिकाव्याख्यासमलङ्कृतम्



व्याख्याकारः

जगद्गुरुरामानुजाचार्य-वेदान्तविद्

श्रीस्वामीदामोदरप्रपन्नाचार्यः

पटना (बिहार)



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

सिद्धित्रयम्

पृष्ठ : 2+13+351

ISBN : 978-93-83721-92-4

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : +91 542-2335263

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

प्रथम संस्करण 2015 ई.

मूल्य : ₹ 550.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : +91 11-23286537; 32996391

email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

•

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

प्रास्ताविक

दक्षिण भारत के चोल मण्डल में परम पवित्र कावेरी नदी के उत्तर तट पर बसा हुआ पवित्रतम वीरनारायणपुर नामक ग्राम प्रख्यात है । इसी ग्राम में श्रीमन्नाथमुनि का निवास था । आपने न्यायतत्त्व नामक विशाल ग्रन्थ का प्रणयन किया था । उस ग्रन्थ की पंक्तियाँ विशिष्टाद्वैत दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों में उद्धरण के रूप में उपलब्ध होती हैं । उस ग्रन्थ की उपलब्धि कहीं भी नहीं होती है ।

श्रीमन्नाथ मुनि के विषय में श्रीमद्‌यामुनाचार्य स्वामी स्तोत्र रत्न नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

नमोऽचिन्त्याद्भुताक्लिष्ट-ज्ञान-वैराग्य-राशये ।
नाथाय मुनयेऽगाधभगवद्भक्ति सिन्धवे ।।

तस्मै नमो मधुजिदांघ्रि-सरोजतत्त्व-ज्ञानानुराग महिमतिशयान्त सीम्ने।
नाथाय नाथमुनयेऽत्र परत्र चापि नित्यं यदीय चरणौ शरणं मदीयम्।

श्रीमन्नाथ मुनि के पुत्र का नाम ईश्वर मुनि था । आपके ही औरस पुत्र के रूप में श्रीमद्‌यामुनाचार्य स्वामी का प्रादुर्भाव हुआ था । श्रीमद्‌यामुनाचार्य स्वामी स्वाभाविक रूप से ही ज्ञान सम्पन्न थे । **अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्** इस श्रुति के अनुसार उपनयन संस्कार के पश्चात् उन्होंने साङ्ग वेदों का अध्ययन किया । समयानुसार उनका पाणिग्रहण संस्कार भी सम्पन्न हुआ । इसके पश्चात् वे श्रीमहाभाष्यभट्टाचार्य की सन्निधि में व्याकरणादि शास्त्रों का अध्ययन करने लगे ।

उस समय चोल मण्डल के राजपुरोहित प्रख्यात पण्डित थे । वे प्रतिवर्ष प्रत्येक विद्वानों से विद्याकर के रूप में पाँच स्वर्ण मुद्रा वसूलते

थे। एक बार महाभाष्य भट्ट की सन्निधि में जब श्रीमद्यामुनाचार्य व्याकरण शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे; उसी समय चोल राज के पुरोहित का दूत विद्याकर वसूलने के लिए श्रीमहाभाष्य भट्ट के समीप आया। उस सम‌य कर प्रदान करने में असमर्थ श्रीमहाभाष्य भट्ट दुःखी हो गये। यह देखकर श्रीयामुनाचार्य उस पत्र को लेकर पढ़े और उसे फाड़ कर फेंक दिये। दूत के मुख से इस बात को जानकर उस राजपुरोहित ने यह जानने के लिए पुनः दूत को भेजा कि यामुनाचार्य केवल कवि ही हैं अथवा दार्शनिक भी हैं। उसके उत्तर में यामुनाचार्य ने निम्नाङ्कित श्लोक लिखकर भेज दिया।

न वयं कवयस्तु केवलं न वयं केवलतन्त्रपारगाः ।
अपितु प्रतिवादि वारण प्रकटाटोप विपाटनक्षमाः ।।

अर्थात् न तो मैं केवल कवि हूँ और न केवल दार्शनिक हूँ अपितु मैं प्रतिवादी रूपी गजेन्द्र के मस्तक को फाड़ देने में समर्थ सिंह हूँ।

इसके पश्चात् पुरोहित के द्वारा प्रेरित राजा के द्वारा प्रेषित दूत जब यामुनाचार्य को राजपुरोहित के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आहूत किया तो श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने दूत से यह कहकर उसे लौटा दिया कि महाराज को मुझे स्वरूपानुरूप बुलाना चाहिए। तदनन्तर राजा ने श्रीयामुनाचार्य को लाने के लिए शिविका भेजा तो श्रीयामुनाचार्य चोलराज की राजसभा में गये।

राजसभा में जाकर श्रीमुनाचार्य ने अपने वैदुष्य का प्रकाशन करने के लिए निम्नांकित श्लोक लिखकर राजपुरोहित को प्रदान किया—

आशैलादद्रिकन्या-चरणकिसलय-न्यास-धन्योपकण्ठात्,
आरक्षो नीतसीता मुखकमल-समुलास-हेतोश्च सेतोः ।
आ च प्राच्य प्रतीच्य क्षितिधरयुगलादर्क चन्द्रावतंसात्,
मीमांसा शास्त्र युग्मश्रमविमलमना मृग्यतां मादृशोऽन्यः ।।

इस श्लोक को पढ़कर कुपित हुए राजपुरोहित ने श्रीयामुनाचार्य स्वामी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। उस समय श्रीयामुनाचार्य स्वामी के तेज को देखकर रानी ने राजा से कहा कि यामुनाचार्य पराजित नहीं

होंगे । यदि ये पराजित हो गये तो मैं छह मास तक आपकी दासी बनकर रहूँगी । राजा ने भी कहा यदि हमारे राजपुरोहित परास्त हो गये तो मैं अपना आधा राज्य यामुनाचार्य को दे दूँगा । इसके पश्चात् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ; किन्तु राजपुरोहित शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों प्रकार के विषयों में परास्त हो गये । राजा ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने राज्य का आधा भाग प्रदान कर दिया ।

राज्य प्राप्त करके श्रीयामुनाचार्य राजभवन में ही अपनी पत्नी तथा परिवार के साथ रहने लगे । श्रीनाथ मुनि के शिष्य श्रीराममिश्राचार्य श्रीयामुनाचार्य से भेंट करना चाहते थे; किन्तु उनसे भेंट नहीं हो पाती थी । श्रीराममिश्राचार्य ने रसोइये से पूछा कि महाराज को कौन सी साग प्रिय है ? तो रसोइये ने बतलाया कि महाराज को अलर्क पत्र की साग अत्यन्त प्रिय है । श्रीराममिश्राचार्य जङ्गल से प्रतिदिन अलर्क पत्र लाकर देते रहे । इस तरह छह मास बीत गये तो भी श्रीयामुनाचार्य से भेंट नहीं हुयी ।

एक दिन वे अलर्क पत्र नहीं लाये तो श्रीयामुनाचार्य ने अलर्क पत्र की साग नहीं बनाने का कारण पूछा । रसोइया ने बतलाया एक महात्मा प्रतिदिन अलर्क पत्र लाकर देते थे; आज वे अलर्क पत्र नहीं लाये । महाराज यामुनाचार्य ने कहा जब वे महात्मा आयें तो उनसे मेरी भेंट कराना । दूसरे दिन श्रीराममिश्र स्वामी अलर्क पत्र लेकर जब आये तो रसोइया उनको श्रीयामुनाचार्य के पास ले गया । श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने श्रीराममिश्र स्वामी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनसे प्रतिदिन अलर्क पत्र प्रदान करने का कारण पूछा ।

श्रीराममिश्र स्वामी ने कहा— मेरे पास आपके पितामह की सम्पत्ति मेरे पास सुरक्षित है मैं उसे प्रदान करना चाहता हूँ; अतएव आप मुझे अपने पास निर्बाध रूप से आने की अनुमति प्रदान करें । इस तरह से अनुज्ञा प्राप्त श्रीराममिश्राचार्य प्रतिदिन आकर श्रीमद्भगवद् गीता के तात्पर्यार्थ तथा रहस्यार्थों का उपदेश देते रहे । एक दिन श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने पूछा श्रीमद्भागवद गीता के प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम श्रीभगवान् की प्राप्ति का

साधन क्या है ? श्रद्धा भक्ति सम्पन्न श्रीमद्यामुनाचार्य को देखकर श्रीराममिश्राचार्य उनको गीता के चरम श्लोक के द्वारा प्रतिपादित शरणागति के प्रकार आदि का उपदेश दिया । उन्होंने कहा कि आपके पूर्व पुरुषों के द्वारा रक्षित निधि को मैं जानता हूँ । यदि आप मेरे साथ आयें तो उसे मैं आपको दिखा सकता हूँ । इसके पश्चात् श्रीराममिश्रस्वामी ने श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी को श्रीरङ्गम् में लाकर श्रीरङ्गनाथ भगवान् का दर्शन कराया ।

भगवान् श्रीरङ्गनाथ का दर्शन करके श्रीयामुनाचार्य स्वामी अपने को कृतकृत्य माने और—

क्षेत्राणि मित्राणि धनानिनाथ पुत्राश्च दाराः पशवो गृहाणि ।
त्वत्पाद पद्म प्रवणात्मवृत्तेर्भवन्ति सर्वे प्रतिकूल रूपाः ।।

इस सूक्ति के अनुसार श्रीमद्यामुनाचार्य संसार से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करके श्रीरङ्गम् में ही निवास करने लगे । वहीं रहकर अपने शिष्यों को दाविड़ तथा संस्कृत वेदान्त का उपदेश दिए । उन्होंने निम्नाङ्कित ग्रन्थों का प्रणयन किया—

१. आगमप्रामाण्य ।
२. महापुरुषनिर्णय ।
३. आत्मसिद्धि ।
४. ईश्वरसिद्धि ।
५. संवित्सिद्धि ।
६. स्तोत्ररत्न (आल्वन्दार स्तोत्र) और
७. वरदबल्लभा स्तोत्र ।

इन सभी ग्रन्थों का एक ही श्लोक में संग्रह करते हुए श्रीमद्वेदान्तदेशिक स्वामी ने लिखा है—

मानत्वं भगवन्मतस्य महत; पुंसस्तथा निर्णयः,
तिस्त्रः सिद्धय आत्मसंविदखिलाधीशानतत्त्वाश्रयाः ।
गीतार्थस्य च संग्रहः स्तुतियुगं श्रीश्रीशयोरित्यमून्,
यद्ग्रन्थाननुसंदधे यतिपतिस्तं यामुनेयं नुमः ।।

श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में सिद्धित्रय ग्रन्थ अत्यन्त प्रख्यात है । आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि तथा संवित् सिद्धि इन तीनों सिद्धियों का समुदित रूप सिद्धित्रय ग्रन्थ है ।

इन तीनों सिद्धियों का बहुत अधिक अंश दुर्भाग्यवशात् नष्ट हो चुका है । इन तीनों सिद्धियों का जो अंश उपलब्ध है उन सबों का ही संगृहीत रूप आज सिद्धित्रय ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है ।

इस ग्रन्थ की प्रतिवादि भयङ्कर अण्ङ्गराचार्य स्वामी तिरुनाङ्गूर ने सिद्धान्तसिद्धाञ्जन नाम की व्याख्या संस्कृत में की है । इस ग्रन्थ का इस व्याख्या के साथ सर्वप्रथम प्रकाशन १८ अप्रैल १९५४ में गुजरात राज्य के बड़ताल में हुआ । सिद्धित्रय की उत्तमूर वीरराघवाचार्य ने अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणी का भी प्रणयन किया है । इस ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई व्याख्या नहीं थी ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तविद् जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य इस ग्रन्थ को हमसे दूरभाष यन्त्र (मोबाइल) के द्वारा पढ़ते रहे और मेरे द्वारा की गयी व्याख्या का वे संग्रह करते गये । उस व्याख्या का नाम उन्होंने तत्त्वप्रकाशिका रखा है । उसी व्याख्या के साथ उन्होंने सिद्धित्रय ग्रन्थ को **चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी** से प्रकाशित कराके श्रीदामोदराचार्यजी ने आप सभी अध्येताओं के समक्ष सिद्धित्रय को प्रस्तुत किया है ।

श्रीवैष्णवों का दासानुदास
शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)
म. न. १४५, कटरा, श्रीअयोध्याजी,
फैजाबाद, उत्तर प्रदेश
पिन २२४ १२३

विषयानुक्रम

आत्मसिद्धिः

विषय **पृष्ठाङ्क**

विषय **पृष्ठाङ्क**

विषय　　**पृष्ठाङ्क**

विषय	पृष्ठाङ्क

ईश्वरसिद्धिः

संवित्सिद्धिः



श्रियै नमः

श्रीधराय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

परमाचार्य श्रीमद्यामुनाचार्य समनुगृहीते,

तत्त्वप्रकाशिका समलङ्कृते

सिद्धित्रये

आत्मसिद्धिः

यत्पदाम्भोरुध्यान विध्वस्ताशेषकल्मषः वस्तुतामुपयातोऽहं
यामुनेयं नमामि तम्

मूल— **प्रकृतिपुरुषकालव्यक्तमुक्ता यदिच्छा-**
मनुविदधति नित्यं नित्यसिद्धैरनेकैः ।
स्वपरिचरणभोगैः श्रीमति प्रीयमाणे-
भवतु मम परस्मिन् पूरुषे भक्तिभूमा ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका— जगज्जन्मादिकर्तारं सर्वलोकैककारणम् ।
पतिं सर्वस्य जगतः लक्ष्मीनारायणं भजे ॥१॥
विशिष्टाद्वैतराद्धान्त-निर्धारण-धुरन्धराः ।
जयन्ति यामुनाचार्याः योगीश्वराः यतीश्वराः ॥२॥
वन्देऽहं परमाचार्यं विष्वक्सेनं यतीश्वरम् ।
यत्पादपद्मध्यानेन सर्वसिद्धिरभून्मम ॥३॥
आत्मेश्वरसंविदां सिद्धिं भाषया लोकभाषया ।
व्याकर्तुमुत्सहते दामोदरो ह्यकिञ्चनः ॥

श्रीमद्विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त निर्धारण धुरन्धर परमाचार्य श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी आत्मसिद्धि नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्रीभगवान् के समक्ष कामना करते हुए कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष, काल, व्यक्त तथा मुक्तजीव तथा अनेक नित्यासिद्ध, अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन इत्यादि के साथ श्रीभगवान् की परिचर्या रूपी भोग के द्वारा उनकी इच्छा का अनुसरण करते हैं। ऐसे ऐश्वर्य सम्पन्न वैकुण्ठधाम में प्रसन्न रहने वाले परम पुरुष श्रीभगवान् में मेरी विपुल भक्ति हो।

इस श्लोक में प्रयुक्त प्रकृति शब्द माया का वाचक है। व्यक्त शब्द से प्राकृतिक महदादि प्रकृतिक विकारों को बतलाया गया है। काल, सत्त्व शून्य का बोधक है। यही प्रकृति के प्राकृतों का कारण है। उस प्रकृति तथा प्राकृत से बद्ध इस लीला विभूति में रहने वाले सभी जीव हैं उन सबों को ही यहाँ पुरुष शब्द से अभिहित किया गया है। श्रीभगवान् की प्रेम पूर्वक निरन्तर निरन्तराय सतत् चिन्तन रूपी उपासना के द्वारा इस संसार के बन्धन से मुक्त होकर श्रीभगवान् के लोक में पहुँचे हुए तथा श्रीभगवान् के सत्य सङ्कल्प के कारण आविर्भूत गुणाष्टक जीव ही मुक्त शब्दाभिधेय हैं। नित्य जीव वे हैं जो सदा श्रीभगवान् के ही लोक त्रिपाद् विभूति में रहकर श्रीभगवान् की परिचर्या में लगे रहते हैं। ऐसे जीव विष्वक्सेन, गरुड तथा अनन्त इत्यादि हैं। इस तरह लीलाविभूति के सभी जीव तथा पदार्थ तथा त्रिपाद विभूति के सभी जीव श्रीभगवान् की इच्छा का अनुसरण करते हैं। श्रीभगवान् जैसा चाहते हैं, वैसी ही चेष्टाओं को करके वे श्रीभगवान् के लीला रस के अनुभव में सहकारी बनते हैं। ऐसे श्रीभगवान् अपने दिव्य वैकुण्ठधाम में रहकर अपने परिजनों तथा पत्नियों के द्वारा सेवित होते हुए आनन्दानुभव करते रहते हैं। उन श्रीभगवान् में हीं श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामीजी अपनी भक्ति की विपुलता की कामना करते हैं। क्योंकि जीवों का सभी प्रकार के कल्याणों को करने वाली भक्ति ही है।

इस मङ्गलाचरण के द्वारा बतलाया गया है कि जीवों को श्रीभगवान् से भक्ति की प्राप्ति की ही प्रार्थना करनी चाहिए। उस भक्ति से प्रसन्न

होकर श्रीभगवान् अपने भक्तों को मुक्ति प्रदान करेंगे ही । इस श्लोक से यह भी अर्थ सूचित किया गया है कि चेतनों तथा अचेतनों में होने वाले भेद परमार्थ हैं । भगवान् श्रीमन्नारायण ही परं तत्त्व हैं जितने भी चेतना तथा अचेतन पदार्थ हैं वे श्रीभगवान् की विभूति हैं । निरन्तर प्रेम पूर्वक भगवान् का चिन्तन रूपी उपासना ही मुक्ति की प्राप्ति का साधन है तथा श्रीभगवान् की निरन्तर उपासना पूर्वक भगवदानुभव करते रहना मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है ।

आत्मसिद्धि ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयोजन

मूल— **विरुद्धमतयोऽनेकास्सन्त्यात्मपरमात्मनोः ।**
अतस्तत्परिशुध्यर्थमात्मसिद्धिर्विधीयते ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका— आत्मा तथा परमात्मा के विषय में दार्शनिकों के परस्पर विरोधी, अनेक प्रकार के विचार हैं । अतएव आत्मा और परमात्मा के विषय में अनेक प्रकार के वादों के कारण वादों के जो असत् तथा विरोधी अकार हैं । उन सबों का खण्डन करके तथा उन मतों में विद्यमान दोषों को दूर करके आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का सत्तर्क एवं प्रमाणानुकूल यथावस्थित रूप से निरूपित करने के लिए मैं इस आत्मसिद्धि नामक प्रकरण ग्रन्थ का निर्माण कर रहा हूँ ॥२॥

जीवात्मा तथा परमात्मा का ज्ञान ही मोक्ष का साधन है

मूल— **सम्भतं हि सर्वसमयेषु आत्मज्ञानं निश्रेयसहेतुरिति, श्रूयते च पृथगात्मनं प्रेरितारञ्च मत्वाजुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति, आत्मानं चेद्विजानीयात्, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्यादिः परावरात्मतत्त्वज्ञानस्यापवर्गसाधनंत्वं प्रतिपादयन् वेदान्तवाक्यगणः।**

तत्त्वप्रकाशिका— सम्मतम्० इत्यादि— अर्थ सभी दर्शनों के अनुकूल है कि आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है । यहाँ पर आत्मा शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का समान रूप से बोधक है। यदि कोई यह कहे कि आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तो मोक्ष का साधन

हो सकता है। किन्तु आत्मा से भिन्न परमात्मा का ज्ञान मोक्ष का साधन कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं— **श्रूयते० इत्यादि**— श्रुतियाँ कहती हैं कि **पृथगातमानं प्रेरितारं च मत्त्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।** अर्थात् मुमुक्षु पुरुष आत्मा तथा सम्पूर्ण जगत् के प्रेरिता (नियामक)ा परमात्मा के स्वरूप का मनन करके परमात्मा की प्रीति का पात्र बन जाता है और उसके पश्चात् वह जीव स्वरूप तथा परमात्मा स्वरूप का ज्ञाता होने के कारण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। दूसरी श्रुति भी कहती हैं **आत्मानं चेद् विजानीयात्** यदि मुमुक्षु उपासक जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की विशेष रूप से उपासना करे तो उसकी मुक्ति हो जाती है। तीसरी श्रुति कहती हैं **तरति शोकमात्मवित्** अर्थात् आत्मज्ञ पुरुष इस संसार सागर को पार कर जाता है तथा अगली श्रुति कहती है **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। **इत्यादिः** इत्यादि इस तरह के अनेक वेदान्तों के वाक्य प्रतिपादित करते हैं कि परमात्मा और जीवात्मा इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप आदि का ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन हैं।

जीवात्मा के विषय में परस्पर विरोधी मत

मूल— **तत्रास्मिन्नात्मनि परस्मिँश्चानेकविधाविप्रतिपत्तयस्तीर्थकराणां, तद्यथा आत्मविषये तावद् देहमेव केचिदात्मानमाक्षते, इन्द्रियाण्यन्ये, मन इत्यन्ये, प्राणमपरे, बोधमात्रमितरे, देहेन्द्रियमनःप्राणबोधविलक्षणमाकाशादिवदचित्स्वभावमागन्तुकबोध सुखदुःखाद्यसाधारणगुणाधारमहङ्कारगोचरमपरे, अपरे तु बोधैकस्वभावमेव, स्वभावधवलमिव स्फटिकमणिमुपधानविशेषापादितारुणिमगुणादिनिर्भासमध्यस्तज्ञातृभावमनहंकारंपधानापादितरागद्वे षसुखदुःखाद्यशिवगुणनिर्भासमन्तःकरणोस्तमितस्वरूपप्रकाशं स्वयंज्योतिषमिममभिदधति, अन्ये तु ज्ञानानन्दस्वभावम्, आश्रयानुकूल्यप्रतिलब्धानन्दसुखादिव्यपदेशबोधविशेष एवास्य स्वाभाविक इत्यन्ये।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह कहे कि जिस विषय में संदेह होता है उसके ही विषय में ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। किन्तु आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का निरूपण वेदान्त वाक्यों के ही द्वारा किया गया है अतएव आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के विषय में किसी भी प्रकार की शङ्का का अवसर ही नहीं हैं ऐसी स्थिति में आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के लिए इस प्रकरण ग्रन्थ के प्रणयन का क्या औचित्य हैं ? तो इसका उत्तर है कि श्रुतियों के द्वारा विषय ज्ञान हो जाने पर भी जो प्रख्यात दार्शनिक हैं उनके अनेक प्रकार के वाद को सुनने पर श्रुति के तात्पर्य के विषय में ही सन्देह का होना सम्भव है। इन सारी बातों को मन में रखकर श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी कहते हैं—

तत्रास्मिन्नातमनि इत्यादि— जीवात्मा और परमात्मा दोनों में से इस जीवात्मा के विषय में दार्शनिकों के अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी विचार हैं। वे इस प्रकार के हैं। **आत्मविषये० इत्यादि**— आत्मा के ही विषय में कुछ वादी (चार्वाक) मतानुयायी देह को ही आत्मा मानते हैं। दूसरे इन्द्रियात्मवादी चार्वाक इन्द्रियो को ही आत्मा मानते हैं। **मन० इत्यादि**— तीसरे प्रकार के चार्वाक मन को ही आत्मा मानते हैं। **प्राणमपरे० इत्यादि**— चौथे प्रकार के चार्वाक प्राण को ही आत्मा कहते हैं। **अध्यस्तज्ञातृ० इत्यादि**— बौद्ध मतावलम्बी तथा अद्वैती विद्वान् यह कहते हैं कि ज्ञातृत्व आत्मा का धर्म नहीं है। वह अहङ्कार की ग्रन्थि में रहने वाला धर्म है, उसका आत्मा में अध्यास हो गया है। आत्मा में इस शब्द का वाच्य नहीं हैं। ज्ञान आत्मा तो वस्तुतः ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञान मात्र कहकर यह बतलाया गया है कि उस ज्ञानात्मा में ज्ञानत्व नामक धर्म भी नहीं हैं। वह सर्वथा निर्धर्मक है। **देहेन्द्रियमनः इत्यादि**— नैयायिक तथा वैशेषिक विद्वान् यह कहते हैं कि आत्मा, देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा ज्ञान इन पाँचों से भिन्न प्रकार का है, आकाश इत्यादि जिस तरह से ज्ञान रहित हैं उसी तरह से आत्मा भी स्वाभाविक रूप से ज्ञान रहित है। ज्ञान, सुख, दुःख आदि असाधारण

गुणों का आत्मा आश्रय हैं । किन्तु ये सभी असाधारण (विशेष) गुण आगन्तुक हैं । उस आत्मा को ही मैं इस शब्द से कहा जाता है । अतएव वह अहम् शब्द वाच्य हैं । नैयायिकों ने आत्मा को अचित् स्वभावम् कहकर उसे स्वरूपतः जड़ बतलाया है ।

अंपरे तु० इत्यादि— सांख्यमतावलम्बियों का कहना है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही हैं । जिस तरह स्फटिक मणि स्वभावतः श्वेत होती है, किन्तु जब जपा कुसुम रूपी उपाधि का उससे संसर्ग होता है तो उसमें अरुणिम गुण की प्रतीति होने लगती है । अर्थात् वह लाल दिखायी देने लगता है, उसी तरह ज्ञान स्वरूप आत्मा का जब अन्तःकरण रूपी उपाधि से संसर्ग होता है तो उसमें राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि अकल्याणकारी गुणों की प्रतीति होने लगती है । किन्तु ये राग द्वेष इत्यादि आत्मा के धर्म नहीं हैं अपितु ये अन्तःकरण के धर्म हैं । आत्मा के स्वरूप का प्रकाश न तो कभी उदित होता है और न कभी अस्त होता है । वह तो सदैव प्रकाशित होता रहता है । यह आत्मा स्वयम्प्रकाश है । अर्थात् वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है । वह प्रकाशकान्तर निरपेक्ष है । **अन्येतु० इत्यादि**— कुछ मीमांसक तथा कुछ विशिष्टाद्वैती भी यह कहते हैं ज्ञान तथा आनन्द आत्मा के स्वभाव हैं । यहाँ पर स्वभाव कहकर यह कहा गया है कि ज्ञान और आनन्द आत्मा के धर्म हैं । **आश्रयानुकूल्य इत्यादि**— सिद्धान्ती का कहना है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है । आनन्द भी उसका कोई अतिरिक्त धर्म नहीं है अपितु जो आत्मा के अनुकूल प्रतीति होती है वही सुख कहलाता है, वह ज्ञान स्वरूप हैं ।

आत्मा के विषय में परस्पर विरोधी प्रमाणों का वर्णन

मूल— **तथा अनुमानसमधिगम्यः, आगमैकवेद्यः, मानस-प्रत्यक्षवेद्यः, ग्राहकतयैव सकलविषय वितिषु प्रत्यक्षोज्ञान-स्वभावतयाऽनुदितानस्तमितस्वरूपप्रकाशः स्वयंज्योतिः, ईदृशो-**

ऽप्यागमानुमानयोगजप्रत्यक्षैः स्वेतरसकलविलक्षणस्वाभाव्येन विशदविशदतर-विशदतमतया अन्ततो यथावदपरोक्ष्यत इति ।

तत्त्वप्रकाशिका— इस अनुच्छेद में आत्मा के ग्राहक प्रमाणों के विषय में वादियों के परस्पर विरोधी विचारों को उपन्यस्त किया गया है। **तथा० इत्यादि**— सौत्रान्तिक बौद्ध विद्वानों का मत है कि आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है । सौत्रान्तिक आत्मा का अनुमान करते हुए कहते हैं **'मैं' 'मैं'** इस रूप से होने वाले विज्ञान का कोई-न-कोई आश्रय अवश्य होगा । क्योंकि वह विज्ञान हैं । नीलपीतादिविज्ञान के समान जिस तरह नील विज्ञान का आश्रय नीला पदार्थ होता है तथा पीत रूप से प्रतीत होने वाले विज्ञान का आश्रय पीला पदाथ्र होता है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिए ।

नैयायिक विद्वान् भी आत्मा को अनुमान-प्रमाण गम्य मानते हैं । अतएव यह मत नैयायिकों को भी अभिप्रेत है । **आगमैकवेद्यः इत्यादि**— श्रोत्रिय विद्वानों का कहना है कि आत्मा के स्वरूप के केवल आगमों (शास्त्रों) के द्वारा ही जाना जा सकता है । अनुमान प्रमाण के द्वारा आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है । **मानस प्रत्यक्ष० इत्यादि**— यह मीमांसक तथा नैयायिक यह मानते हैं कि आत्मा का **'मैं' 'मैं'** रूप से मानस प्रत्यक्ष होता है । अतएव आत्मा मानस प्रत्यक्ष वेद्य है । **ग्राहकतयै० इत्यादि** सभी घट, पट आदि विषयों की होने वाली प्रतीति में आत्मा ज्ञात रूप से प्रत्यक्षित होता है क्योंकि होने वाले सभी ज्ञानों में तीन वस्तुओं की प्रतीति होती है । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की । जैसे घट के ज्ञान में जिस तरह घट का प्रकाश होता है, उसी तरह से उसके ज्ञान तथा ज्ञाता आत्मा का भी प्रकाश होता है । अतएव आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । **ज्ञानस्वभावतया० इत्यादि**— सांख्यों का कहना है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है । उसका प्रकाशन तो कभी उदित होता है और न अस्त (समाप्त) होता है वह स्वयम् प्रकाश है । **इदृशोऽपि० इत्यादि**— विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि आत्मा के ज्ञान स्वरूप है वह इस तरह से सदैव प्रकाशित होते रहने वाला तथा प्रकाशाकान्तर निरपेक्ष

होने पर भी उसे आगम प्रमाण के द्वारा, जानकर उसका अनुमान किया जाता है। तथा योगज प्रत्यक्ष के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जाता है। इन सभी प्रमाणों के द्वारा अपने से भिन्न सभी देहादिकों से भिन्न आत्मा का स्वरूप होने के कारण उसका क्रमशः विशद, विशदतर तथा विशदतम रूप से और अन्त में आत्मा का जैसा स्वरूप है उस प्रकार से उसका साक्षात्कार होता है।

आत्मा के परिमाण के विषय में परस्पर विरोधी विचार

मूल— **तथा परममहान्, अणुपरिमाणः, शरीरपरिमाणः, स्वतःपरिमाणरहितोऽपि व्याप्यवस्तुपरिमितिकृतपरिच्छेद इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— इसी तरह आत्मा के परिमाण के विषय में भी परस्पर विरोधी विचार हैं। **परम० इत्यादि**— नैयायिक विद्वान् कहते हैं कि आत्मा परम महान् है, क्योंकि वह विभु है। **अणुपरिमाण इत्यादि**— विशिष्टाद्वैती विद्वान् मानते हैं कि आत्मा अणुपरिमाण है। **शरीरपरिमाणक इत्यादि**— जैन मतावलम्बी यह बतलाते हैं कि जितना बड़ा शरीर होता है उतना ही आत्मा का परिमाण होता है। हाथी के शरीर में रहने वाला आत्मा हाथी के समान और चींटी के शरीर में रहने वाले आत्मा का परिमाण चींटी जैसा छोटा होता है। **स्वतः इत्यादि**— सांख्यमतावलम्बी विद्वानों का कहना है कि आत्मा का कोई भी परिमाण नहीं है। आत्मा का व्याप्य भूत शरीर जितना बड़ा या छोटा होता है उस शरीर में ही वह व्याप्त होकर रहता है। अतएव आत्मा का परिमाण औपाधिक है।

आत्मा की व्याप्ति के विषय में विरोधी विचार

मूल— **व्याप्तिरपि चैतन्यमात्रेण स्वरूपेण इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— व्याप्तिरिति०— आत्मा की व्याप्ति के विषय में भी विरोधी विचार हैं। **चैतन्य मात्रेण० इत्यादि**— विशिष्टाद्वैती विद्वान् मानते हैं कि आत्मा शरीर में अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा व्याप्त रहता है। **स्वरूप० इत्यादि**— नैयायिक आदि विद्वानों का मानना है कि आत्मा अपने स्वरूप से ही शरीर में व्याप्त रहता है।

आत्मा के काल के विषय में विरोधी विचार

मूल— **तथा क्षणिकः यावच्छरीरोष्मथायी, आप्राकृत-प्रलयावस्थायी, आमोक्षस्थायी कूटस्थो नित्य इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— तथेत्यादि— आत्मा के काल के विषय में भी विरोधी विचार हैं । बौद्ध विद्वान् आत्मा को क्षणकाल स्थायी मानते हैं। वे कहते हैं कि एक क्षण में आत्मा उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण में वह अपने सन्तान भूत ज्ञानात्मा को उत्पन्न करके विनष्ट हो जाता है । अतएव आत्मा क्षणिक है । **यावच्छरो० इत्यादि—** जब तक शरीर के भीतर गर्मी बनी रहती है तब तक आत्मा रहता है और शरीर की उष्णता के समाप्त होते ही आत्मा विनष्ट हो जाता है । यह चार्वाकों का कहना है ।

अप्राकृत० इत्यादि— ब्रह्मदेव इत्यादि दर्शनिकों का कहना है कि आत्मा प्राकृत प्रलय काल पर्यन्त रहता है । प्राकृत प्रलय हो जाने पर आत्मा विनष्ट हो जाता है । **आमोक्ष० इत्यादि—** औडुलोमी इत्यादि दार्शनिकों का मत है कि आत्मा तब तक रहता है जब तक उसकी मुक्ति नहीं हो जाती है । मुक्ति हो जाने पर आत्मा विनष्ट हो जाता है। **कूटस्थोनित्य० इत्यादि—** नैयायिक विद्वान् तथा विशिष्टाद्वैती मानते हैं कि आत्मा कूटस्थ है अर्थात् आत्मा के स्वरूप में कभी भी कोई भी विकार नहीं आता है और वह नित्य है ।

आत्मा की संख्या के विषय में विरोधी विचार

मूल— **सर्वशरीरेष्वेकः, प्रतिक्षेत्रं नानाभूत इति च, तथातथा प्रतिपद्यन्ते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— सर्व० इत्यादि— एक जीववादी अद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि सभी शरीरों के भीतर एक ही आत्मा विद्यमान है । **प्रतिक्षेत्रम्० इत्यादि—** किन्तु नैयायिक तथा सिद्धान्ती इत्यादि यह मानते हैं कि प्रत्येक शरीरों के भीतर रहने वाला आत्मा अलग-अलग हैं। फलतः आत्मा एक नहीं अपितु अनेक हैं । इस तरह से दार्शनिक

विद्वान् अपने-अपने सिद्धान्तानुसार आत्मा के स्वरूप आदि के विषय में अलग-अलग विचारों को उपन्यस्त करते हैं ।

परमात्मा के स्वरूप के विषय में परस्पर विरोधी विचार

मूल— **तथा परमात्मविषयेऽपि केचित्समस्तवस्तुसाक्षात्कारिणं सर्वशक्तिमीश्वरमेव नाभ्युपगच्छन्ति । अभ्युपगच्छन्तोऽप्येऽकेप्रत्यस्तमितमिति मानमातृमेयेश्वरेशितव्यादिभेदविकल्पकूटस्थ विज्ञानैकरसमानाद्यविद्योपदशितवियदादिभेदाविच्छन्नज्ञानश्वर्य्यादिमहिमविकल्पतया काल्पनिकमाक्षते । अपरेतु यथोक्तस्वरूपमेव अविद्योपधानेन तद्गुणसारतया प्रकल्पितब्रह्मादिस्थावरपर्य्यन्तविविधजीवभेदं स्वाधीनविचित्रविवर्त्त स्वभावमायोपहिततया समासादितसार्वज्ञ्यादिसंपदमुपहितमिममभिदधति । तथाऽन्ये प्रकृष्टसत्त्वोपादाननिमित्तस्वतन्त्रप्रधानपरिणामविशेषमात्रनियमनिर्बाहितसर्वैश्वर्यमर्य्यादमाद्रियन्ते । अनुपहितमपि परिणामिनमपरे प्रतिपेदिरे । अपरिणामिनमपि स्वमायांशभूतविचित्रान्तःकरणदर्प्पणतलप्रतिबिम्बिततया प्रतिपन्नविश्व तैजस- प्राज्ञभावं तमेकमेव चेतनमितरे रोचयन्ते । अन्ये तु स्वाधीन त्रिविधचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदं स्वाभाविकनिरवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्य्यवीर्य्यशक्तितेजः प्रभृतिसकलकल्याणगुणमहार्णवं पुरुषविशेषमीश्वरमातिष्ठन्ते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— तथेत्यादि— आत्मा के ही समान परमात्मा के भी विषय में विचारकों के परस्पर विरोधी विचार हैं । **केचित्० इत्यादि** जिस परमात्मा को शास्त्र समस्त वस्तुओं का साक्षात् ज्ञाता बतलाता है। श्रुति कहती है **यः सर्वज्ञः सर्ववित्** अर्थात् जो परमात्मा सर्वज्ञ है तथा सर्ववेत्ता है । उसी परमात्मा को दूसरी श्रुति सर्वशक्तिमान बतलाती हुयी कहती है **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते** अर्थात् इस परमात्मा की अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं । इस प्रकार के ईश्वर को कुछ

चार्वाक, बौद्ध, जैन तथा मीमांसक दर्शनिक नहीं स्वीकार करते हैं । **अभ्युपगच्छन्तोऽपि० इत्यादि**— अद्वैती विद्वान् ईश्वर को मानते तो हैं, किन्तु वे ईश्वर को काल्पनिक मानते हैं । अतएव इस ईश्वर में प्रतीत होने वाले प्रमिति, प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय, नियामक, नियाम्य इत्यादि कोई भी भेद नहीं है । वह ईश्वर कूटस्थ है, अर्थात् उसमें कोई भी विकार नहीं होता है । वह ज्ञान स्वरूप है । ऐसा होने पर भी वह ईश्वर अनादि अविद्या के द्वारा जब उपहित हो जाता है तो आकाश आदि भेदों से युक्त होकर ज्ञात तथा ऐश्वर्य आदि महिमा का अनुभव करने लगता है । अतएव प्रमाता प्रमेय आदि सभी भेदों को विविध विचित्र शक्ति सम्पन्ना अविद्या उसी तरह से कल्पित कर देती है, जिस तरह रस्सी में भ्रम के कारण सर्पादि की प्रतीति होने लगती हैं ।

अपरेतु० इत्यादि— कुछ अद्वैती विद्वान् माया तथा अविद्या में भेद मानते हैं । उनका कहना है कि अविद्या अज्ञान की व्यष्टि है और माया अज्ञान की समष्टि है । वे कहते है कि ज्ञान मात्र ब्रह्म जब अविद्या के द्वारा उपहित होता है तो वह जीव कहलाता है और जब वह मायोपहित होता है तो ईश्वर कहलाता है । अतएव जीवों का भेद अविद्याकृत है । उस अविद्या के ही गुण, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हैं । उन गुणों से युक्त अविद्या ब्रह्माजी से लेकर एक तृण पर्यन्त अनेक जीव भेदों को कल्पित कर देती है । **स्वाधीन० इत्यादि**— माया का स्वभाव है कि वह स्वयं हि अनेक रूपों में विपर्तित हो जाती है । उस माया से चैतन्य जब उपहित हो जाता है तो वह सर्वज्ञता इत्यादि ऐश्वर्यों से सम्पन्न हो जाता है । अतएव मायोपहित चैतन्य सर्वज्ञता इत्यादि से युक्त होकर ईश्वर कहलाता है ।

तथान्ये० इत्यादि— योगमतानुयायी मानते हैं कि स्वतन्त्र प्रकृति के परिणाम विशेष नित्योद्रिक्त सत्त्वकत्वरूप जो विशेष है वही प्रकृष्ट सत्त्व सम्पन्न प्रकृति का अंश ही जिसका उपादान कारण है, उस प्रकृति के कारण ही ईश्वर में सम्पूर्ण ऐश्वर्य आ जाते हैं । अतएव ईश्वर का ईश्वरत्व ओपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है । इस प्रकार के ईश्वर का वे

समादर करते हैं । शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरण ही ईश्वरोपाधि है । उस उपाधि से उपहित ज्ञानमात्र स्वरूप ही ईश्वर कहलाता है । उस उपाधि के कारण ही सर्वज्ञत्व आदि ईश्वर के सारे ऐश्वर्य हैं ।

अनुपहितमपि० इत्यादि— यादवप्रकाशमतानुयायी दार्शनिक कहते हैं कि ईश्वर किसी उपाधि से उपहित नहीं होता है अपितु एक ही ब्रह्म का तीन रूपों में परिणाम होता है जड, जीव और ईश्वर । अतएव ईश्वर ब्रह्म के परिणाम विशेष हैं । **अपरिणामिनमपि० इत्यादि**— प्रतिबिम्बवादी दार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर का परिणामन नहीं होता है, अपितु जो माया से उपहित चैतन्य है वही चैतन्य अन्तःकरण रूपी दर्पण में विश्व तेजस तथा प्राज्ञ रूप से प्रतिबिम्बित होता है, वस्तुतः एक हीं चेतन हैं इस तरह माया में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य ही ईश्वर कहलाता है। **अन्येतु० इत्यादि**— विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि बद्ध, मुक्त तथा नित्य इन तीनों प्रकार के चेतनों तथा शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व तथा सत्त्व शून्य इन तीनों प्रकार के अचेतनों के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति परमात्मा के ही अधीन होती है । ईश्वर स्वाभाविक रूप से निःसीम तथा सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज इत्यादि सम्पूर्ण कल्याण गुणों के एक मात्र आश्रय हैं । इस प्रकार के पुरुष विशेष ही ईश्वर हैं ।

ईश्वर के नाम तथा रूप के विषय में परस्पर विरोधी विचार

मूल— **तथा तद्विशेषेऽपि हरिहरविरिञ्चिभास्करात्मनाऽनभिमत-तत्तन्मूर्तिपरित्यागेन च चतुस्त्रिद्व्यैकमूर्तितया विवदन्ते । मूर्तिविशेषविषयाश्च नित्यत्वानित्यत्वभौतिकत्वाभौतिकत्वस्वार्थ परार्थत्वादिवितर्काः प्रादुर्भवन्ति परिजनस्थानादिगोचराश्च, तथा प्रमाणतोऽपिआनुश्रविक एवेत्येके । आनुमानिकश्चेत्यन्ये । विशिष्टप्रत्यक्षसमधिगम्यश्चेत्यपरे ।**

तत्त्वप्रकाशिका— इसी तरह ईश्वर के नाम तथा रूप के भी विषय में दार्शनिकों का मतभेद है । **हरिहर० इत्यादि**— कुछ लोगों का कहना है कि एक ही परमात्मा चार शरीरों के कार्यवशात् धारण कर

लेते हैं । उनके वे शरीर हैं श्रीहरि, हर, ब्रह्मा और सूर्य । त्रिमूर्तिवादी सूर्य को भगवान् की मूर्ति नहीं मानते हैं । जो वादी श्रीहरि और हर में अभेद मानते हैं वे ब्रह्माजी को भी परमात्मा का शरीर नहीं मानते हैं । शैव विद्वान् केवल शिवजी को ही ईश्वर का शरीर मानते हैं । श्रीवैष्णव श्रीहरि को ही ईश्वर मानते हैं । **मूर्तिविशेष० इत्यादि**— परमात्मा की मूर्तियों के नित्यत्व, अनित्यत्व, भौतिकत्व, अभौतिकत्व, स्वार्थत्व तथा परार्थत्व के विषय में भी विभिन्न दार्शनिक विभिन्न प्रकार के तर्कों को उपन्यस्त करते हैं । **परिजन० इत्यादि**— ईश्वर के परिजन के भी विषय में भी दार्शनिकों का विवाद कुछ दार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर का कोई परिजन इत्यादि नहीं है और कुछ दार्शनिक ईश्वर को परिजन रूप से गरुड़, विष्वक्सेन, श्रीदेवी, भूदेवी इत्यादि को मानते हैं । इसी तरह परमात्मा के स्थान के विषय में भी विवाद है । कुछ लोग त्रिपाद विभूति को परमात्मा का स्थान मानते हैं और कुछ दार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर का कोई स्थान नहीं है । ईश्वर तो सर्वव्यापक हैं । इसी तरह परमात्मा के परिजनों तथा स्थानों के विषय में दार्शनिकों में उनके नित्यत्व, अनित्यत्व, प्राकृतत्व तथा अप्राकृत्व को भी लेकर विवाद है।

प्रमाणतोऽपि— ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों को भी लेकर दार्शनिकों का विवाद है । कुछ दार्शनिक ईश्वर को एकमात्र शास्त्रैक वेद्य मानते हैं । दूसरे तरह के विद्वान् ईश्वर साधक आगम (शास्त्र) तथा अनुमान दोनों प्रमाणों को मानते हैं । नैयायिक विद्वान् ईश्वर में केवल अनुमान प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं । विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर के स्वरूपादि को सुनकर तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा अनुमान करके ईश्वर का विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है ।

आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध के भी विषय में विरोधी विचार हैं

मूल— **तथाऽऽत्मपरमात्मनोः संबन्धेऽपि अनाद्यविद्योपादान-भेदास्पदोऽयमीश्वरेशितव्यतादिरूपः संबन्धः परमार्थतस्त्वेकं तत्त्वमिति**

केचित् । ब्यतिरेकाभावेऽप्यतिरिक्तो जिव इत्यन्ये । स्वतस्त्वैक्यमुपाधितो भेद इति विशिष्टस्वरूपभावेन भिन्नाभिन्नत्वमितरे । नानात्वे सत्येव अभेदो नामान्वयः अंशांशिभावलक्षणः, समवायः परतन्त्रतालक्षणः, शेषशेषित्वरूपः, स्वस्वामिभावः भृत्यस्वामिलक्षण इति च नानाविद्या वादाः ।

तत्त्वप्रकाशिका— तथाआत्म० इत्यादि— उपर्युक्त प्रकार से ही जीवात्मा और पमरात्मा में होने वाले सम्बन्ध के विषय में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी विचार हैं । **अनाद्यवि० इत्यादि—** अद्वैती विद्वानों का कहना है कि जीवात्मा तथा परमात्मा में जो नियाम्य नियामक भाव रूप सम्बन्ध है वह अनादि अविद्या के कारण है प्रतीत होने वाले ये सारे भेद अविद्या जन्य होने के कारण व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। **परमार्थतस्त्वेकं तत्त्वमः० इत्यादि—** परमार्थ रूप से तो एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही हैं । वे बिम्ब स्थानीय है । और ये प्रतीत होने वाले सारे भेद प्रतिबिम्ब स्थानीय हैं । जिस तरह प्रतीत होने वाले सारे प्रतिबिम्ब परमार्थ न होकर मिथ्या होते हैं उसी तरह प्रतीत होने वाल नियाम्य नियामक भावरूप सम्बन्ध भी पमरार्थ नहीं है वह प्रतिबिम्ब स्वरूप है ।

स्वतस्त्वैक्यम्० इत्यादि— भास्करमतावलम्बियों का कहना है कि जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूपतः अभेद ही पारमार्थिक है और भेद औपाधिक है । स्वरूप में ही भेद और अभेद दोनों नहीं माना जा सकता है अतएव भेद को औपाधिक मानना चाहिए । इस तरह भास्कर मतावलम्बी जीवात्मा और परमात्मा में भेदाभेद को मानते हैं । **नानात्वे० इत्यादि—** यादव प्रकाशमतावलम्बी कहते हैं जीवात्मा और परमात्मा में भेद के रहने पर ही अभेद होता है । इस तरह अंशांशिभावरूप सम्बन्ध को ही लेकर ईश्वर और जीव में भेद और अभेद दोनों उसी तरह से उपपन्न हो जाते हैं जिस तरह से अंश और अंशी परस्पर में एक दूसरे से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं ।

समवाय० इत्यादि— विशिष्टाद्वैती विद्वान् जीवात्मा और परमात्मा में अनेक प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार करते हैं । वे जीवात्मा और

पमरात्मा में समवाय सम्बन्ध मानते हैं। विशिष्टाद्वैती के अनुसार जीवात्मा परमात्मा के परतन्त्र हैं और परमात्मा स्वतन्त्र हैं। जीव परमात्मा का शेष हैं और परमात्मा जीवों के शेषी हैं। जीवात्मा परमात्मा का स्व है और परमात्मा स्वामी हैं। जीवात्मा परमात्मा का भृत्य है और परमात्मा जीवों के स्वामी हैं। इस तरह से जीवात्मा और परमात्मा में होने वाले सम्बन्ध के विषय में अनेक प्रकार के दार्शनिकों के वाद हैं।

इसी तरह मोक्ष के स्वरूप के भी विषय में विवाद है

मूल— **तथा परमपुरुषार्थभूते ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षेऽपि स्वरूपोच्छि त्तलक्षणः, अविद्यास्तमयलक्षणो निःशेषवैशेषिकात्मगुणोच्छेदलक्षणः, कैवल्यरूपः तद्भावसाधर्म्यलक्षणः, तद्गुणसंक्रान्तिलक्षणः, तच्छायापत्तिलक्षणः, सांसिद्धिकानन्दादिस्वरूपाविर्भावलक्षणः, तद्गुणानुभवजनितनिरतिशयसुखसमुन्मेषोपनीतात्यन्तिकतत्किङ्करत्वलक्षण इति तथातथा विवदन्ते।**

तत्त्वप्रकाशिका— उपर्युक्त प्रकार से ही परम पुरुषार्थ स्वरूप जो मोक्ष है वह ब्रह्म की प्राप्ति स्वरूप है। अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं। यही विशिष्टाद्वैतियों का सिद्धान्त है। **स्वरूपोच्छिति० इत्यादि**— चार्वाक मतानुयायी तथा माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि स्वरूप का नाश हो जाना ही मोक्ष है। **अविद्येत्यादि**— अद्वैती विद्वानों का मानना है कि अविद्या का नाश हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। **निःशेष० इत्यादि**— वैशेषिक मतावलम्बियों का कहना है कि सम्पूर्ण वैशेषिक गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। **कैक० इत्यादि**— सांख्य मतावलम्बियों का कहना है कि कैवल्य की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं। **तद्भाव० इत्यादि**— ब्रह्मत्व की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाता है। यह अद्वैतियों का कहना है। यहाँ पर तत् शब्द से ब्रह्म का परामर्श किया गया है। अर्थात् ब्रह्मभाव ही साधर्म्य है। उसी को मुक्ति कहते हैं। मुक्ति के तीन भेद हैं— ब्रह्मा का गुण जीव में आ जाना, ब्रह्म की छाया जीव में पड़ जाना तथा ब्रह्म के साधर्म्य की प्राप्ति। ये भिन्न-भिन्न

वादियों के मत हैं । **सांसिद्धिक० इत्यादि**— ब्रह्म के स्वाभाविक आनन्दादि स्वरूप का जीव में आविर्भाव हो जाना ही मुक्ति है, यह मीमांसकों का मत है । **तद्गुणानुभवजनित० इत्यादि**— विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि परमात्मा के गुणों का अनुभवजन्य निस्सीम सुख की उत्पत्ति जन्य श्रीभगवान् के अत्यन्त अत्यन्तरङ्ग किङ्करत्व की प्राप्ति ही मुक्ति कहलाती हैं । इस तरह से विभिन्न वादी मुक्ति के स्वरूप के विषय में भी परस्पर में विवाद करते हैं ।

मुक्ति के साधन के भी विषय में परस्पर में विरोधी विचार

मूल— **तत्साधनतोऽपि कर्म्मयोगलभ्यः, ज्ञानयोगलभ्यः, अन्यतरानुगृहीतान्यतरलभ्यः, उभयलभ्यः उभयपरिकर्म्मितस्वान्त-स्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्य इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— मुक्ति के साधन के भी विषय में दार्शनिकों का निम्न प्रकार के परस्पर विरोधी विचार हैं । **कर्मयोग० इत्यादि**— कुछ दार्शनिक मानते हैं कि मुक्ति के प्राप्ति कर्म योग के द्वारा होती है । **ज्ञानयोग० इत्यादि**— दूसरे दार्शनिक मुक्ति को ज्ञान योग के द्वारा प्राप्य मानते हैं । **अन्यतर० इत्यादि**— भास्कर मतावलम्बी मानते हैं कि मुक्ति की प्राप्ति कर्मयोग परिकर्मित ज्ञानयोग के द्वारा होती है । **उभय० इत्यादि**— यादव प्रकाशमतानुयायी मानते हैं कि ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है । **उभयपरिकर्मि० इत्यादि**— विशिष्टाद्वैत मतावलम्बी विद्वान् मानते हैं कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों के अनुष्ठान से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसके द्वारा की जाने वाली परमात्मा की ऐकान्तिक तथा अत्यन्तिक भक्ति-योग के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

उपर्युक्त विरोधी विचारों के कारण इस प्रकरण का प्रारम्भ उचित है

मूल— **तदेवमनवसितविशेषविमर्शकजनबिमतिदर्शनात् तत्तत्पक्षसाधनबलाबलानवगमाच्च ततस्ततः सन्दिहानाः प्रेक्षावन्तो**

न तावत्परमपुरुषार्थाय घटेरन् यावदयमात्मा परमात्मा च स्वरूपतः प्रमाणतः संबन्धतः प्राप्तिः तत्साधनतश्च न निर्णीयत इति तत्प्रतिबोधाय इदमारभ्यते ।

तत्त्वप्रकाशिका— इस प्रकार से विशेष विचाराकों की परस्पर में होने वाली विमतियों (परस्पर विरोधी विचारों) के समाप्त नहीं होने के कारण, उनको देखते हुए तथा विभिन्न पक्षों साधनों के प्रबलत्व तथा दुर्बलत्व का ज्ञान नहीं होने के कारण ज्ञानी पुरुषों के विभिन्न विषयों में सन्देह होता है फलतः वे परमपुरुषार्थ रूप मुक्ति की प्राप्ति के लिए तब तक प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं जब तक कि आत्मा और परमात्मा के स्वरूप, प्रमाण, संबन्ध तथा मुक्ति की प्राप्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति के साधन के विषय में निर्णय न हो जाय । अतएव जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप इन दोनों में प्रमाण, जीवात्मा और परमात्मा में होने वाले सम्बन्ध मुक्ति के स्वरूप तथा मुक्ति की प्राप्ति के साधन आदि का निर्णय करने के लिए इस प्रकरण ग्रन्थ को प्रारम्भ किया जाता है ।

इन सबों का निर्णय करने के लिए इस नवीन ग्रन्थ के निर्माण के औचित्य का प्रतिपादन

मूल— **यद्यपि भगवता वादरायणेन इदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा भाष्यकृता, विस्तृतानि च तानि गम्भीरन्यायसागरभाषिणा भगवता । श्रीवत्साङ्क मिश्रेणापि तथापि आचार्य्य-टङ्क-भर्तृ प्रपञ्चभर्तृमित्त्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शङ्कर-श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविध-निबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये च युक्तः प्रकरणप्रक्रमः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यहाँ पर कहा जा सकता है कि आत्मा और परमात्मा के विषय में विद्यमान इन परस्पर विरोधी विचारों का निरसन करने के लिए पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत प्रबन्धों का ही प्रवर्तन करना चाहिए।

इस नवीन प्रबन्ध का प्रणयन करना अनावश्यक है । तो इस शङ्का का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

यद्यपि भगवता० इत्यादि— यद्यपि इसी कार्य को करने के लिए भगवान् वादरायण ने ब्रह्ममीमांसा सूत्रों का निर्माण किया है और उन ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या बहुत कम शब्दों में अत्यधिक अर्थों को प्रकाशित करने वाले द्रमिड भाष्य का श्रीदमिडाचार्य ने की भी है । उस भाष्य की विस्तृत व्याख्या अर्थ गाम्भीर्य पूर्ण न्याय समूह को कहने वाले श्रीवत्साङ्क मिश्र ने की भी है । **तथापि० इत्यादि—** फिर भी आचार्य टङ्क, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीवत्साङ्क तथा भास्कराचार्य आदि के द्वारा लिखे गये अनेक अच्छे तथा बुरे निबन्धों में श्रद्ध होने के कारण जिनकी बुद्धि विप्रलुब्ध (भ्रमित० हो गयी है, वे प्रेक्षावान् पुरुष आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप आदि को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं तथा वे इन सबों के स्वरूप को यथार्थ के विपरीत ही समझ गये हैं। अतएव इस नवीन प्रकरण प्रबन्ध का प्रणयन उचित ही हैं ।

इस तरह इस आत्मसिद्धि नामक प्रकरण ग्रन्थ का उपोद्घात भाग सम्पूर्ण हुआ ।

आत्मा के स्वरूप का निरूपण

मूल— **देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योन्योऽनन्यसाधनः ।**
नित्योव्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नःस्वतः सुखी ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका— इस प्रकरण ग्रन्थ के प्रारम्भ में आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं **देह० इत्यादि—** आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि ये भिन्न है । यहाँ पर बुद्धि शब्द से विषयों के प्रकाशक धर्मभूत ज्ञान को कहा गया है । आत्मा अनन्य साधन स्वयम् प्रकाश है । वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है । वह नित्य है अर्थात् उसका कभी भी नाश नहीं होता है । वह सम्पूर्ण शरीर में अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा व्यापक है । यह आत्मा एक नहीं अपितु प्रत्येक शरीरों में अलग-अलग है ।

अतएव आत्मा का नानात्व ही प्रामाणिक है । स्वतः सुखी कहने का अभिप्राय है कि आत्मा स्वरूपतः आनन्द स्वरूप है ।

इस कारिका के माध्यम से ग्रन्थकार ने आत्मा के स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ दूसरे मतों का खण्डन भी किया है । देह से भिन्न आत्मा को बतलाकर उन्होंने देहात्मवादी चार्वाकों के मत का खण्उन किया है । आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न बतलाकर उन्होंने इन्द्रियात्मवादी चार्वाकों के मत का खण्डन किया है । मन से भिन्न आत्मा को बतलाकर उन्होंने मन आत्मवादी चार्वाकों के मत का खण्डन किया है । प्राण से भिन्न आत्मा को बतलाकर उन्होंने प्राणात्मवादी चार्वाकों के मत का खण्डन किया है । ज्ञान से भिन्न आत्मा को बतलाकर ज्ञानात्मवादी बौद्धों तथा अद्वैती विद्वानों के मत का खण्डन किया है । आत्मा को नित्य बतलाकर उन्होंने क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मत का खण्डन किया है ।

देहात्मवाद का उपपादन

मूल— **ननु देहमेवात्मानं प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यामहे अहं जानामीति ज्ञाता ह्यात्मा अहमिति चकास्ति, देहश्चाहङ्कारगोचरः स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति दर्शनात्, देहस्य हि स्थौल्यादियोगः अतस्तत्समानाधिकरणतया अयमहङ्कारःशरीरालम्बन इत्यवश्याश्रयणीयम्, इतरथा सकललौकिकपरीक्षकव्यवहारोपरोधश्च, न चायं लाक्षणिको व्यवहारः मुख्यवृत्तिभूमेः पृथगसिद्धत्वात्, न चानेकावयवयोगिशरीरालम्बनत्वे ज्ञात्रवभासस्य तदीयरूपावयवाद्यवभासेनान्वयिना भवितव्यं, येन तदन्वयाभावाज्ञ्जानामीति प्रत्ययः शरीरातिरिक्तमवगमयेत् वाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष एव तथा नियमदर्शनात् स्वान्तस्यान्तरगुणाधारतावभास एव सामर्थ्यनियमात् अनवधृतावयवविशेषस्याप्यनेकावयवयोगिनो महिमगुणशालिनस्त्र्यणुकस्य प्रथमप्रत्यक्षाभ्युपगमात्, वायोश्च त्वगिन्द्रियेण स्पर्शाधिष्ठानमात्रतयोपलम्भदर्शनाच्च, देहव्यतिरिक्तात्मगोचरत्वेऽपि यथा तदीयगुणान्तरा-**

ग्रहणं तथेहापि यथा तत्र वाह्यप्रत्यक्षगोचर एव संख्यापरिमाणा-दिग्रहणनियमः ।

तत्वप्रकाशिका— ननु० इत्यादि— देहात्मवादी चार्वाकों का कहना है कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है । उसका अतिक्रमण करने पर तो किसी भी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है । उस प्रमाण के द्वारा देह की ही आत्मा रूप से प्रतीति होती है । **अहं जानामीति० इत्यादि—** मैं जानता हूँ इस तरह से होने वाली प्रतीति में ज्ञाता आत्मा की मैं, इस रूप से प्रतीति होती है । **देहश्चेत्यादि—** 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने वाला देह ही है । क्योंकि मैं स्थूल हूँ मैं कृश हूँ इत्यादि प्रतीति में मैं इस तरह से प्रतीत होने वाला स्थूल तथा कृश होने वाला देह ही आत्मा प्रतीत होता है । **देहस्य० इत्यादि—** स्थूल और कृश होने वाला देह ही है । अतएव उसके ही अधिकरण में पढ़ा जाने वाला जो अहम् शब्द है, वह देह को ही अपना विषय बनाता है । अतएव 'मैं' 'मैं' इस शब्द से कहा जाने वाला देह ही आत्मा है इस बात को अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।

इतरथा इत्यादि— अर्थात् यदि प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले देह को आत्मा नहीं माना जाय तो महान् दोष होगा । क्योंकि पण्डितों तथा पामरों के जो भी व्यवहार होते हैं वे प्रत्यक्ष मूलक ही होते हैं । प्रत्यक्ष मूलक व्यवहार में ही अर्थ क्रियाकारित्व मुख्य रूप से होता है । प्रत्यक्ष का अतिक्रमण करने पर उन सभी लौकिक परीक्षकों के व्यवहार बाधित होंगे । **न चायम्० इत्यादि—** यदि देहातिरिक्तात्मवादी यह कहें कि जानने वाला मैं स्थूल हूँ इस प्रकार का जो पामरों का व्यवहार होता है वह तो भ्रमजन्य है और पण्डितों द्वारा किया जाने वाला इस तरह का व्यवहार लाक्षणिक होता है । तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि **मुख्यवृतिभूमेः इत्यादि—** देह को छोड़कर आत्मा शब्द का कोई दूसरा मुख्यार्थ है ही नहीं । लक्षणा तो तब न होती है जब कि मुख्यार्थ का बाध हो । यहाँ कोई दूसरा अहं शब्द का मुख्यार्थ जब नहीं है तो लक्षणा होगी ही नहीं । लक्षणा के अभाव में लाक्षणिक प्रयोग माना ही नहीं जा सकता है ।

न चा नेकावयब योगि० इत्यादि— यदि देहातिरिक्तात्मवादी यह कहें कि यदि अनेक अवयवों वाले शरीर को ही अहं शब्द वाच्य आत्मा माना जाय तो जिस यम मन से सावधान तथा आत्मा का चिन्तन करते समय जब ज्ञाता आत्मा की प्रतीति होती हे उस समय उसके रूप तथा अवयवों की भी नियमत: प्रतीति होनी चाहिए । चूकि आत्मा के मानस प्रतयक्ष के समय उसके अवयवों तथा रूप की प्रतीति नहीं होती है, अतएव **मैं जानता हूँ** इस प्रकार की होने वाली प्रतीति देह से भिन्न को ही आत्मा बतलाती है तो देह व्यतिरिक्तात्मवादी ऐसा नहीं कह सकते हैं। **बाह्येन्द्रिय० इत्यादि**— क्योंकि ब्राह्येन्द्रियों के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष का नियम है कि अवयवी तथा रूपी द्रव्य के प्रत्यक्ष में उस द्रव्य के अवयवों और रूप का भी प्रत्यक्ष होता है । **स्वान्तस्य० इत्यादि**— मन तो आभ्यन्तरेन्द्रिय है उसके द्वारा तो आभ्यन्तरगुणों के आधार रूप सेही धर्मी की प्रतीति है । अभ्यन्तरगुण तो ज्ञान, सुख, दु:ख इत्यादि उनके ही आधार रूप से धर्मी आत्मा की प्रतीति मानस प्रत्यक्ष से हो सकती है ।

अनवधृत० इत्यादि— अवयवी विषयक होने वाले प्रत्यक्ष में अवयवों की प्रतीति को नियमत: होना चाहिए इस नियम में व्यभिचार का प्रदर्शन करते हुए देहात्मवादी चार्वाक कहते हैं कि त्र्यणुक में अनेक अवयव होते हैं । क्योंकि दो अणु मिलकर एक द्वयगुण को बनाते हैं । तीन द्वयगुणाकं से एक त्रसुरेणु बनता है । अतएव त्रसरेणु के अवयवों का कोई निश्चय नहीं है । वह अनेक अवयवों वाला है । किञ्च वह महत्त्व गुण सम्पन्न भी है । किन्तु माना जाता है कि सर्वप्रथम त्र्यणुक का ही प्रत्यक्ष होता है, उसके अवयव भूत अणुओं तथा द्वयणुकों का प्रत्यक्ष नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि अवयवी के प्रत्यक्ष में उसके अवयवों का प्रत्यक्ष हो यह कोई नियम नहीं है ।

अवयवी के योग्य अवयवों का ही प्रत्यक्ष होता है । त्रसरेणु के अवयव प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होते हैं अतएव उन सबों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, शरीर के अवयव तो प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं अतएव उनका

तो प्रत्यक्ष होना ही चाहिये तो देहात्मवादी कहता है— **वायोश्च० इत्यादि**— वायु का झोंका जो शरीर में लगता है तो त्वगिन्द्रिय के द्वारा उसके स्पर्शाधिष्ठान रूप से ही प्रतीति होती है, वायु के अवयवों का साक्षात्कार नहीं होता है, अतएव उपर्युक्त नियम में अनेकान्तिकत्व दोष है।

देहव्यतिरिक्त० इत्यादि— देह से भिन्न आत्मा को मानने पर भी मानस प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे उस आत्मा के आन्तर गुणों की प्रतीति नहीं होती है उसी तरह से शरीरात्मा के भी ग्रहण में उसके अवयवों तथा रूप की प्रतीति नहीं होती है । **यथातत्र० इत्यादि**— जिस तरह देहातिरिक्तात्मवाद में यह माना जाता है कि संख्या तथा परिमाण आदि का ग्रहण वाह्य प्रत्यक्ष से ही होता है, उसी तरह देहात्मवाद में भी यह माना जाता है कि अवयवी के अवयवों का ग्रहण बाह्य प्रत्यक्ष के ही द्रारा होता है । मानस प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता हैं ।

देह का ही गुणज्ञान है, देहात्मवादी द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन

मूल— **एवं च प्रत्येकं परमाणुषु चैतन्यानुपलब्धेः तदभ्युपगमेच एकशरीर एवानेकसहस्त्रचेतनापातात्, अकारणगुणपूर्वकस्य कार्यद्रव्यवर्तिनो विशेषगुणस्यासम्भवान्न शरीरविशेषगुणश्चैतन्यम् अयावच्छरीरभावित्वाच्च इत्यादयोऽनुमानभेदाः प्रतयक्षबाधित-विषयतया न पराक्रमितुं क्षमन्ते । विशेषगुणत्वे च प्रतिषिध्यमाने देहगुणत्वाभ्युपगमप्रसङ्गश्च ।**

तत्त्वप्रकाशिका— एवम्० इत्यादि— यदि देहात्मवादी शरीरारम्भक प्रत्येक परमाणुओं में भी ज्ञान नामक गुण को स्वीकार करें तो एक ही शरीर में अनेक हजार चेतनों के सद्भाव का प्रसङ्ग होगा । **अकारणगुण पूर्वकस्य० इत्यादि**— कार्य द्रव्य में जो विशेष गुण होता है वह कारणगुण पूर्वक ही होता है । ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है अतएव वह अकारण गुण पूर्वक नहीं हो सकता । शरीराम्भक प्रत्येक परमाणुओं में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है । फलतः वह शरीर का गुण नहीं हो सकता है। **अपावच्छरीरभावि० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि ज्ञान शरीर का

गुण इसलिए भी नहीं हो सकता है कि जो कार्यद्रव्यवर्ती विशेष गुण होता है वह तब तक उस कार्यद्रव्य में बना रहता है। जब तक कि कार्यद्रव्य बना रहता है। किन्तु देखा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर पड़ा रहता है और उसका ज्ञान समाप्त हो जाता है। फलतः शरीर का गुण ज्ञान नहीं हो सकता है। देह व्यतिरिक्त आत्मवादियों को निम्नाङ्कित प्रकार के अनुमान अभिप्रेत हैं—

१. ज्ञानं शरीर विशेष गुणो न, अकारण गुणपूर्वकत्वात्।

२. ज्ञानं शरीरगुणों न, अयावद् द्रव्य भावित्वात्।

तो देह व्यतिरिक्तात्मवादियों के उपर्युक्त अनुमानों का खण्डन करते हुए देहात्मवादी कहते हैं **इत्यादयः इत्यादि**— देह व्यतिरिक्तात्मवादियों के उपर्युक्त अनुमान प्रत्यक्ष से ही बाधित हो जाते हैं, क्योंकि देखा जाता है कि देह का ही गुण ज्ञान है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित होने के कारण वे अनुमान देह के ज्ञान गुणकत्व का खण्डन नहीं कर सकते हैं। देखा जाता है कि संयोग इत्यादि गुण अकारण गुण पूर्वक होते हैं तथा अपावद द्रव्यभावी भी नहीं होते हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कार्यद्रव्य में पाये जाने वाले गुण कारणगुण पूर्वक ही होते हैं। इस पर यदि देह व्यतिरिक्तात्मवादी यह कहें कि संयोग आदि जो शरीर के गुण हैं वे सामान्य गुण हैं। ज्ञान आत्मा का विशेष गुण हैं। विशेष गुण ही कारण गुण पूर्वक होता है। तो इसका उत्तर देते हुए देहात्मवादी कहता है— **विशेषगुणत्वे० इत्यादि**— ज्ञान शरीर का विशेष गुण नहीं हो सकता है तो मेरा कहना यह है कि ज्ञान शरीर का विशेष गुण भले ही न हो लेकिव वह देह का गुण तो है ही।

देहात्मवादी द्वारा चैतन्य के शरीर के विशेषगुणत्व का प्रतिपादन तथा कार्य गुणों के कारण गुण पूर्वकत्व का खण्डन

मूल— **अपि च इच्छानुविधायिक्रियत्वे इन्द्रियत्वादयः शरीरे दृश्यमानाः संप्रतिपन्नाचैतन्याद्घटादेरत्यन्तव्यावर्तमानाःशरीरमेव चेतनमवगमयन्ति क्रमुकफलताम्बूलदयावयवादिषु प्रत्येकम-**

विद्यमानस्यापि रागस्येव अवयविनि संयोगविशेषाद् देहारम्भक-परमाणुसंश्लेषविशेषादेव देहे चैतन्यस्याप्याविर्भावो नानुपपन्नः, चर्वणजनितहुतवहसंयोगसंपादितपाटलिमभिः परमाणुभिद्व्र्यणुकादिक्रमेण कारणपूर्व एव तत्र रागोदय इति चेन्न, प्रमाणाभावात्, अपि च सितासितादितन्तुषु प्रत्येकमविद्यमानमपि चित्ररूपं विशेषगुणं तदारब्धे पटे स्फुटमुपलभमानाः कथं कारणगुणपूर्वकत्व-मुक्तगुणस्याध्यवस्येम ।

तत्त्वप्रकाशिका— अपिच० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि यह देखा जाता है कि शरीर की जैसी इच्छा होती है, वैसी ही क्रियाओं को वह करता है, तथा शरीर ही इन्द्रियों का आश्रय है अतएव, इच्छानुविधायिक्रियत्व तथा इन्द्रियाश्रयत्व इन दो गुणों के कारण शरीर अचेतन घट आदि से अत्यन्त भिन्न सिद्ध होता है । इन गुणों के कारण सिद्ध होता है कि शरीर ही चेतन आत्मा है । यहँ पर यह अनुमान अभिप्रेत हैं ।

शरीरं चेतनः, इच्छानुविधायिक्रियत्वात्; इन्द्रियाश्रयत्वाच्च । चन्नैवं तन्नेवं यथा घटादयः ।

क्रमुकताम्बूल० इत्यादि— किञ्च सुपारी, पान का पत्ता, खैर तथा चूना इत्यादि डालकर निर्मित पान की बीटिका (बीड़ा) के अवयवों में लालिमा नहीं होती है; किन्तु अवयव भूत द्रव्यों के संयोग विशेष से पान की बीटिका में विशेष गुण राग उत्पन्न हो जाता है, इसी तरह शरीराम्भक पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं के संयोग विशेष से शरीर में ज्ञान नामक विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है । अतएव कार्य द्रव्य में पाये जाने वाले विशेष गुण कारण गुण पूर्वक होते हैं । इस नियम का व्यभिचार पान की वीटिका में देखा जाता है । अतएव वह ऐकान्तिक नियम नहीं अपितु अनैकान्तिक नियम है ।

चर्वणहुतवह० इत्यादि— यदि सिद्धान्ती यह कहें कि पान की बीटिका में भी रक्तिम गुणकारण गुण पूर्वक ही होता है । पान की

बीटिका को चबाने से एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है । उसके संयोग से पहले बीटिका के परमाणुओं में लालिमा उत्पन्न होती है उसके बाद द्वयगुण आदि क्रम से लालिमा बीटिका में उत्पन्न होती है । अतएव पान की बीटिका में उत्पन्न होने वाली लालिमा के कारण गुण पूर्वक ही होती है । तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि पान की वीटिका में लालिमा के कारण गुण पूर्वकत्व में कोई प्रमाण नहीं है ।

अपिच० इत्यादि— किञ्च उजले काले आदि कई रङ्गों वाले तन्तुओं से निर्मित चित्ररङ्ग वाले वस्त्र के कारणभूत तन्तुओं में चित्ररङ्ग नहीं रहता है, किन्तु उनके संयोग विशेष के कारण चित्र रङ्गवाले वस्त्र में चित्ररङ्ग उत्पन्न हो जाता है । फलतः चित्र वस्त्र का चित्ररङ्ग भी अकारण गुण पूर्वक ही सिद्ध होता है । अतएव कार्य द्रव्य के गुणों को कारण गुण पूर्वक कैसे माना जा सकता है ?।

मूल— **न चावयवरूपातिरेकेणावयविनि चित्रं नाम रूपांतरं नास्त्येव अवयविनोऽचाक्षुषत्वप्रसङ्गादवयवरूपैरेव तदुपपादने सर्वमेव कार्यद्रव्यं नीरूपमापद्येत अनुभवविरोधः, सर्वव्यवहारविरोधश्च, विशेषगुणश्च काठिन्यं करकाद्रव्यवर्ति अकारणगुणपूर्वकं दृश्यत इत्यनैकान्तश्च । न च संयोगविशेषः काठिन्यं तस्य द्विष्ठत्वात् अस्य तु करकाद्र्व्यैकवर्त्तित्वात् स्पर्शविशेषतया पदार्थबिद्धि-रभ्युपगमाच्च ।**

तत्त्वप्रकाशिका— नचेत्यादि— यदि सिद्धान्ती यह कहें कि चित्र वस्त्ररूपी अवयवी में उसके अवयव भूत तन्तुओं का ही रूप विद्यमान रहता है । उसके अतिरिक्त कोई दूसरा रूप नहीं रहता है, अतएव वहाँ भी कार्यद्रव्य में विद्यमान चित्ररूप कारण गुण पूर्वक ही है तो ऐसा वे नहीं कह सकते हैं । यदि चित्र रूप को वस्त्र के अवयव भूत तन्तुओं का ही रूप माना जाय तो फिर कार्यद्रव्य चित्र द्रव्य के अचाक्षुषत्व का प्रसङ्ग होगा । किन्तु चित्र वस्त्र काले प्रत्यक्ष होता ही है, अतएव चित्र द्रव्य के गुण को कारण गुण पूर्वक नहीं माना जा सकता है ।

अवयवरूपै० इत्यादि— यदि अवयवी द्रव्य के रूप को अवयवों रूप से ही उत्पन्न माना जाय और उसमें उसी के कारण चाक्षुषत्व का प्रतिपादन किया जाय तब तो कार्य द्रव्यों के नीरूपत्व का प्रसङ्ग होगा। किन्तु इस तरह के प्रतिपादन का अनुभव से विरोध होता है । क्योंकि सभी कार्य द्रव्य रूपवान् ही प्रतीत होते हैं । किञ्च उपर्युक्त प्रतिपादन का व्यवहार से भी विरोध होता है । क्योंकि उनका चित्र वस्त्र इत्यादि रूप से ही व्यवहार होता है ।

विशेषगुणश्च० इत्यादि— यह भी देखा जाता है कि जल से निर्मित कारक द्रव्य (ओलों) में तो काठिन्य नामक विशेष गुण होता है, किन्तु ओलों के कारण भूत जल में काठिन्य नामक गुण नहीं होता है। फलतः ओलों में पाया जाने वाला काठिन्य नामक विशेष गुण अकारण गुण पूर्वक ही होता है । फलतः उपर्युक्त नियम अनैकान्तिक सिद्ध होता है।

न च संयोग विशेष० इत्यादि— कि यदि कोई कहे कि अव्यवों के संयोग को ही काठिन्य कहते है, तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि संयोग दो में होता है । किन्तु यह काठिन्य तो केवल करक द्रव्य में ही रहता है । उसके अवयवों में नहीं रहता है । करक के ही काठिन्य की प्रतीति भी होती है और उसका व्यवहार भी होता है तथा पदार्थ वेत्ता पुरुष करक को छूकर भी कहते हैं कि करक कठिन है । अतएव करक में विद्यमान काठिन्य को कारण गुण पूर्वक नहीं माना जा सकता है ।

देहात्मवादी द्वारा देह के कर्तव्य और कर्मत्व को लेकर होने वाली शङ्का का समाधान

मूल— **दृश्यस्य देहस्य कथं द्रष्टृत्वमिति चेत् को विरोधः? अयमेव यदेकस्यां क्रियायामेकस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं च न घटत इति यद्येवं व्यतिरेकवादे वा कथमात्मन्यहमिति प्रत्ययः रूपभेदादिति चेत् समानमिदं देहात्मवादेऽपि । अपि च परसमवायक्रियाफलभागि कर्म स्वसमवेतज्ञानफलभागिनः शरीरस्य कर्मत्वमेव नास्तीति न पर्य्यनुयोगावकाशः, अतो देह एवात्मेति वार्हस्पत्याः । तथा च**

पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवदिति सूत्रम् ।

तत्त्वप्रकाशिका— दृश्यस्य० इत्यादि— यदि सिद्धान्ती कहें कि देह तो दृश्य है वह द्रष्टा आत्मा कैसे हो सकता है ? इस पर देहात्मवादी कहते हैं इसमें कौन सा विरोध है ? यदि सिद्धिान्ती कहें **अयमेव० इत्यादि—** यही विरोध है कि एक ही क्रिया में एक ही वस्तु कर्ता और कर्म नहीं हो सकती है । क्योंकि कर्ता को अपनी क्रिया के द्वारा जिसको प्राप्त करना इष्टतम होता है, उसे कर्म कहते हैं । तथा जो क्रिया के करने में स्वतन्त्र होता है उसे कर्ता कहते हैं । कर्म साध्य रूप होता है और कर्ता क्रिया का आश्रय होने के कारण सिद्ध होता है । सिद्ध और साध्य दोनों एक नहीं हो सकते हैं । फलत: कर्मत्व कर्तृत्व में विरोध है। **यद्येवम्० इत्यादि—** यदि ऐसी बात है तो सिद्धान्ती के मत में कर्ता आत्मा अहन्तव बुद्धि का विषय कैसे होता है ? **रूपभेदादिति० इत्यादि—** यदि सिद्धान्ती यह कहें कि भिन्न-भिन्न रूप से आत्मा में कर्तृत्व तथा अहंबुद्धि विषयत्व रूप कर्मत्व स्वीकार किया जाता है । आत्मा में मन: संयोगवत्त्व रूप से कर्तृत्व तथा अहत्व रूप से कर्मत्व आत्मा में उपपन्न हो जाता है । इस पर देहात्मवादी कहता है **समानमिदम्० इत्यादि** हमारे भी मत में रूपभेद के कारण एक ही देह में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों उपपन्न हो जाते हैं । एक ही देह ज्ञान क्रियाश्रयत्व के कारण कर्ता है । और देह बुद्धि विष्यत्व के कारण कर्म हैं ।

अपिच— दूसरी बात यह है कि दूसरे में समवाय समवाय सम्बन्ध से होने वाली क्रिया के फल का जो आश्रय है उसे कर्म कहते हैं तथा अपने में समवाय सम्बन्ध से होने वाली क्रिया का आश्रय होता है उसे कर्ता कहते हैं । शरीर तो अपने में ही समवाय सम्बन्ध से होने वाली ज्ञान क्रिया का आश्रय है अतएव वह कर्म हो ही नहीं सकता है । वह तो कर्ता है । अतएव दृश्यत्व और द्रष्टृव को लेकर होने वाले प्रश्नों के लिए कोई अवसर ही नहीं है । इसीलिए बृहस्पति के शिष्य देह को ही आत्मा मानते हैं । बृहस्पति का निम्नाङ्कित सूत्र भी है— **पृथिव्यापस्तेजो**

वायुरितितत्त्वानि० इत्यादि— पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चार ही तत्त्व हैं । उन सबों के विलक्षण संयोग से उसी प्रकार शरीर में ज्ञान नामक गुण उत्पन्न होता है जिस तरह मदिरा रम्भक परमाणुओं के विलक्षण संयोग से मदिरा में मादकता की उत्पत्ति हो जाती है ।

सिद्धान्ती द्वारा देहात्मवाद का खण्डन

मूल— **अत्र प्रतिविधिर्देहो नात्मा प्रतयक्षवादतः ।**
न खल्वहमिदंकारावेकास्यैकत्र वस्तुनि ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका— देहात्मवादी के द्वारा उपस्थापित देह के आत्मत्व का बाध का प्रमाण नीचे उपन्यस्त किया जा रहा है । देह आत्मा नहीं हो सकता है क्योंकि देह के आत्मत्व का बाध प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है । जिस तरह से घट, पट आदि अनात्मा पदार्थों को इदम् शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है उसी तरह से देह का भी इदम् शब्द से निर्देश किया जाता है और आत्मा का निर्देश सभी विचारक मैं मैं इस शब्द से करते हैं एक ही देह को इदम् और अहम् इन दोनों शब्दों से कैसे अभिहित किया जा सकता है ? अतएव ज्ञात होता है कि अहम् 'मैं' शब्द से अभिहित किया जाने वाला आत्मा इदम् शब्द वाच्य नहीं हो सकता है ।

शरीर अहं शब्द वाच्य नहीं हो सकता है

मूल— **अहं जानामीति प्रत्यग्वृत्तिरहमिति मतिः इदंकार-गोचराच्छरीरान्निष्कृष्टमेव स्वविषयमुपस्थापयति घटादेरिव पराग्वृत्तिरिदमिति शरीरविषयिणी च शेमुषी स्वविषमहंकारगोचराद् विवेचयति यथाऽयं घट इति, इतरथा स्वपरविभागानुपपत्तेः । न चैकस्मिन्नेव रूपभेदादेवं प्रतीतिः, न हि देवदत्तो दण्डिनमात्मानं दण्ड्यमिति प्रत्येति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— **अहम्० इत्यादि**— मैं जानता हूँ; इस प्रकार से होने वाले ज्ञान में सौ शब्द प्रत्यगर्थ आत्मा को अपना विषय बनाता

है और उससे प्रत्यगर्थ (स्वयं प्रकाश) आत्म विषयिणी ही बुद्धि होती है। अतएव अहम् शब्द इदं शब्द से कहे जाने वाले शरीर से निष्कृष्ट (विलक्षण) रूप से ही अपने विषयभूत उसी तह से जिस तरह से इदं शब्द से कहे जाने वाले घट आदि से भिन्न ही आत्मा को अहम् शब्द अपना विषय बनाता है । **परागवृत्ति० इत्यादि**— दूसरे के लिए प्रकाशित होने अपने, अचेतन घटादि को ही अपना विषय बनाने वाला इदम् शब्द वाच्य शरीर विषयिणी बुद्धि अपने विषय को मैं शब्द से कहे जाने वाले आत्मा से भिन्न शरीर को ही बतलाता है । जिस तरह से अपंघटः इस वाक्य में इदम् शब्द से कहे जाने वाले घट को आत्मा से भिन्न बतलाता है, उसी तरह से **अयं देहः** इस वाक्य में इदं शब्द इदम् शब्द से कहे जाने वाले शरीर को **'मैं' 'मैं'** इस शब्द से कहे जाने वाले आत्मा से भिन्न ही बतलाता है । **इतरथा इत्यादि**— यदि इदं प्रतीति तथा अहम् प्रतीति के विषयों को एक दूसरे से भिन्न नहीं माना जाय तो फिर स्व और पर का विभाग ही नहीं हो पायेगा । मैं इस रूप से प्रतीत होने वाला आत्मा ही प्रत्यगर्थ है । अर्थात् वह अपने लिए ही प्रकाशित होता है और इदम् इस रूप से प्रतीत होने वाला पराक् शरीर अपने लिए नहीं प्रकाशित होता है अपितु वह अपने आश्रय आत्मा के लिए प्रकाशित होता है । **नचैकस्मिन्नेव० इत्यादि**— यहाँ पर देहात्मवादी यह नहीं कह सकते हैं कि रूप भेद के कारण एक ही शरीर में अहम् और इदम् इन दोनों शब्दों की वाच्यता की प्रतीति होती है । **नहिदेवदत्त० इत्यादि**— क्योंकि यह देखा जाता है कि दण्डी देवदत्त अपने को अयं दण्डी इस रूप से नहीं जानता है, अपितु वह अपने को अहं दण्डी इस रूप से ही जानता है ।

मूल— **अन्यच्च नियमितवहिरिन्द्रियवृत्तेरवहितमनसोऽहमिति स्वात्मानमवयवतः करचरणोदराद्यवयवा न भासन्ते स्थवीयसि चावयविनि शरीरे अहमिति मतिगाचरे अभ्युपगम्यमाने अवश्य-मवयवप्रतिभासेनाप्यन्वयिना भाव्यं, न ह्यस्ति संभवः अवयवो स्थवीयान् प्रचकास्ति, अवयवास्तु न केचन प्रथन्ते इति । यत्तु**

त्र्यणुके व्यभिचार इति तन्न वातायनविवरदृश्यनिर्भागत्रसरेणु-व्यतिरेकेण परमाणुस्वीकारे कारणाभावात्, प्रत्यक्षयोग्यावयास्य तथा प्रतिभासनियमाद्वा न व्यभिचारः । न चावयविनि वहिरिन्द्रि-यग्राह्य एवायं नियम इत्युत्प्रेक्ष्यं प्रमाणाभावात्, अन्तः करणस्य च केवलस्यावयविनिवृत्त्यसंभवाच्च, वायोस्तु रूपाद्यभावात् केवलस्पर्शाधारतयोपलम्भः तत्रापि तादृसानेकावयवप्रतिभासोऽस्त्येव स्पृश्यमान इव घटादाविति न तेन व्यभिचारः ।

तत्त्वप्रकाशिका— अन्यच्च० इत्यादि— दूसरी बात यह कि जो साधक अपनी बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति को नियन्त्रित करके तथा सावधान मना होकर 'मैं' 'मैं' इस रूप से मन से आत्मा का साक्षात्कार करता है उसको आत्मा प्रतीति के समय हाथ तथा पेट आदि अवयवों की प्रतीति नहीं होती है । यदि यह स्थूल तथा अवयवी शरीर ही आत्मा होता तो उसका मानस साक्षात्कार करते समय उसके अवयवों की प्रतीति अवश्य होती । **नहयस्ति संभव० इत्यादि—** यह सम्भव नहीं है कि अवयवी तथा स्थूल आत्मा प्रतीत हो और उसके अवयवों की प्रतीति न हो । अतएव यही मानना होगा कि यह अवयवी शरीर आत्मा नहीं है ।

यत्तुत्र्यणुके० इत्यादि— देहात्मवादी ने यह जो कहा है कि देखा जाता है कि सर्वप्रथम महत्त्वगुण युक्त त्रसरेणु का ही प्रत्यक्ष होता है, उसके अवयव भूतद्वयणुकों आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि अवयवी के प्रत्यक्ष के समय उसके अवयवों के प्रत्यक्ष का कोई नियम नहीं है । **तन्न० इत्यादि—** तो देहात्मवादी का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वातायन (खिड़की) के छिद्र में दिखायी देने वाले त्रसरेणु से भिन्न कोई परमाणु नामक पदार्थ है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि परमाणु नामक भी पदार्थ यदि होता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती, किन्तु परमाणु की उपलब्धि किसी को भी नहीं होती है; अतएव सिद्ध होता है कि परमाणु नामक पदार्थ होता ही नहीं है । **प्रत्यक्षयोग्य० इत्यादि—** अथवा अवयवी के प्रत्यक्ष में उसके उन्हीं अवयवों का प्रत्यक्ष होता है जो अवयव प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं ।

त्रसरेणु के अवयव जो द्वयणुक इत्यादि हैं, वे प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं, अतएव उपर्युक्त नियम में किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं हैं । **न चावयपिनि० इत्यादि**— देहात्मवादी ने यह जो कहा है कि जब अवयवी की प्रतीति बाह्येन्द्रियों से होती है, तब ही अवयवी के ग्रहण के समय में उसके अवयवों का भी ग्रहण होता है । किन्तु आत्मा का जब मानस प्रत्यक्ष होता है तो उसके अवयवों की प्रतीति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि मन तो आभ्यन्तरेन्द्रिय है, वह बहिरिन्द्रिय नहीं है तो देहात्मवादी के इस कथन में कोई भी प्रमाण नहीं है । **अन्तःकरणस्य० इत्यादि**— केवल अन्तःकरण के द्वारा अवयवी द्रव्य का ग्रहण होता ही नहीं है । यदि आत्मा अवयवी द्रव्य होता तो उसका मन से ग्रहण होता ही नहीं है । चूकि मन से आत्मा का साक्षात्कार होता है । इससे पता चलता है कि आत्म अवयवी नहीं है । शरीर तो अवयवी होने के कारण ही निरवयव आत्मा से भिन्न सिद्ध होता है ।

वायोस्तु० इत्यादि— देहात्मवादी ने यह जो कहा है कि वायु का केवल स्पर्शाधार रूप से त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, उसके अवयवों का प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसीसे उपर्युक्त नियम में व्यभिचार सिद्ध होता है । तो देहात्मवादी का यह भी कथन ठीक नहीं है । वायु के अवयवों का प्रत्यक्ष न होकर उसका केवल त्वगिन्द्रिय के द्वारा स्पर्शाधार रूप से इसलिए प्रत्यक्ष होता है कि वायु रूप रहित होता है । **तत्रापि इत्यादि**— किञ्च वायु के स्पर्श में उसके काम या अधिक अवयवों की प्रतीति तो होती ही है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह स्पर्श किए जाने वाले घटादि के न्यूनाधिक अवयवों की प्रतीति होती है । अतएव उपर्युक्त नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है ।

स्थूलोहम् इत्यादि प्रतीतियों में देह के लिए अहं शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है

मूल— **यत्तु स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति शरीरे अहंप्रत्ययो दृश्यते इति तदपि पर्यालोचनीयं तत्रापि अन्तःशरीरमहङ्कारमेव किमपि**

वस्त्वहङ्कारो गोचरयति न पुनश्चाक्षुष इव देहप्रत्ययस्थौल्य बाल्यादियोगिदेहमात्रम्, अतएव ममेदं गृहमितिवन्ममेदं शरीरमिति भेदप्रतिभासो व्यवहारश्च, न ह्यसौ साक्षात्प्रतीतभेदनिमित्तः प्रतायमानः शिलापुत्रकशरीरव्यपदेशवदौपचारिको युक्त आश्रयितुं ममात्मेतिवत् तत्रास्मच्छव्दस्य आत्मनि वृत्तेरैकार्थ्यादविबादाच्च युक्तं तथाऽश्रयणं, न चैवमत्र, अतो देहव्यतिरेकिणश्चेतनस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तत्सम्बन्धिनि लाक्षणिको देहे अहंशब्द प्रयोगाः ।

तत्त्वप्रकाशिका— देहात्मवादी ने यह जो कहा है कि मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि प्रकार से जो प्रतीतियाँ होती हैं, उनसे प्रतीति होता है कि देह के ही अर्थ में अहं शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि स्थूल और कृश तो शरीर ही होता है । देहात्मवादियों का यह भी कथन पर्यालोचनीय है । **तत्रापि० इत्यादि**— उस प्रतीति में ही अहं शब्द शरीर से भिन्न तथा शरीर के भीतर रहने वाली वस्तु को ही अपना विषय बनाता है । वह स्थौल्य तथा वाल्य इत्यादि से युक्त होने वाले चक्षुरिन्द्रिय ग्राहय केवल देह को अपना विषय नहीं बनाता है ।

अतएव० इत्यादि— इसीलिए जिस तरह यह मेरा गृह है इस तरह से प्रतीति होती उसी तरह मेरा शरीर है, यह भी प्रतीति होती है। और आत्मा से भिन्न रूप से उसका व्यवहार भी होता है । **नह्यसौ० इत्यादि**— इस प्रकार के प्रतीत होने वाले शरीर से आत्मा के भेद का प्रचुर प्रयोग होता है । अतएव शिला पुत्रक (मूर्ति) के शरीर के भाँति यह औपचारिक प्रयोग नहीं है । अतएव इस भेद व्यवहार को जिस तरह ममात्मा (मेरी आत्मा) यह औपचारिक प्रयोग होता है उस तरह का यह औपचारिक व्यवहार भी नहीं है । **तत्र० इत्यादि**— ममात्मा इस प्रयोग में आत्मा शब्द आत्मा को ही बतलाता है अतः उसके आत्मा रूपी अर्थ के बोधक होने में किसी प्रकार का विवाद भी नहीं है । अतएव **'ममात्मा'** इस प्रयोग को औपचारिक मानना उचित नहीं है । किन्तु ममेदम् शरीरम (यह मेरा शरीर है) इस वाक्य को औपचारिक प्रयोग नहीं माना जा सकता है । यहाँ मम शब्द से आत्मा का निर्देश

करके उसके सम्बन्धी रूप से शरीर को बतलाया जा रहा है । **अत०** **इत्यादि**—— देह से भिन्न आत्मा के प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होने के कारण आत्मा के सम्बन्धी देह में **स्थूलोहम् इत्यादि** समानाधिकरण वाक्य में अहं शब्द का प्रयोग लाक्षणिक ही मानना चाहिए ।

देह के लिए अहम् शब्द का प्रयोग भ्रम जन्य है

मूल— **वाह्यविषयेषु परस्परविरुद्धरूपपरिमाणसंख्या-संनिवेशग्रहणेन व्यतिरेकस्य स्फुटत्वात्, आत्मनि तादृशरूपान्त-राग्रहणेन देहाभेदप्रतिभासभ्रमोऽविवेकिनाम् । इतश्चेच्छानुविधायिस्व-व्यापारोऽयमात्मा इच्छयैव हि सङ्कल्पयति स्मरत्यप्यूहति च, शरीरमपि तदिच्छानुविधायिशयनासनोत्थानादिचेष्टमिति भवत्यभेदभ्रमः शुक्तिरजतादाविव, प्रणिहितमनसस्तु ज्ञातृतया सिद्ध्यन्तमहमाकारम-र्थमनवयवमिदमिति परिस्फुरतः स्थूलादवयविनश्शरीरात् पृथक् अपरोक्षयन्त्येव ।**

तत्त्वप्रकाशिका— बाह्यविषयेषु इत्यादि— आत्मा से भिन्न जो बाह्य विषय होते हैं, उनकी परस्पर में एक दूसरे के विरुद्ध, रूप, परिमाण, संख्या और सन्निवेश (आकार० का ग्रहण होता है और आत्मा के उस तरह से दूसरे रूप इत्यादि की प्रतीति नहीं होती है । इस तरह आत्मा और शरीर में भिन्नता की स्पष्ट रूप से प्रतीति होने पर देह में आत्मा की प्रतीति भ्रम जन्य ही होती है । अतएव देह में आत्मात्व का भ्रम अज्ञानियों को ही होता है । **इतश्च० इत्यादि**— इससे सिद्ध होता है अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने वाला आत्मा है, शरीर नहीं हैं । शरीर में तो आत्मा की इच्छा के अनुसार व्यापार होते हैं । **इच्छयैव० इत्यादि**— यह आत्मा अपनी इच्छा के ही अनुसार सङ्कल्प करता है, स्मरण करता है तथा अनेक प्रकार का तर्क वितर्क करता है । **शरीरमपि० इत्यादि**— शरीर भी आत्मा की इच्छा के अनुसार ही सोने, बैठने तथा उठने आदि के व्यपारों को करता है इसीलिए अज्ञानी जीवों को शरीर तथा आत्मा में अभेद का भ्रम उसी तरह से होता है जिस तरह शुक्ति

में रजतत्व का भ्रम होता है । **प्रणिहितमनस० इत्यादि**— जो लोग सावधान मना हैं वे लोग तो ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले, तथा 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने वाले निरवयव, आत्मा का यह इस रूप से प्रतीत होने वाले स्थूल तथा अवयवी शरीर से पृथक् रूप से साक्षात्कार करते ही हैं ।

देह के अनात्मत्व साधक अनुमान

मूल— भवन्ति च जानामीति प्रत्ययः शरीर विषयो न भवति अर्थान्तरविषयोवायम् अप्रकाशमानतदवयवप्रतिभासत्वाद् य एवं प्रकारः स तथा, यथा अयमिति प्रतिभासः, यच्छरीरविषयं न तत्तथा यथा उभयसंमतं शरीरज्ञानं तथा शरीरम् अहंप्रत्ययगोचरो न भवति इदमिति गृहयमाणत्वाद् वाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् वा घटादिवदिति ।

तत्त्वप्रकाशिका— भवन्ति च० इत्यादि— इस विषय में निम्नाङ्कित प्रयोग अभिप्रेत है मैं जानता हूँ, इस प्रकार का होने वाला ज्ञान मैं शब्द शरीर को अपना विषय नहीं बनाता हैं, क्योंकि इस ज्ञान में शरीर के अवयवों की प्रतीति नहीं होती है । अथवा इस ज्ञान का विषय शरीर से भिन्न ही है, क्योंकि इस ज्ञान में शरीर के अवयवों की प्रतीति नहीं होती है । इस रूप से ज्ञान होता है वह शरीर विषयक नहीं होता है । जो ऐसा नहीं होता है वह शरीर व्यतिरिक्त विषयक नहीं होता है । उदाहरण के लिए **अयं देहः इत्यादि** में होने वाला देहादि विषयक ज्ञान यच्छरीर इत्यादि जो शरीर विषय ज्ञान होता है वह **'मैं'** इस रूप से नहीं होता है । जैसे वादी और सिद्धान्ती दोनों को होने वाला शरीर विषयक ज्ञान।

इसी तरह **'मैं' 'मैं'** इस प्रकार से होने वाले ज्ञान शरीर को अपना विषय नहीं बनाता है, क्योंकि शरीर का ज्ञान **'यह'** इस रूप से ही होता है । अथवा बाह्य इन्द्रियों से ही उसका ग्रहण होता है । घटादि के समान अर्थात् जिस तरह घट आदि का ज्ञान बाह्येन्द्रियों से होता है, उसी तरह से शरीर का भी ज्ञान बाह्येन्द्रियों से ही होता है ।

आत्मा अपने लिए प्रकाशित होता है और शरीर अपने से भिन्न आत्मा के लिए प्रकाशित होता है

मूल— **किञ्च—**

अपरार्थं स्वमात्मानमात्मार्थेऽन्यच्च जानतः ।
सङ्घातत्वात् परार्थेऽस्मिन् देहे कथमिवात्मधीः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि जो यह जानता है कि आत्मा अपने लिए ही होता है, वह दूसरे के लिए नहीं होता है तथा आत्मा से भिन्न वस्तुएँ आत्मा के ही लिए होती हैं उसकी शरीर में आत्मबुद्धि कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि शरीर तो सङ्घात स्वरूप है । हाथ-पैर आदि अवयवों के समूह (सङ्घात) को ही शरीर कहते हैं । और जो सङ्घात स्वरूप होता है वह परार्थ (दूसरे के लिए) ही होता है । शरीर भी सङ्घात स्वरूप होने के कारण परार्थ है । इसीलिए वह स्वार्थ आत्मा से भिन्न है ॥५॥

सङ्घात स्वरूप शरीर के आत्मार्थत्व का प्रतिपादन

मूल— **सर्वस्यवाह्याभ्यन्तरभोग्यवर्गस्य शबदसुखादेरात्मार्थतां भोक्तुश्चात्मनोऽनन्यार्थतां सर्वस्य शेषितां प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यामहे, न च शरीरमनन्यार्थं सङ्घातत्वात्, सङ्घाताहि सर्वे परार्था दृष्टाश्शयनासनरथादयः, न च सङ्घाताः संहतशरीराद्यर्था दृश्यन्ते इत्यात्मनोऽपि संहतत्वमापद्यते इति वाच्यं तथासति तस्यापि परार्थत्वप्रसङ्गात्, अपरार्थश्चायमात्मा प्रत्यक्षः प्रकाशत इत्युक्तम्। योग्यानुलम्भबाधितं चात्मनि सङ्घातत्वं, सङ्घातान्तरार्थत्वे च तस्यापि तथा ततोऽन्यस्यापि तथेति न व्यवतिष्ठेत, न च व्यवस्थायां सत्यामव्यवस्था युक्ता, न च सङ्घातस्य परार्थत्वे परस्य संहतत्वमपि प्रयोजकं भोक्तृतयैवात्मनस्स्वार्थसङ्घातं प्रति परत्वोपपत्तेः । व्याप्त्यनुपयोगिनोऽपिदृष्टान्तदृष्टधर्ममात्रस्यानुरोधेनानु-मानमिच्छतः सर्वानुमानाच्छेदप्रसङ्गः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— सर्वस्य० इत्यादि— जितने भी आभ्यन्तर तथा बाह्य शब्द, सुख आदि भोग्य पदार्थ हैं वे सबके सब आत्मा के ही लिए होते हैं। क्योंकि आत्मा ही उन सबों का भोक्ता है। **भोक्तुश्च० इत्यादि—** उन सभी योग्य पदार्थों का भोक्ता आत्मा दूसरों के लिए नहीं प्रकाशित होता है। वह अनन्यार्थ है। अनन्यार्थ होने के ही कारण वह सबों का शेषी (स्वामी) है। इस अर्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाती है। किन्तु शरीर अनन्यार्थ नहीं है। वह तो अपने में व्यापक आत्मा के ही लिए है। उसके अन्यार्थ होने का कारण यह है कि वह सङ्घात स्वरूप हैं। अवयवों के समूह रूप है। **सङ्घाता० इत्यादि—** देखा जाता है कि जितने सङ्घात पदार्थ शय्या, आसन तथा रथ आदि हैं, वे सबके सब परार्थ होते हैं। उनका भोक्ता उससे भिन्न उनका स्वामी होता है। रथ अपना उपभोग स्वयं नहीं करता है। रथ का उपभोक्ता रथ का स्वामी होता है। अतएव वह परार्थ है। इसी तरह शय्या तथा आसन आदि भी सङ्घात स्वरूप होने के कारण परार्थ हैं। उनका भोक्ता उनका स्वामी होता है। यहाँ पर इस तरह के अनुमान अभिप्रेत हैं—

शरीरम् परार्थम्, सङ्घातत्वात्, शय्यासनरथादिवत्।
आत्मा अपरार्थः, असंहतत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः ॥

न च सङ्घातः इत्यादि— यहाँ पर शरीरात्मवादी यह नहीं कह सकते हैं कि जितने भी संहत पदार्थ होते हैं वे अपने से भिन्न दूसरे सङ्घात के लिए होते हैं। जैसे सङ्घात स्वरूप शय्या, आसन तथा रथ आदि अपने से भिन्न सङ्घात स्वरूप शरीर के लिए होते हैं। उनका उपभोक्ता सङ्घात रूप शरीर ही होता है। यदि शरीर का उपभोक्ता आत्मा है तो उसको भी सङ्घात स्वरूप ही होना चाहिए। इस तरह से आत्मा के भी संहतत्व का प्रसंग होगा। तो देहात्मवादी इस तरह से नहीं कह सकते हैं। यदि आत्मा भी सङ्घात स्वरूप होगा तो उसको भी परार्थ मानना होता। **अपरार्थश्च० इत्यादि—** और हम कह चुके है कि प्रयत्क्षतः सिद्ध होता है कि आत्मा अपरार्थ है। वह अपने ही लिए प्रकाशित होता है। उसका उपभोक्ता उससे भिन्न दूसरा नहीं होता है।

योग्यानुपलम्भ० इत्यादि— किञ्च आत्मा यदि सङ्घात स्वरूप होता तो उसकी संहत रूप से उपलब्धि अवश्य होती है, किन्तु वह संहत रूप से उपलब्ध नहीं होता है, अतएव वह असंहत ही है ।

सङ्घान्तरार्थत्वे० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि सङ्घात को यदि सङ्घान्तान्तर (दूसरे सङ्घात) के लिए माना जाय तो वह जो सङ्घातान्तर होगा वह भी अपने से भिन्न सङ्घान्तान्तर के ही लिए होगा । इस तरह से अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था दोष होने के कारण सङ्घात को सङ्घान्तान्तर के लिए नहीं माना जा सकता है । **न च व्यवस्थायाम्० इत्यादि**— जहाँ पर व्यवस्था बन रही हो वहाँ पर अव्यवस्था को उत्पन्न करना उचित नहीं होता है । अतएव सङ्घात को सङ्घान्तान्तर के लिए नहीं स्वीकारा जा सकता है ।

न च सङ्घातस्य० इत्यादि— सङ्घात के परार्थ होने में प्रधान (शेषी) सङ्घातत्व कारण नहीं है । आत्मा चूकि सङ्घात का भोक्ता है अतएव अपने लिए सङ्घात के प्रति पर है । अर्थात् सङ्घात के प्रति उसका परत्व (स्वामित्व) सिद्ध हो जाता है । **व्याप्त्यनुपयोगिनः इत्यादि**— अनुमान में दृष्टान्त में पाये जाने वाले सभी धर्मों की पक्ष में सत्ता का होना आवश्यक मानने पर तो सभी अनुमानों के नाश का ही कारण बनेगा । पक्ष में दृष्टान्त के उसी धर्म का होना आवश्यक है जो व्याप्ति के लिए उपयोगी हो पक्ष में दृष्टान्त के सभी धर्मों का होना आवश्यक नहीं होता है । जैसे पर्वत में बहिन का अनुमान करने के लिए पर्वत में दृष्टान्त भूत महानस के इस युक्तत्व धर्म का ही होना आवश्य है, क्योंकि उतने मात्रा से व्याप्ति ग्रह हो जाता है । महानस में पाये जाने वाले राख इत्यादि पर्वत में होना आवश्यक नहीं होता ।

ज्ञान शरीर का गुण नहीं हो सकता है

मूल— **अस्फुटत्वेऽपि भेदस्य शरीरे तदसंभवात् ।**
तद्गुणान्तरवैधर्म्यादपि ज्ञानं न तद्गुणः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका— यद्यपि देह से आत्मा का भेद प्रत्यक्ष नहीं है

फिर भी शरीर के अचेतनत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो जाती है इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कारिकाकार कहते हैं **अस्फुटत्वेऽपि० इत्यादि**— यद्यपि परार्थ शरीर में आत्मा से होने वाला भेद प्रत्यक्ष का विषय नहीं है फिर भी शरीर में ज्ञान नामक गुण का होना असम्भव है। क्योंकि शरीर में ज्ञान नामक गुण की उत्पत्ति का होना असम्भव होने के कारण तथा शरीर के गुण रूप इत्यादि से ज्ञान नामक गुण का वैधर्म्य होने के कारण भी ज्ञान शरीर का गुण नहीं हो सकता है ।।६।।

उपयुक्त कारिका का स्पष्टीकरण

मूल— **सर्वएव कार्य्यद्रव्यगतविशेषगुणः कारणगुणपूर्वक इति कथमतत्पूर्वकः शरीरे चैतन्यगुणः सम्भवेत् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— सर्वस्व इत्यादि— कार्यद्रव्य में जितने भी विशेष गुण होते हैं वे सबके सब कारण गुण पूर्वक ही होते हैं अतएव शरीर में अकारण गुण पूर्वक ज्ञान नामक गुण कैसे हो सकता है ? कहने का अभिप्राय है कि शरीराम्भक पृथिवी इत्यादि के परमाणुओं में यदि ज्ञान नामक गुण होता तब तो उनसे बने हुए शरीर का भी गुण ज्ञान माना जाता किन्तु पार्थिव आदि परमाणुओं में चूकि ज्ञान नहीं पाया जाता है, अतएव उन परमाणुओं के कार्यभूत शरीर का गुण ज्ञान नहीं हो सकता है ।

कार्यद्रव्यों के सभी विशेष गुणों के कारण गुण पूर्वकत्व का प्रतिपादन

मूल— **यत्तु बार्हस्पत्यं वचनं पृथिव्यापस्ते जोवायुरिति तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवदिति तदनुपपन्नं शक्तेर-विशेषगुणत्वेन तथोपपत्तेः, सर्वद्रव्येषु तत्तत्कार्यसमधिगम्यः तत्प्रतियोगिशक्त्याख्यो गुणः साधारणः नैवं चैतन्यं देहैकगुण-त्वाभ्युपगमात् कार्य्यत्वे सत्येकविधप्रत्यक्षसिद्धतया च विशेष-गुणत्वात्, द्रव्यान्तरसंयोगसमासादितमदशक्तिभिरकार्य्यभूतैः**

परमाणुभिनिजगुणपुरस्कारेण स्वकार्य्यद्रव्येषु मदशक्त्यु त्पादोऽपि नानुपपन्नः, ताम्बूलरागस्तु पूर्वद्रव्यावयवविभागानन्तरं द्रव्यान्तर-संयोगजनितरक्तिमगुणैः कारणैः क्रियते, दृश्यते हि तत्रावयवेष्वपि प्रत्येकं रक्तिमगुणः, न च शरीरा वयवेषु प्रत्येकं चैतन्यगुणः प्रज्ञायते प्रतिज्ञायते वा, तदुपगमे च एकशरीर एवानेकचेतनापातात्, अङ्गाङ्गित्वाभावः प्रतिसङ्घानव्यवहारलोपश्च देवदत्तदृष्ट इव यज्ञदत्तादेः।

तत्त्वप्रकाशिका— चार्वाक सूत्रों के प्रणेता बृहस्पति ने यह जो कहा है पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चार ही तत्त्व हैं । उन सबों के परमाणुओं में होने वाले विलक्षण संयोग के कारण ही पार्थिव शरीर में ज्ञान नामक गुण उसी तरह से उत्पन्न हो जाता है जिस तरह मदिरारम्भक किण्वों में होने वाले विलक्षण संयोग के कारण मदिरा द्रव्य में मद की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । बृहस्पति का यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है । **शक्ते० इत्यादि**— बृहस्पति ने मदिरा में उत्पन्न होने वाली शक्ति नामक गुण को उद्धृत करके सिद्ध करना चाहा है कि कार्य गुणों का कारणगुण पूर्वकत्व का होना आवश्यक नहीं है किन्तु शक्ति सामान्य गुण है । अतएव वह आकारण गुण पूर्वक हो सकती है । सभी कार्य द्रव्यों में पायी जाने वाली शक्ति सामान्य गुण है । वह एक कार्य द्रव्य से दूसरे कार्य द्रव्य में भिन्न रूप में पायी जाने वाली शक्ति का प्रतियोगी है । उसका अनुमान विभिन्न द्रव्यों के कार्यों को देखकर किया जाता है। जैसे देखा जाता है कि मृद द्रव्य से घटादि कार्य ही होते हैं उससे पट का निर्माण हीं होता है । इससे पता चलता है कि मद् द्रव्य में घट बनाने की ही शक्ति है, उसमें पट बनाने की शक्ति नहीं है किन्तु यह शक्ति सभी द्रव्यों में किसी-न-किसी रूप सें अवश्य रहती है । अतएव वह साधारण गुण है । शक्ति के साधारण गुणत्व का प्रतिपादन करते हुए महर्षि पराशर भी कहते हैं **'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्य ज्ञान गोचराः'** अर्थात् सभी भव पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञान का विषय हैं ।

नैवं चैतन्यम्० इत्यादि— किन्तु ज्ञान साधारण गुण नहीं है । वह

विशेष गुण है देहात्मवादी भी उसे केवल शरीर का ही गुण मानते हैं। **कार्यत्वेसत्ये० इत्यादि**— विशेष गुण का यही लक्षण है कि वह किसी का कार्य होता है और किसी एक ही ज्ञानेन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान भी कार्य है और उसका केवल मानस प्रत्यक्ष होता है। अतएव वह विशेष गुण है। **द्रव्यान्तरसंयोग० इत्यादि**— मदिरा में भी रहने वाली मदशक्ति कारण गुण पूर्वक ही है क्योंकि किण्वों के सम्मर्द से द्वयणुक पर्यन्त का नाश हो जाने पर बचे हुए स्वतन्त्र परमाणुओं में द्रव्यान्तरों के संश्लेषक कारण मद शक्ति आ जाती है। उन मदशक्ति सम्पन्न परमाणुओं से निर्मित मदिरा में भी मदशक्ति कारणगुण पूर्वक ही है।

ताम्बूलरागस्तु० इत्यादि— ताम्बूल में पायी जाने वाली लालिमा भी कारण गुण पूर्वक ही है। क्योंकि चबाने के कारण ताम्बूल के जो अवयव है उनका विभाग हो जाता है। उसके बाद द्रव्यान्तरों (पान का पत्ता, सुपारी, कत्था, तथा चूना आदि) के संयोग से पहले पान की वीटिका के परमाणुओं में लालिमा उत्पन्न होती है। उन लालिमा गुण सम्पन्न परमाणुओं से निर्मित सम्पूर्ण पान की वीटिका में लालिमा उत्पन्न हो जाती है। **दृश्यते० इत्यादि**— पान के प्रत्येक अवयवों में रक्तिमगुण दिखायी भी पड़ता है। **न च शरीरावयवेषु० इत्यादि**— शरीर के प्रत्येक अवयवों में चैतन्य नामक गुण न तो उपलब्ध होता है और न तो उसकी सिद्धि ही की जाती है। **तदुपगमे० इत्यादि**— यदि शरीर के प्रत्येक अवयवों में चैतन्य नामक गुण स्वीकार किया जाय तो एक ही शरीर में अनेक चेतनों को स्वीकार करने का प्रसङ्ग होगा। ऐसी स्थिति में उन चेतनों में से किसी को नियाम्य तथा किसी को नियामक मानना होगा। फलतः होने वाले एक चेतन युक्तत्व के प्रति सन्धान और व्यवहार के लोपका प्रसङ्ग होगा। एक शरीर में एक ही चेतन के मानने पर सभी प्रतिसङ्घानों तथा व्यवहारों का निर्वाह सम्भव हैं।

अनेक चेतनों के होने पर तो देखने वाला चेतन दूसरा होगा और स्पर्श करने वाला चेतन दूसरा होगा। एक चेतन के ज्ञान दूसरे चेतन

के लिए अज्ञात होने के कारण जिसको मैंने देखा था उसी का स्पर्श कर रहा हूँ इस तरह के प्रतिसन्धान और व्यवहार का लोप हो जायेगा। जिस तरह से देवदत्त के ज्ञान का अनुभव यज्ञद को नहीं होता है उसी तरह वे चेतन भी एक दूसरे के ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते हैं।

चित्ररूप भी कारण गुण पूर्वक ही है

मूल— **यत्तु अकारणगुणपूर्वकं चित्ररूपं पटे इति तन्न नानारूपता हि चित्रता, सा च नानारूपैस्तन्तुभिः क्रियत इति किमनुपपन्नं, प्रत्येकमविद्यमानमपि तच्चित्ररूपं तन्तुषु सांहतेषु दृश्यत एव चित्रा इमे तन्तव इति, संभूय च तेषुपटारम्भकत्वम्, एवं तत्कारणेष्वपि तदिति न क्वचिद् व्यभिचारः, न चैकरूपनियमाभावेन अवयविनाऽचाक्षुषत्वं महत्त्वैकार्थसमवायिना रूपवत्त्वेनैव चाक्षुषत्वसिद्धः, अस्तु वा चित्रं नाम एका रूपविशेषः, स तु रूपैरेव कारणगतैर्नानाविधैरारभ्यत इति दृष्टे, न चैवमवयववत्तिभिरेव चैतन्यैरवयविनि शरीरे चैतन्यविशेषारम्भः चितितन्मात्रस्यैव तेष्वसम्भवात् अतो न देहगुणश्चैतन्यम् । एतेन सुखादयोऽपि शरीरगुणाः प्रत्युक्ताः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु० इत्यादि— देहात्मवादियों ने यह जो कहा है कि पट में पाया जाने वाला चित्र रूप अकारण गुण पूर्वक ही होता है। किन्तु उन लोगों का यह कथन उचित नहीं है। अनेक रूपों से युक्त होने को ही चित्र रूप कहते हैं। **सा च० इत्यादि—** उस चित्रता को अनेक रूप वाले तन्तुओं के द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है। यह मानने में क्या आपत्ति है ? वह चित्र रूप प्रत्येक तन्तुओं में नहीं रहता है किन्तु अनेक रूपों वाले संहत (मिले) हुए तन्तुओं में तो चित्ररूप दिखायी पड़ता है। उन सबों को देखकर लोग कहते भी हैं ये तन्तु चित्र रूप वाले हैं। वे सभी तन्तु एक साथ मिलकर ही वस्त्र को बनाते हैं। इस तरह से उस चित्र रूप वाले वस्त्र के कारणों में भी चित्र रूप रहता ही है। अतएव विशेष गुण के कारण गुण पूर्वकत्व के नियम में कहीं भी व्यभिचार नहीं है।

न च एकरूप० इत्यादि— यहाँ पर देहात्मवादी यह नहीं कह सकते हैं कि चूकि चित्रपट में एक रूप नियम का अभाव है, अतएव उसका नेत्रों से साक्षात्कार नहीं हो सकता है । क्योंकि जिस वस्तु में समवाय सम्बन्ध से उद्भूत रूपत्व और उद्भूत महत्त्व नामक गुण रहता है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता ही है । उस चित्रपट में रूप तो है ही और वह महत्त्वगुण सम्पन्न भी है अतएव उसका साक्षात्कार होने में कोई आपत्ति नहीं है ।

अस्तुवा० इत्यादि— अथवा चित्र नामक रूप को, अन्य रूपों के ही समान एक विशेष प्रकार का रूप मान लिया जाय और वह चित्र रूप अनेक प्रकार के कारणों में रहने वाले रूपों के द्वारा उत्पन्न होता है। यह लोक में देखा भी जाता है । **न चैवम्० इत्यादि—** यहाँ पर देहात्मवादी यह कह सकते हैं कि इसी प्रकार से अनेक अवयवों में रहने वाले चैतन्यों के द्वारा अवयवी शरीर में चैतन्य विशेष उत्पन्न हो जाता है । अतएव शरीर का ही गुण ज्ञान को मानना चाहिए । तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं । **चितितन्मात्रस्यैव० इत्यादि—** शरीर के अवयवों में ज्ञान और ज्ञान की तन्मात्राओं का अभाव होने के कारण, देह के अवयवों के चैतन्यों के शरीर में ज्ञान विशेष की उत्पत्ति को नहीं स्वीकार किया जा सकता है । अतएव देह का गुण ज्ञान नहीं हो सकता है । **एतेन० इत्यादि—** इस प्रतिपादन से यह भी सिद्ध हो गया कि जिस तरह ज्ञान शरीर का गुण नहीं है । उसी तरह सुख आदि भी शरीर के विशेष गुण नहीं है ।

ज्ञान तथा सुखादि शरीर के गुणों से भिन्न हैं

मूल— **अपि च दृढ एव शरीरे विरोधिगुणापातमन्तरेण कुसुमविलेपनगन्ध इव निवर्तमानश्चैतन्यसुखादिर्न तद्गुणो भवितुमर्हति, न खलु तद्विशेषगुणा रूपादयस्तथा निवर्तन्ते आत्मनः परेषां च शरीरगुणाः प्रत्यक्षयोग्याः बाह्येन्द्रियग्राह्याश्च न च तथाज्ञानादिरिति नासौ तद्गुणः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि यह देखा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् यद्यपि शरीर सुदृढ रूप से बना रहता है किन्तु ज्ञान सुख आदि को दूर करने वाले विरोधी गुणों के आये बिना ही शरीर से ज्ञान तथा सुख इत्यादि उसी तरह से दूर हो जाते हैं जिस तरह माला तथा चन्दन इत्यादि के गन्ध उनसे दूर हो जाते हैं । वे मृत शरीर में नहीं रहते हैं यदि ज्ञान और सुख आदि शरीर के गुण होते तो वे मृत्यु के पश्चात् भी उसी तरह से शरीर में बने रहते जिस तरह मृत्यु के पश्चात् भी शरीर के गुण रूप आदि बने रहते हैं । **आत्मनः इत्यादि—** अपने और दूसरों के शरीर के गुण रूप आदि प्रत्यक्ष के योग्य होते हैं । उनका ज्ञान बाह्येन्द्रियों से होता है । किन्तु ज्ञान इत्यादि ऐसे नहीं हैं । उनका ग्रहण बाह्येन्द्रियों से नहीं होता है । अपने ज्ञान तथा सुख आदि का तो मानस प्रत्यक्ष ही होता है तथा दूसरों के ज्ञान इत्यादि का अनुमान होता है । अतएव ज्ञान शरीर का गुण नहीं हो सकता है ।

शरीर के आत्मत्व निषेधक अनुमान

मूल— **किञ्च—**

उत्पत्तिमत्त्वात्पारार्थ्यात् सन्निवेशविशेषतः ।
रूपादिमत्त्वाद्भूतताद्देहो नात्मा घटादिवत् ।।७।।

तत्त्वप्रकाशिका— यहाँ पर देह के आत्मत्व का खण्डन निम्नाङ्कित अनुमानों से हो जाता है ।

१. देह आत्मा नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह आत्मा नहीं होता है । जैसे— उत्पन्न होने वाला घट।

२. पारार्थ्यात्— शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि वह परार्थ होता है। अर्थात् उसका भोक्ता उससे भिन्न उसका आश्रय आत्मा है । जो-जो परार्थ होता है वह आत्मा नहीं होता है, घट आदि के समान ।

३. सन्निवेश विशेषतः— देह आत्मा नहीं है, क्योंकि वह सङ्घात

विशेष है; जो-जो सङ्घात स्वरूप होता है वह-वह आत्मा नहीं होता है, जैसे— घट आदि ।

४. रूपादि मत्त्वात्— देह आत्मा नहीं हैं, क्योंकि रूप आदि गुणों से युक्त है, जो-जो रूपादि से युक्त होता है, वह-वह आत्मा नहीं होता है घटादि के समान ।

५. भूतत्वात्— देह आत्मा नहीं है, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय ग्राह्य गुणों से युक्त है । जो बाह्येन्द्रिय ग्राह्य गुणों से युक्त होता है । वह-वह आत्मा नहीं होता है । जैसे— घटादि ।

इन पाञ्चों अनुमानों से देह के अनात्मत्व की सिद्धि हो जाती है ।

देह का गुणज्ञान नहीं है

मूल— **सच्छिद्रत्वाददेहित्वाद्देहत्वान्मृतदेहवत् ।**
इत्यादिसाधनैर्न्याय्यैनिषेध्या वर्ष्मणश्चितिः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका— शरीर का गुण ज्ञान नहीं है, अर्थ की सिद्धि, निम्नाङ्कित हेतुओं से हो जाती है । वे हेतु है शरीर का छिद्र युक्त होना, देहवान् न होना तथा देह होना । इन तीनों हेतुओं के द्वारा शरीर के ज्ञान गुणकत्व का खण्डन हो जाता है । उपर्युक्त तीनों हेतुओं के द्वारा होने वाले अनुमानों का रूप इस प्रकार है ।

१. शरीर का गुणज्ञान नहीं है, क्योंकि शरीर सछिद्र है । अर्थात् छिद्र युक्त है । जो-जो छिद्र युक्त होता है, उस उसका गुण ज्ञान नहीं होता है, जैसे— घट । घट छिद्र युक्त है अतएव उसका गुण ज्ञान नहीं हैं ।

२. शरीर का गुण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह शरीरवान् नहीं है । जो शरीरवान् नहीं होता है, वह ज्ञानवान् नहीं होता है । जैसे— घट।

३. देह ज्ञानवान् नहीं है, क्योंकि वह देह है । मरे हुए देह के समान जिस तरह मरे हुए देह का गुण ज्ञान नहीं है, उसी तरह देह का भी गुण ज्ञान नहीं है ।

देहात्मवाद के खण्डन का उपसंहार

मूल— **एवं प्रत्यक्षविरोधात् अन्वयमुखेन साध्यमुपस्थापयद्भिः उदीरितसाधनैरपहृतविषयतया इन्द्रियाश्रयत्वादिब्यतिरेका हेतवो न साध्यमुपस्थाययितुमीशते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— एवमित्यादि— इस तरह से चूकि देह के आत्मत्व का विरोध प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, अतएव देहात्मवादियों ने देह के आत्मत्मत्व की सिद्धि के लिए जिन इन्द्रियाश्रयत्व तथा इच्छानुविधायि क्रियत्व आदि व्यतिरेकी हेतुओं को उपन्यस्त किया है उन हेतुओं का खण्डन अन्वय के द्वारा साध्य की सिद्धि करने वाले, उपर्युक्त सातवीं और आठवीं कारिकायों में उक्त हेतुओं के द्वारा हो जाता है । अतएव देहात्मवादियों के उन हेतुओं के द्वारा देह के आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

इन्द्रियात्मवाद का उपपादन

मूल— **सन्तु तर्हीन्द्रियाण्येवात्मा न च तानीदन्तया प्रथन्ते येन देहवदहङ्कारगोचराद्बहिष्क्रियेरन् । नापि तथोद्भूत तरूपादिगुणानि स्थूलानि येन तत्प्रतिभास इव इन्द्रियगोचरत्वे अहंप्रत्ययस्य रूपाबयवादिप्रतीतिः प्रसज्येत, तद्व्यापारफलं च ज्ञानं तद्गामियुक्तं स्नानाध्ययनादिफलवत् । अतएव सत्यतपाः द्रष्टुश्चक्षुष इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— सन्तुतर्हि० इत्यादि— देहात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन हो जाने के बाद इन्द्रियात्मवादी चार्वाक अपने मत को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं **सन्तुतर्हि० इत्यादि—** अर्थात् देह के आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, इस बात की सिद्धि सिद्धान्ती ने कर दिया है । उसका कारण यह है कि देहात्मवाद में अनेक प्रकार के दोष हैं । किन्तु इन्द्रियों की आत्मा मानने में वे कोई भी दोष नहीं हैं जिन दोषों को देहात्मवाद के विरोध में सिद्धान्ती ने उपन्यस्त किया है। अतएव इन्द्रियों को ही आत्मा मानना चाहिए । **न च तानीदन्तया० इत्यादि—** इन्द्रियों की यह-यह इस रूप से प्रतीति भी नहीं होती है ।

अतएव सिद्धान्ती यह नहीं कह सकते हैं कि सभी वादी यह मानते हैं कि आत्मा की **'मैं' 'मैं'** इस रूप से ही प्रतीति होती है । अतएव **'यह' 'यह'** इस रूप से प्रतीत होने वाली इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता है । **नापि० इत्यादि—** किञ्च जिस तरह से शरीर उद्भूत रूपत्व तथा उद्भूत महत्त्व इत्यादि गुणों से युक्त होने के कारण अनात्मा है, उस तरह से इन्द्रियाँ नहीं हैं । क्योंकि वे उद्भूत रूपत्व तथा उद्भूत महत्त्व इत्यादि गुणों से रहित हैं । इन्द्रियाँ तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं । सूक्ष्म ही होने के कारण वे अतीन्द्रिय कही जाती हैं । फलतः स्थूलत्व दोष से रहित होने के कारण इन्द्रियों में स्थूलत्व की प्रतीति भी नहीं हो सकती है । स्थूलत्व दोष रहित होने के कारण ही वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है । क्योंकि **'मैं' 'मैं'** इस रूप से जाने वाले आत्मा के इन्द्रिय ग्राह्य होने पर उसके रूपादि की प्रतीति का प्रसङ्ग होता है । किन्तु इन्द्रियाँ इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, अतएव इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं ।

तद्व्यापार फलमित्यादि— किञ्च इन्द्रियों में होने वाले व्यापार का ही फल ज्ञान है । अतएव ज्ञान को इन्द्रियों का ही धर्म उसी तरह से मानना चाहिए जिस तरह स्नान आदि का फल पावित्र्य आदि होता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का होना ही इन्द्रियों का व्यापार है । इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के कारण ही रूपादि का ज्ञान होता है । अतएव ज्ञान धर्मी इन्द्रियों को ही आत्मा मानना चाहिए । इसीलिए महर्षि सत्यतपा ने कहा है **द्रष्टुश्च क्षुषः** अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही द्रष्टा हैं । जो द्रष्टा होता है वही आत्मा है यह सिद्धान्ती भी मानते हैं ।

इन्द्रियात्मवाद का खण्डन

मूल— **तन्न विकल्पासहत्वात् तथाहि किं प्रत्येकमिन्द्रियाणि चेतनानि संभूय वा यदि प्रत्येकमिन्द्रियान्तरदृष्टस्य इन्द्रियान्तरेण प्रतिसन्धानं न स्यात्, अस्ति च तद् यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामीति, अतएव न संभूयापि चेतनत्वं न हि पञ्चभिरिन्द्रयैस्संभूय एकं वस्त्वनुभूयते अनुसंधीयते वा, एकेन्द्रियविगमे च प्रायणप्रसङ्गश्च,**

इन्द्रियचैतन्ये च तत्तदिन्द्रियापाये तदीन्द्रियार्थस्मरणमपि न भवेत्। न च तद्व्यापारफलतया तत्समवायित्वंज्ञानस्य शस्त्रादिव्यापार-जन्मनोऽपि पापादेः परसमवायित्वात्, अन्यथा च प्रष्टुः मृत्युपपत्तिं शरणागतपरित्यागस्य नृशंसतां च आलोच्य सत्यतपसस्तथा वचनम्।

तत्त्वप्रकाशिका— तन्न० इत्यादि— इन्द्रियात्मवादियों का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि उनका वह कथन विकल्प करने पर टिक नहीं पायेगा अर्थात् वह विचार सही नहीं तथा हि० इत्यादि यहाँ पर प्रश्न उठता है कि इन्द्रियाँ तो पाँच हैं, वे सभी इन्द्रियाँ अलग-अलग चेतन हैं, अथवा सभी इन्द्रियाँ मिलकर चेतन (आत्मा) हैं ? **यदि प्रत्येकम्० इत्यादि—** यदि प्रत्येक इन्द्रियाँ अलग-अलग चेतन हैं तो फिर किसी एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किए गये विषय का दूसरी इन्द्रिय स्मरण नहीं कर सकती है । ऐसी स्थिति में **यम हमद्रक्षभ तमहं स्पृशामि** इस तरह का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि देखने वाली इन्द्रिय तो चक्षुरिन्द्रिय है, उसका स्मरण त्वगिन्द्रिय उसी तरह से स्मरण नहीं कर सकती हैं जिस तरह लोक राम के द्वारा अधीत विषयों का श्याम स्मरण नहीं कर पाता है । **अस्तिच० इत्यादि—** किन्तु देखा जाता है कि लोक में लोग यह अनुभव करते हैं कि जिसको मैंने देखा था उसी का मैं स्पर्श कर रहा हूँ । फलतः प्रत्येक इन्द्रियों को अलग-अलग चेतन नहीं माना जा सकता है ।

अतएव न० इत्यादि— उपर्युक्त कारण से ही सभी इन्द्रियाँ मिलकर भी आत्मा नहीं हो सकती हैं । **नहि० इत्यादि** लोक में देखा जाता है कि पाञ्चों ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर किसी वस्तु का न तो अनुभव करती हैं और न तो उसका अनुसन्धान करती हैं । **एकेन्द्रिय० इत्यादि—** किञ्च पाञ्चों ज्ञानेन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय के भी विनष्ट हो जाने पर मृत्यु होने का भी प्रसङ्ग होता ।

इन्द्रिय चैतन्ये० इत्यादि— यदि इन्द्रियों का धर्मज्ञान नामक गुण माना जाय तो जो इन्द्रिय विनष्ट हो जायेगी इस इन्द्रिय के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण नहीं हो पायेगा । किन्तु लोक में देखा जाता है किसी

इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी उस इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किए गये विषय का स्मरण होता है । अतएव इन्द्रियों का गुण ज्ञान नहीं हो सकता है । **न च तद्व्यापार० इत्यादि**— इन्द्रियों के व्यापार का फल ज्ञान, इन्द्रियों में समवाय सम्बन्ध से रहता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है बल्कि इन्द्रियों से भिन्न इन्द्रियों के आश्रय आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से उसी तरह से रहता है जिस तरह शस्त्रों के व्यापार से उत्पन्न पापादि रूप फल शास्त्रों से भिन्न शस्त्रधारी में रहता है । **अन्यथा० इत्यादि**— सत्यतपा महर्षि न य जो कहा कि **द्रष्टुश्चक्षु नास्तिजिह्वा**— अर्थात् देखने वाली चक्षुरिन्द्रिय के पास जीभ नहीं है, अतएव वह बोल ही नहीं सकती है । इसका अभिप्राय यह है कि ऋषि ने सोचा कि यदि मैं इसे इसतरह से नहीं कहता हूँ तो यह सामने भूखा व्याध खड़ा है, इसकी मृत्यु हो जायेगी । यदि मैं बतला देता हूँ तो शरण में आये हुए मृग का परित्याग जन्य मुझको पाप लगेगा । इन सारी बातों को सोचकर महर्षि ने व्याध से कहा कि **द्रष्टुश्चक्षुष नास्ति जिह्वा ।** इस तरह से स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता है ।

मन आत्मवाद का उपपादन

मूल— **अस्तु तर्हिमन एव चेतनं तथा सति हि पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति, तद्धि सर्वेन्द्रियाध्यक्षं प्रतिज्ञायते च, उपपद्यते च इन्द्रियान्तरेण प्रतिसंधानं दर्शनानुसन्धानाधारस्य मनस एकत्वात् तत्तदिन्द्रियापायेऽपि स्मरणमप्युपपद्यत एव मनसो नित्यत्वात् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— मन आत्मवादी तीसरे प्रकार के चार्वाक हैं । वे कहते हैं **अस्तुतर्हि० इत्यादि**— यदि इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता है तो फिर मन को ही आत्मा मानना चाहिए । **तथा सति इत्यादि**— मन को ही आत्मा मानने पर इन्द्रियात्मवाद में जो दोष हैं वे दोष मन को आत्मा मानने पर नहीं होंगे । **तद्धि० इत्यादि**— क्योंकि मन को ही सभी इन्द्रियों का स्वामित्व प्रमाणतः सिद्ध हो जाता है । मन जिस

इन्द्रिय को प्रेरित करता है, वही इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न कर पाती है । **दर्शनानुसन्धान० इत्यादि**— दर्शन तथा अनुसन्धान का आधार मन एक ही है । सिद्धान्ती भी मानते हैं कि प्रत्येक शरीर में आत्मा एक ही होता है । **ततदिन्द्रय० इत्यादि**— मन चूकि एक है । वही ज्ञान का आधार है । अतएव किसी एक इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण मन नामक आत्मा करता है । क्योंकि इन्द्रियों आपाय हो जाने पर भी आत्मा तो नित्य है, अतएव उन सबों के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण करता है । इस तरह सभी दोषों से रहित होने के कारण मन आत्मवाद को स्वीकार करना चाहिए।

मन आत्मवाद का खण्डन

मूल— **तदपि न करणत्वात् चक्षुरादिवत् वाह्यान्तरसकलविषयसंवेदनकरणतया हि मनः प्रकल्प्यते वाहयेन्द्रियेषु यथायथं निजविषयसन्निकर्षभागिष्वपि यतो न युगपदेव सर्वे विषयाः प्रतीयन्ते अतोऽवगच्छामः अस्ति किंचिदपरमपि साधनं यत्साहाय्यकविरहान्न सर्वो प्रकाशन्तो कश्चिदेव एकः प्रतीयत इति, तथा सुखादिसंवेदनान्यपि करणवन्ति क्रियात्वाद् संवेदनत्वाद्वा रूपादिज्ञानवदिति तदेवं ज्ञानकरणतयाऽवगतस्य मनसः कथमिव ज्ञाने कर्तृत्वं, स्वातन्त्र्यलक्षणं हि तत्, तच्च स्वच्छन्दनुरोधेन साध्यसिद्ध्यनुगुणोपकरणसम्पादनसामर्थ्यं स्वसमवेतमेव वा गुणान्तरं तन्त्रीकृत्य प्रवृत्तिः, करणत्वं तु पराधिष्ठानाधीनव्यापारतारूपपारतन्त्र्यनियतं साधकतमत्वमिति कथमिवैकत्र मनसि परस्परविरुद्धतदुभयधर्मसम्बन्धं प्रतिपद्येमहि । अथ तदपि मनः करणान्तरेण स्मरणादिषु कर्तृभावमनुभवति तथा सति संज्ञामात्रे विवादः, य एव हि चक्षुरादिभीरूपादीन् आन्तरकरणेन च सुखादींश्चेतयते स एवात्मा तस्मिन्नेव चेन्मनःसंज्ञा निवेश्यते कामं निवेश्यतां न नः किंचिद्धीनं किंतु तथा सर्वलौकिकव्यवहारो बाध्येतेत्यलमनेन ।**

तत्त्वप्रकाशिका— मन आत्मवादियों का उर्युक्त कथन ठीक नहीं है। **कारणत्वात्० इत्यादि**— जिस तरह चक्षुरादि इन्द्रियाँ ज्ञान का साधकतम होने के कारण ज्ञानाश्रय आत्मा नहीं हैं, उसी तरह मन भी सुख, दु:ख आदि ज्ञानों का साधकतम रूपकरण है । अतएव वह ज्ञान का कर्ता आत्मा नहीं हो सकता है । **बाह्याभ्यन्तर० इत्यादि**— अभ्यान्तर तथा बाह्य सभी विषयों के ज्ञान का साधकतम मन का कर्तृत्व रूप आत्मत्व नहीं सिद्ध होता है । बाह्य सभी विषयों का ज्ञान होने में मन के सहकारित्व का प्रतिपादन करते हुए महर्षि गौतम ने कहा **'युगपज्ज्ञानानुपपतिर्मनसो लिङ्गम्'** मन के सद्भाव में यही प्रमाण है कि सभी इन्द्रियों के यथायथ अपने विषयों से सम्पृक्त होने पर भी मन के सहकारित्व के अभाव में सभी इन्द्रियों से समकाल में ही सभी विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता है । मन जिस इन्द्रिय का सहकारी होता है, वही इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न करती है । मन एक है अतएव एक समय में एक ही इन्द्रिय का सहकारी होता है । अतएव एक समय में एक ही इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न होता है । यही कारण है कि एक समय में सभी विषयों का ज्ञान नहीं होता है । इसी बात का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं । **बाह्येन्द्रियेषु० इत्यादि**— वाहयेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से सन्निकर्ष प्राप्त होने पर भी जिसके कारण एक ही समय में, सभी विषयों का ज्ञान नहीं होता है । **अतोऽवगच्छमः इत्यादि**— इससे पता चलता है कि इन बाह्येन्द्रियों से भिन्न कोई साधन है जिसकी सहायता के अभाव में सभी विषयों का एक ही समय में ज्ञान नहीं होता है, किसी एक ही विषय का ज्ञान हो पाता है । **तथा इत्यादि**— इसी तरह से सुख-दु:ख आदि का भी ज्ञान इन्द्रिय जन्य होता है । क्योंकि सुख दु:ख इत्यादि भी कार्य है । अथवा वे ज्ञान हैं रूपादि के ज्ञान के समान इसलिए जितने भी ज्ञान होते हैं अथवा कार्य होते हैं, उनका कोई न कोई कारण (साधकतम) अवश्य होता है । इन सुखादिकों का भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा । जो उसका कारण है वह मन ही है। **तदेवम्० इत्यादि**— इस तरह से ज्ञान के कारण रूप से ज्ञान होने

वाला मन ज्ञान का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? **स्वतन्त्र्य० इत्यादि**— क्योंकि कर्त्ता जो होता है वह क्रिया के करने में स्वतन्त्र होता है । तच्च० इत्यादि व कर्तृत्व अपनी इच्छा के अनुसार साध्य की सिद्धि के अनुकूल उपकरणों के साम्पादन के लिए सामर्थ्य स्वरूप होता है । **स्वसमवेतम० इत्यादि**— अथवा कर्त्ता किसी कार्य के सम्पादन में अपने में समवाय सम्बन्ध से स्थित, दूसरे गुण को सहायक बनाकर प्रवृत्ति होती है ।

करणत्वं च० इत्यादि— और जो करण होता है वह दूसरे अधिष्ठान की इच्छा और प्रत्यन्त के अधीन होने वाली प्रवृत्ति वाला होता है । वह कर्त्ता के परतन्त्र होता है । अतएव कर्तृत्व और करणत्व दोनों धर्म एक ही मन में कैसे सम्भव है ? क्योंकि वे दोनों धर्म परस्पर में एक दूसरे के विरुद्ध हैं । अतएव उन दोनों धर्मों को एक ही मन में नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

अथ तदपिमना० इत्यादि— यदि मन आत्मवादी यह कहे कि मन जो है वह दूसरे साधकतम को अपनाकर स्वयं अपने कर्तृत्व भाव का अनुभव करता है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो आप में और हममें संज्ञा मात्र का विवाद रह जाता है । **य एव० इत्यादि**— हम भी यही मानते हैं कि जो चक्षुरिन्द्रिय आदि की सहायता से रूपादि का तथा अन्तःकरण की सहायता से सुखादि का अनुभव करता है, वही आत्मा है । **तस्मिन्नेव० इत्यादि**— यदि आप उस आत्मा को ही मन शब्द से अभिहित करते हैं तो खूब कीजिये उससे हम सिद्धान्ती की कोई भी हानि नहीं होने वाली है । **किन्तु० इत्यादि**— यह बात दूसरी है कि आपके ऐसा करने पर सभी लौकिक व्यवहारों का बाध होगा । इस तरह से इस विषय पर और अधिक विचार करने से कोई भी लाभ नहीं है ।

मनस्तत्व विचार

मूल— **आह किमिदं मनो नाम ननु उक्तमान्तरं ज्ञानप्रकरणं द्रव्यमिति, किं पुनरस्य साधनं ननु उक्तं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति, उक्तं नाम तथाऽपि कथं तत्त्वान्तरसिद्धिः कल्पयित्वाऽपि हि तद्युगपत्स्मरणानुत्पत्त्युपपत्तये अवश्याश्रयणीयमेव निमित्तान्तरं, सन्ति हि युगपदस्य स्मर्तुर्नानार्थानुभवभाविताः संस्काराः । अथ च न सर्वे स्मर्यन्ते किंचिदेव कदाचित् स्मर्यते संस्कारोन्मेषहेतूपनिपातक्रमात्तथात्वमिति चेत् एवमपि प्रणिधानमात्रोद्बोधनीयसंस्कारस्य स्मृतियौगपद्यमापद्येत, यावदनुभूतसकलविषयसुस्मूर्षया सर्वतः प्रत्याहृतचेतसस्साधारण्येन प्रणिदधतोऽपि न सर्व एवार्थाः स्मृतिमधिरोहन्ति, यदि तु शुभाशुभरूपतया स्मरणानामदृष्टवशाद् व्यवस्थाक्रमः ज्ञानस्वाभाव्याद्वा आत्मनः तथा सति वहिरिन्द्रियेषु च यथायथं स्वविषयसंप्रयुक्तेषु तथैव युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिरुपपद्यत इति कृतमिन्द्रियान्तरेण ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अब मनस्तत्त्व पर विचार प्रारम्भ करते हुए श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी कहते हैं । **आह० इत्यादि**— मन क्या है ? इस पर कोई कहता है यह कहा जा चुका है कि आभ्यन्तर ज्ञान के साधकतम द्रव्य को मन कहते हैं फिर प्रश्न होता है कि इस मन को सिद्ध करने वाला प्रमाण कौन है ? तो इस पर कोई कहता है । **ननूक्तम्० इत्यादि**— यह भी कहा जा चुका है कि समकाल में ही अनेक ज्ञानों का नहीं उत्पन्न होना ही मन का साधक प्रमाण है । **उक्तं नाम० इत्यादि**— सिद्धान्ती कहते हैं यह कहा जा चुका है फिर भी यह प्रश्न है कि मन एक अतिरिक्त द्रव्य है, इसकी सिद्धि कैसे हाती है ? क्योंकि एक ही समय में अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति रूपी लिङ्ग के द्वारा मन के आभ्यन्तरेन्द्रिय रूप से सिद्धि हो जाने पर मन नाम का एक-एक अलग द्रव्य है, इसकी सिद्धि नहीं हो पाती है । **कल्पपित्वा० इत्यादि**— अर्थात् एक ही समय में सभी अनुभूत विषयों का स्मरण नहीं होता है । इसके लिए

इन्द्रियों के सहकारी रूप से किसी दूसरे साधन की कल्पना करनी ही पड़ेगी । **सन्ति हि० इत्यादि**— स्मरण करने वाले आत्मा को अनेक विषयों के अनुभव जन्य संस्कार के रहने पर भी **अथ च० इत्यादि**— फिर भी उन समस्त विषयों को स्मरण नहीं होता है । किसी भी विषय का किसी काल विशेष का ही स्मरण होता है यह क्यों ?। **संस्कारोन्मेष० इत्यादि**— इस पर यदि नैयायिक यह कहे कि जिस-जिस अनुभव का जैसे-जैसे संस्कार उन्मिषित होता है, उस क्रम में उसका स्मरण होता है। **एवमपि० इत्यादि**— ऐसा होने पर भी मन को सावधान करके चिन्तन करने पर सभी संस्कारों का उन्मेष हो जाता है । ऐसी स्थिति में एक ही समय में समस्त अनुभूत विषयों का स्मरण होना ही चाहिए । **यावदनुभूत० इत्यादि**— अनुभव किए गये समस्त विषयों का स्मरण करने की इच्छा से किसी को समस्त इन्द्रियों की वृत्ति को रोककर साधारण रूप से प्रणिधान (चिन्तन) करने पर भी सभी अनुभूत विषयों का स्मरण नहीं होता है ।

यदितु० इत्यादि-- यदि यह कहा जाय कि कुछ स्मरण शुभ होते हैं, और कुछ स्मरण अशुभ होते हैं । शुभ अनुभवों का स्मरण पहले होता और अशुभ अनुभवों का स्मरण बाद में होता है यह स्मरण का कारण अदृष्ट है । शुभ स्मरणों का कारण शुभा दृष्ट होता है और अशुभ स्मरणों का अदृष्ट अशुभ होता है । **क्रमज्ञान० इत्यादि**— अथवा यह कहा जाय कि आत्म कृत अनुभवों से जन्य स्मरणों का स्वभाव ही यह है कि वे क्रमशः होते हैं । तब तो यही क्यों न मान लिया जाय कि सभी बहिरिन्द्रियों के अपने विषयों से सम्पृक्त होने पर भी, चूकि ज्ञानों का यह स्वभाव होता है कि वे क्रमशः ही उत्पन्न होते हैं, एक समय में सभी ज्ञान नहीं होते हैं । फलतः मन नामक एक अतिरिक्त इन्द्रिय की कल्पना करने की कौन सी आवश्यकता है ? ।

इन्द्रियों की कल्पना करने की कौन सी आवश्यकता है ?

मूल— **स्यान्मतं कादाचित्कस्य सुखादेरात्मसमवायिनो वाह्यविषयादृष्टनिमित्तकारणस्यासमवायिकारणेन भाव्यम्, तच्च आत्ममनस्सन्निकर्ष इति मनोद्रव्यसिद्धिरिति तदसत् सुखदुःखा-दिपूर्वकालजन्मनः अभिमतानभिमतविषयसंपर्कजज्ञानस्यात्मसमवायिन एव असमवायिकारणत्वात् तस्य च विषयसंप्रयुक्तेन्द्रियसंप्रयोगएव आत्मसमवेतोऽसमवायिकारणं तद्धेतुरपीन्द्रियव्यापारः प्रयत्नमदृष्टं चात्मसमवेतमपेक्षमाणदात्मेन्द्रियसंन्निकर्षात् असमवायिकारणात् प्रयत्नस्य तु स्वपूर्वक्षणवतिकर्तव्यताज्ञानं प्रयत्न एव त्वदृष्टस्यापीति नात्मविशेषगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छादीनामसमवायिकारण-सापेक्षतयापि द्रव्यान्तरपरिकल्पनं न्याय्यम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्मतम् इत्यादि— यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि वाह्य विषयक सुख दुःख तो हमेशा नहीं होते हैं । वे कादाचित्क हैं । अर्थात् कभी-कभी होते हैं । ये सुख-दुःख आत्मा में समवाय सम्बन्ध से होते हैं । अदृष्टादिवशात् होने वाले इन सुख दुःखों का असमवायी कारण भी किसी को अवश्य होना चाहिए वह असमवायी कारण आत्ममनः सन्निकर्ष ही है । इस तरह मन के अतिरिक्त द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है । अतएव मन नामक अतिरिक्त द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए । **तदसत्० इत्यादि**— नैयायिकों का यह कथन उचित नहीं है । **सुखदुःख इत्यादि**— सुख दुःख के पहले होने वाले अभिमत तथा अनभिमत विषयों के सम्पर्क जन्य ज्ञान ही आत्मा में समवाय सम्बन्ध से होने वाले सुख तथा दुःख का असमवायी कारण है । **तस्य० इत्यादि**— विषय से संयुक्त इन्द्रियों का संयोग ही आत्मा में समवाय सम्बन्ध से होने वाले उस असमवायी कारण का असमवायी कारण है । **तद्धेतु० इत्यादि**— उस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का कारण, इन्द्रियों का व्यापार है तथा प्रयत्न और अदृष्ट हैं । **आत्मसमवेत० इत्यादि**— आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले आत्मोन्द्रिय सन्निकर्ष ये ही असमवायी कारण हैं । **प्रयत्नस्य०**

इत्यादि— प्रयत्न का असमवायी कारण इति कर्तव्यता का ज्ञान है । वह प्रत्यन के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती होता है । प्रयत्न ही अदृष्ट का भी कारण है । **इतिनात्मविशेषगुणनाम्० इत्यादि**— आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि के असमवायिकारण सापेक्ष होने पर भी मन नामक द्रव्यान्तर की कल्पना करना उचित नहीं है ।

नैयायिकाभिमत नवम द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती है

मूल— **यत्तु नित्यद्रव्यविशेषगुणस्य द्रव्यान्तरसंयोग एव असमवायिकारणं पार्थिवपरमाणुषु अग्निसंयोगादसमवायिकारणाद्रूपोत्पत्तेरिति तदपि स्थवीयः पार्थिवपरमाणुषु रूपादयोदहनसंयोगादिति कुतोऽवगतं ? कार्य्यद्रव्ये तथा दर्शनादिति चेत् इह वा तर्हि किं न दृश्यते इष्टानिष्टप्राप्त्यवगमादनन्तरं सुखादिर्जायत इति दृष्टकारणव्यभिचारे हि कारणान्तरानुमानावसरः, न चेहास्ति व्यभिचारः अतः प्रसिद्धकारणभावेष्वेव यत्र कार्यसमवायः तत्समवायिकारणम् यत्तु तत्प्रत्यासनं तदसमवायि यदन्यत्तन्निमित्तमिति व्यवस्थाश्रयणमुचितं न त्वनपेक्षिताप्रसिद्धद्रव्यान्तरसंयोगाभ्युपगमेन तस्यासमवायिकारणत्वाश्रयणं कारणान्तरानुपलब्धेः, दृष्टानुसाराच्च अणुगतरूपादौ तथाऽभ्युषगमः, इह तु तद्विपर्ययः प्रदर्शित एव एवमपि व्याप्तिबलेन यो द्रव्यान्तरसंयोगोऽनुमातव्यः स तर्हि स्पर्शवद्द्रव्य समवेतो भौतिक एव चोपलब्ध इति प्रसिद्धदेहादिसंयोग एवानुमानपर्यवसानान्नवमद्रव्यसिद्धि।**

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु० इत्यादि— नैयायिकों ने यह जो कहा है कि नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष गुणों का असमवायी कारण द्रव्यान्तर संयोग ही होता है । क्योंकि देखा जाता है कि पार्थिव परमाणुओं में अग्नि का संयोग होने पर ही उनके विशेष गुण रूप की उत्पत्ति होती है । अतएव विशेष गुणों का असमवायी कारण द्रव्यान्तर संयोग को ही मानना चाहिए, तो नैयायिको का यह कथन उनकी स्थूल बुद्धि की उपज है । **पार्थिव परमणिषु इत्यादि**— नैयायिक यह कैसे जानते हैं कि

पार्थिव परमाणुओं में रूप की उत्पत्ति अग्नि संयोग से ही होते हैं ? **कार्यद्रव्ये इत्यादि**— यदि वे कहें कि देखा जाता है कार्य द्रव्य घट में अग्नि के संयोग से ही रूप की उत्पत्ति होती है । **इहवा० इत्यादि**— इस पर नैयायिकों का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं तो क्या वे यह नहीं देखते हैं कि आत्मा के विशेष गुण सुख-दु;ख आदि की उत्पत्ति इष्ट वस्तु तथा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति के ज्ञान के बाद ही होती है । **दृष्टकारण० इत्यादि**— वास्तविकता यह है दृष्ट कारण का व्यभिचार होने पर ही अदृष्ट कारण की कल्पना करनी चाहिए । किन्तु अभिमत तथा अनभिमत वस्तु के ज्ञान सुख दुःखादि की उत्पत्ति में कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जाता है । अतएव उस मवायी कारण का यही लक्षण है कि दृष्टकारण करे रहने पर ही जहाँ पर कार्य समवाय सम्बन्धवान् होता है, वह उसका असमवायी कारण होता है ।

यत्तु० इत्यादि— नैयायिकों ने यह जो कहा है कि समवायि कारण के प्रति जो सन्निकष्ट होता है वही असमवायी करण होता है तथा जो समवायी कारण तथा असमवायी कारण इन दोनों से भिन्न होता है, उसे निमित्तकारण होता है । इस तरह की व्यवस्था को स्वीकार करना उचित ही है । **न तु० इत्यादि**— द्रव्यान्तर संयोग तो अप्रसिद्ध तथा अनपेक्षित है उस द्रव्यान्तर संयोग को असमवायी कारण मानना उचित नहीं है । **कारणान्तर० इत्यादि**— चूकि घट द्रव्य में रूप नामक गुण की उत्पत्ति कोई दूसरा कारण उपलब्ध नहीं होता है । अग्नि संयोग होने पर ही उसमें रूप की उत्पत्ति होती है, और यह दर्शनानुकूल भी है । अतएव अग्नि के संयोग को घट द्रव्य में रूप की उत्पत्ति का कारण मानना उचित ही है । **इह तु इत्यादि**— सुखादि की उत्पत्ति में तो आत्मा का मन से संयोग को असमवायी कारण मानना दृष्ट के विपरीत है । देखा यही जाता है कि जब-जब अभिप्रेत तथा अनाभिप्रेत वस्तु का ज्ञान होता है, तो उससे ही सुख तथा दुःख की उत्पत्ति होती है । इस बात को हम स्पष्ट भी कर चुके है ।

एवमपि० इत्यादि— यदि द्रव्यान्तर संयोग तथा विशेष गुणों की

उत्पत्ति में यत्र-यत्र द्रव्यान्तर संयोग तत्र-तत्र विशेष गुणोत्पत्तिः इस तरह की व्यापि स्वीकार करने पर भी नैयायिक द्रव्यान्तर संयोग को ही असमवायी कारण रूप से अनुमान करें तो उस द्रव्यान्तर को भौतिक ही मानना चाहिए । अतएव भौतिक देह आदि के संयोग को ही सुखादि की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए । देखा जाता है कि शरीर विशिष्ट ही आत्मा में सुखादि की उत्पत्ति होती है । फलतः नैयायिकाभिमत नामक द्रव्य मन की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

मन के भौतिकत्व की सिद्धि

मूल— **अथोच्येत भौतिकत्वे हि मनसः पृथिव्याद्यन्यतमत्वेन भवितव्यम्, तच्चानुमानान्तरैर्व्यतिरेकमापादयद्भिः प्रत्यासिद्धम् । तथा हि न पार्थिवं मनः रसावगमनिमित्तेन्द्रियत्वात् रसनावत्, न पाथसीयं गन्धग्रहणनिमित्तेन्द्रियतवात् घ्राणवत् एवम् अतैजसत्वाद्यपि तत्तदिन्द्रियागोचरग्रहणनिमित्ततया शक्याध्यवसानमिति अभौतिकत्वं मनस इति, तदनुपपन्नं धर्मिविशेषविपरीतसाधनात् रसावगम-निमित्तेन्द्रियत्वमपार्थिवत्वमिव पाथसीयत्वमपि समर्थयति, एवं साधनान्तराण्यपि भूतान्तरव्यतिरेकमिव आत्मीयभूतभावमापादयन्ति। अथ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यद्गुणग्राहि यदिन्द्रियं तदेव तद्गुणक-भूतारब्धं, हन्त तर्हि तदेव तदितरभूतव्यतिरेकितयाऽप्यवगतमिति न तदवगमकतामात्रेणाभिमतव्यतिरेकसिद्धिः । अपि च शब्दादि-गुणावगमसाधारणसाधनतया शरीरमिव पाञ्चभौतिकमेकद्वित्रादिमयं वा इतरभूतसंसृष्टमस्तु मनः, यथाऽऽम्नायते अन्नमयं हि सोम्य मन इति । ननु तन्न तत्प्रकृतित्वप्रतिपादनपरम् अपितु तदधीनवृत्ति-तामात्रप्रदर्शनार्थम् आपोमयः प्राणःइत्यादिवत् अत एव अपवर्ग-दशायामपि मनोऽनुवृत्तिः, दर्शितं हि तत्रैवाष्टमे मनसैतान्कामान् पश्यन् रमते मनोऽस्य दैवं चक्षुः इति तथा परम्याश्च देवतायाः सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत इति महोपनिषदि, मनसैव जगत्**

सृष्टिम् इति च पुराणे उच्यते सत्यमेवं द्रव्यान्तरपरिकल्पनातो वरमेवं वाश्रयणमित्युक्तं, परमार्थतस्तु न भौतिकं नापि नवमं द्रव्यं क्व तर्हीदानीं मनःशब्दः बुद्धावेव अत एव हि बुद्धिमान् मनस्वी इति व्यपदिश्यते मनसोऽवस्थाभेदाश्च द्रागेवापरोक्ष्यन्ते क्षुभितं मे मनः प्रसन्नं मे मनः इति, एवं च मनसः करणतया व्यपदेशो बुद्ध्यहङ्कारयोरिव वृत्तिभेदप्रदर्शनपरः पूर्वेषामिति । उच्यते यदि बुद्धिरेव मनः यदि वा द्रव्यान्तरम् उभयथाऽपि तस्य न चेतनत्वमिति किमनेनाप्रतिज्ञातस्वरूपविमर्शेन ।

तत्त्वप्रकाशिका— अथोच्येत० इत्यादि— यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि मन को भौतिक मानने पर तो मन का अन्तर्भाव पृथिवी इत्यादि में से किसी एक भूत में होना चाहिए । **तच्च० इत्यादि—** मन के पृथिव्यादि में से किसी भी भूत में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि व्यतिरेकानुमानों के द्वारा मन पृथिव्यादि भूतों से भिन्न रूप से ही सिद्ध होता है । अतएव उन अनुमानों के द्वारा मन के भौतिकत्व का निषेध ही होता है । **तथाहि० इत्यादि—** उन अनुमानों का स्वरूप इस प्रकार का है । **नपार्थिवम्० इत्यादि—** १. मन पार्थिव नहीं है, क्योंकि वह रसज्ञान का साधन भूत इन्द्रिय है । रसनेन्द्रिय के समान । **२. नमाथसीयम्० इत्यादि—** मन जलीय नहीं है, क्योंकि वह गन्ध ग्रहण का साधन भूत इन्द्रिय है । घ्राण के समान । **एवमित्यादि—** इसी तरह से उसके तैजसत्वादि से भिन्नत्व की सिद्धि हो जाती है । विभिन्न इन्द्रियों के विषयों की ग्राहक इन्द्रिय होने के कारण रूप से उसका निश्चय किया जा सकता है अतएव मन भौतिक नहीं है ।

तदनुपपन्नम्० इत्यादि— तो नैयायिकों का यह कथन ठीक नहीं है । **धार्मि विशेष० इत्यादि—** क्योंकि मन धर्मी विशेष के विपरीत अर्थ के ज्ञान का साधन है । **रसावगम० इत्यादि—** यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मन पार्थिव है, क्योंकि वह गन्ध ग्रहण का साधन भूत इन्द्रिय है । इसीतरह से रस ग्रहण का साधन भूत इन्द्रिय होने के कारण वह जलीय सिद्ध होता है । रूप ग्रहण का कारण भूत इन्द्रिय होने के

कारण तैजस सिद्ध होता है, स्पर्श ग्रहण का कारण होने के कारण मन वायवीय तथा शब्द ग्रहण का कारण होने के कारण आकाशीय सिद्ध होता है ।

अथ शब्दस्पर्श० इत्यादि— यहाँ पर यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इनमें से जिस गुण का ग्रहण करने वाली जो इन्द्रिय होती है वही उस गुण वाले भूत से उत्पन्न होती है । अतएव मन के पार्थिवत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है । तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं— **हन्त तर्हि० इत्यादि**— अर्थात् जिस भूत के गुण का ग्राहक जो इन्द्रिय होती है, वही दूसरे भूतों से भिन्न ज्ञात होती है अतएव दूसरे भूत के गुण का ग्राहक होने मात्र से विभिन्न भूतों के गुण के ग्राहक मन की तत्-तत् भूतों से भिन्नता की सिद्धि नहीं हो सकती है । **अपि च० इत्यादि**— किञ्च मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन सभी गुणों के ग्रहण का साधन होने के कारण शरीर के ही समान वह भी पाञ्च भौतिक है । **यथाम्नायते** जैसा कि श्रुति कहती भी है **अन्नमयं सोम्यमनः** अर्थात् हे सोमरसपानार्ह सच्छिष्य यह मन अन्नमय (पार्थिव) है । यह श्रुति मन को पार्थिव बतलाती है इस श्रुति के अन्यार्थ परत्व की शङ्का करते हुए नैयायिक कहते हैं— **'तन्न' ० इत्यादि**— अर्थात् सिद्धान्ती का उपर्युक्त कथन इसलिए ठीक नहीं है कि उपर्युक्त श्रुति मन का पृथिवी प्रकृतिक बतलाकर उसको पार्थिव नहीं बतलाती है । **अपितु० इत्यादि**— अपितु यह श्रुति यह बतलाती है कि मन की वृत्ति अन्न के अधीन होती है । अर्थात् अन्न के रस से आप्यायित्त रहने पर ही मन के द्वारा सङ्कल्प विकल्पादि रूप कार्य होते हैं।

यह उसी तरह होता है जिस तरह **आपोमयः प्राणः** यह श्रुति बतलाती है कि जल के रस से आप्यायित ही प्राण की सारी वृत्तियाँ होती हैं । **अतएव० इत्यादि**— चूकि मन भौतिक नहीं है, इसीलिए वह मुक्ति की अवस्था में भी आत्मा के साथ सदा बना रहता है । **दर्शितम्० इत्यादि**— छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में कहा भी गया है **मनसैतान् सर्वान् कामान् पश्यन् रमते** । अर्थात् मुक्त जीव

अपने मन के ही द्वारा समस्त भोग्य पदार्थों का अनुभव करते हुए श्रीभगवान् लोक में आनन्दानुभव करता है । **मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः** अर्थात् इस मुक्त जीव का मन ही दिव्य नेत्र है । **तथापरस्याश्च० इत्यादि**— किञ्च महोपनिषद में भी पर देवता श्रीभगवान् के मन को बतलाते हुए श्रुति कहती हैं **सोन्यं कामं मनसाध्यायीत्** अर्थात् उस परंब्रह्म परमात्मा ने मन से ही दूसरे काम्य पदार्थ का सत्य सङ्कल्प किया । इसी तरह श्रीविष्णुपुराण में भी कहा गया है कि **मनसैव जगत् सृष्टम्** अर्थात् उन श्रीभगवान् ने मन से ही सत्य सङ्कल्प के द्वारा जगत् की सृष्टि कर दी। अतएव मन नामक द्रव्य भौतिक नहीं होकर दिव्य है ।

उच्यते० इत्यादि— नैयायिकों को उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं । **सत्यमेवम्** अर्थात् नैयायिकों का उपर्युक्त प्रतिपादन अर्द्ध सत्य है । मन को एक अलग द्रव्य मानने की अपेक्षा मन की वृत्ति को अन्न रसाप्यायित मानना या दिव्य मानना श्रेष्ठ है । **परमार्थस्तु० इत्यादि**— वास्तविकता है कि मन न तो भौतिक है और न नवाँ द्रव्य है । **क्वतर्हि० इत्यादि**— इस पर नैयायिक पूछते हैं कि किस अर्थ को बतलाने के लिए मन शब्द का प्रयोग होता है ? इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि मन शब्द के द्वारा बुद्धि का ही अभिधान होता है । यही कारण है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को मनस्वी कहा जाता है । मुक्त तथा ईश्वर के बुद्धिमान होने के कारण ही उन दोनों को मन से युक्त कहा गया है । मुक्तात्मा और ईश्वर को जहाँ कहीं भी मन से रहित बतलाया गया है, वहाँ शास्त्र का अभिप्राय है कि परमात्मा और मुक्त जीवों की बुद्धि की वृत्ति कर्म जन्य नहीं होती है । **मनसः इत्यादि**— मन की विभिन्न अवस्थाओं का लौकिक प्रत्यक्ष भी होता है । लोग कहते है मेरा मन क्षुब्ध हो गया है। मेरा मन प्रसन्न है इत्यादि मन की प्रसन्नता आदि का साक्षात्कार प्रत्यक्ष बुद्धि को ही अपना विषय बनाता है । वह अतीन्द्रिय मन विषयक नहीं है । यहाँ पर बुद्धि शब्द से ज्ञान को ही गया है । यदि नैयायिक यह कहें कि यदि बुद्धि के ज्ञान को ही मन शब्द से अभिहित किया जाता है तो फिर मन को अन्तःकरण कैसे कहा जाता है तो इसका उत्तर देते

हुए सिद्धान्ती कहते हैं **एवं च० इत्यादि**— जिस तरह से मन शब्द से बुद्धि तथा अहङ्कार का अभिधान होता है उसी तरह से मन को अन्त:करण भी कहा जाता है । दूसरे वादी भी यही मानते हैं कि विषयों की स्मृति आदि का कारणभूत व्यापार करने पर बुद्धि को ही अन्त:करण कहा जाता है । जब किसी अर्थ का निश्चय बुद्धि करती है तो वह बुद्धि कहलाती है । इसी तरह मन को अन्त:करण और बुद्धि शब्द से अभिहित किया जाता है । अतएव वृत्ति के भेद को ही बतलाने के लिए बुद्धि को मन और अहङ्कार भी कहा जाता है । यह पूर्वाचार्यों का अभिप्राय है ।

उच्यते० इत्यादि— अन्त में अपने कथन का उपसंहार करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं । यदि बुद्धि को ही मन कहा जाता है अथवा यदि मन द्रव्यान्तर भी हों तो भी दोनों ही प्रकार से मन के आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतएव जिसकी प्रतिज्ञा नहीं की गयी है, उस मनस्तत्व के स्वरूप का अब अधिक विचार करने से कोई लाभ नहीं है ।

प्रणात्मवाद का प्रतिपादन

मूल— **अस्तु तर्हि प्राण एवात्मा, तथा सति तदन्वयिनिशरीरे सात्मकत्वप्रतीतिः तद्विरहिणि निरात्मकत्वप्रतीतिश्च उपपद्येयातां देहादुत्क्रान्तिर्लोकान्तरगमनं देहान्तरसंचारश्च उपपद्यन्तेतरां गत्वरस्वभाव्यात् प्राणस्य, इतरथा परममहतो महतश्च स्पर्शविरहिणः परिस्पन्दानुपत्तेः उत्कक्रान्तिगत्यागतिश्रुतयोभाक्ताः स्युः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अस्तुतर्हि० इत्यादि— प्राणात्मवादी चार्वक कहते हैं । यद्यपि देह, इन्द्रिय तथा मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है, किन्तु प्राण को आत्मा मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए । **तथा सति० इत्यादि**— प्राण को ही आत्मा इसलिए मानना चाहिए कि जब तक शरीर के भीतर प्राण विद्यमान रहता है तब तक यह कहा जाता है कि यह जी रहा है । जिस समय शरीर से प्राण निकल जाता है उस मनुष्य को मरा हुआ कहा जाता है । इस तरह की प्रतीति और

व्यवहार दोनों होते हैं। **देहादुत्क्रान्ति० इत्यादि**— चूकि प्राण का गतिशील स्वभाव है, इसीलिए प्राणात्मा का शरीर से निष्क्रमण, तत्-तत् लोकों में गमन तथा दूसरे देह में संचरण भी प्राणात्मा का होता है। **इतरथा० इत्यादि**— यदि प्राण को आत्मा नहीं माना जाय तो परम महान् तथा अमहत् (अणु) आत्मा जो स्पर्श से रहित है, उसमें परिस्पन्द नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की उत्क्रान्ति तत्-तत् लोकों में गमन तथा तत्-तत् लोकों से मर्त्य लोक में पुनः आगमन का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों को भाक्त (लाक्षणिक) मानना पड़ेगा। फलतः प्राण को ही मानना चाहिए।

प्राणात्मवाद का खण्डन

मूल— **इदमप्यसत् वायुत्वादेव वाह्यवायुवत् प्राणस्य चैतन्यानुपपत्तेर्वृत्तिहीनेऽपि आत्मनि सुषुप्तौ प्राणस्य वृत्तिमत्वाच्च तद्वृत्या हि सुप्तस्यापि सप्तधातुभावेनाशितपीतद्रव्यपरिणामः श्वासप्रश्वासौ च तनुतरतेजोऽबन्नानुविद्धः कौष्ठ्यमारुतो हि प्राणः, स च कण्ठमुखनासाभ्यन्तरे वहिश्चरेचितः त्वचा स्पृश्यमानो घटादिरिव स्फुटमात्मतया चकास्ति। किञ्च—**

निरस्तो देहचैतन्यप्रतिषेधप्रकारतः।
प्राणात्मवादो न पृथक् प्रयोजयति दूषणम् ॥९॥

अविभुत्वेनास्यातमनः स्पर्शाविरहिणोऽपि प्रयत्नादृष्टप्रेरणानुगुण्येन मनस इव उत्क्रान्तिगत्वादयो युजयन्ते इति न तन्निर्देशानां मुख्यार्थता परिमाणनिरूपेणऽप्येतद्भविष्यतीत्यलमधुना।

तत्त्वप्रकाशिका— इदमप्यसत्० इत्यादि— प्राणात्मवादियों का उपर्युक्त कथन ठीक नही हैं। **वायुत्वादेव० इत्यादि**— प्राण का गुणज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि वायु विशेष को ही प्राण शब्द से अभिहित किया जाता है। जिस तरह शरीर से बाहर की वायु का गुण ज्ञान नहीं है, उसी तरह इस प्राणवायु का भी गुण ज्ञान नहीं है और ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है। ज्ञान रहित होने के कारण प्राण को आत्मा नहीं

माना जा सकता है । **वृत्तिहीने० इत्यादि**— प्राण को इसलिए भी आत्मा नहीं माना जा सकता है कि सुषुप्ति काल में आत्मवृत्ति हीन हो जाता है । लेकिन यह देखा जाता हैं कि सुषुप्ति काल में भी प्राण गतिमान रहता है । अतएव प्राण को आत्मा नहीं माना जा सकता है । **तद्वृत्त्या० इत्यादि**— सुषुप्ति काल में भी प्राण के गतिमान रहने के कारण ही खाये तथा पिये हुए अन्न जल का सप्त धातुओं के रूप में परिणाम होता है, तथा श्वास एवं नि;श्वास की क्रियाएँ होती हैं । **तनुतर० इत्यादि**— अत्यल्प पृथिवी जल तथा तेज के अंश से युक्त कुक्षि के भीतर रहने वाले वायु विशेष को ही प्राण कहते हैं । **स च० इत्यादि**— वही वायु कण्ठ, मुख तथा नाक के भीतर रेचित होती है, तथा शरीर से बाहर उसका त्वगिन्द्रिय से घटादि के समान स्पर्श भी होता है । अतएव जिस तरह घटादि आत्मा नहीं है, उसी तरह से प्राण भी आत्मा से भिन्न प्रतीत होता है ।

किञ्च० इत्यादि— जिस तरह देह के ज्ञान गुणकत्व का निषेध किया जा चुका है उसी तरह से प्राण के भी ज्ञान गुणकत्व का निषेध हो जाता है । अतएव प्राणात्मवाद में होने वाले दूसरे दूषण को उपन्यस्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

प्राणात्मवादी ने अपने पूर्वपक्ष में यह जो कहा है कि प्राण से भिन्न को आत्मा मानकर उसको चाहे पर महान् माना जाय या अणु माना जाय, दोनों ही स्थिति में उसका स्पर्श नहीं होने के कारण आत्मा की उत्क्रान्ति आदि का होना सम्भव नहीं होने से आत्मा की उत्क्रान्ति, गति तथा आ गति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों को भाक्त मानना होगा तो ऐसी बात इसलिए नहीं है कि आत्मा यद्यपि अणु परिमाणक है तथा स्पर्श रहित भी है फिर भी जिस तरह अदृष्ट से प्रेरित मन का उत्क्रमणादि होता है उसी तरह से आत्मा के भी अदृष्ट प्रेरित होने के कारण उसका उत्क्रमण आदि सम्भव है । अतएव उन श्रुतियों को भाक्त मानने का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है । इस बात की विस्तृत चर्चा आत्मा के परिमाण निरूपण के अवसर पर हम करेंगे अतएव इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है ।

संविदात्मवाद का निरूपण

मूल— **भवतु तर्हि संविदेवात्मा अजडत्वात् जडत्वप्रतिवद्धं ह्यनात्म्यं घटादिषु दृष्टं, जडत्वं च संविदो निवर्त्तमानं तदपि निवर्तयति, अजडत्वं च संवित्सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्, न हि सती संवित् घटादिरिवाप्रकाशमानाऽबतिष्ठते, येन परायत्तसिद्धिरास्थीयेत ।**

तत्त्वप्रकाशिका— भवतु० इत्यादि— यदि देह, इन्द्रिय मन तथा प्राण आत्मा नहीं हो सकते हैं तो फिर संवित् को ही आत्मा मान लेना चाहिए क्योंकि संवित् अजड़ा है । यहाँ पर अनुमान का रूप है । संवित् आत्मा है, क्योंकि वह अजड़ा है । देखा जाता है कि जो जड़ होता है, वही अनात्मा होता है जेसे संवित् अजड घटादि होने के कारण आत्मा हैं । **जडत्वम्० इत्यादि—** चूकि संवित् में जड़त्व नही हैं, अतएव उसमें अनात्मत्व भी नहीं है । **अजडत्वम्० इत्यादि—** संवित् इसलिए अजड है कि वह अपनी सत्ता मात्र से ही प्रकाशित होती रहती है । **नहि० इत्यादि—** ऐसा कभी नहीं होता कि संवित् (ज्ञान) रहे और वह घट आदि के समान प्रकाशित हो । संवित् स्वयम् प्रकाश है । वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं रखती है। इस तरह के स्वभाव से युक्त होने के कारण संवित् पराधीन प्रकाशवाली नहीं सिद्ध हो सकती है । जो पराधीन प्रकाश वाला होता है, वही अनात्मा होता है । संवित् तो स्वाधीन प्रकाश वाली है अतएव वह आत्मा है ।

भाट्ट मीमांसकों के संविदानुमेयत्ववाद का प्रतिपादन

मूल— **स्यान्मतं जातायामपि संविदि विषयमात्रं, प्रथते न खलु नीलमिदमिति प्रतियन्तस्तदैवानीलमनिदंरूपमपि संवेदने प्रतीमः अतः स्वरूपसत्त्यैव संविदा इन्द्रियसंनिकर्षेणेव विषयः प्रकाश्यते, ततश्च तद्गतागन्तुकप्रकाशातिशयदर्शनिन पश्चात् संविदनुमास्यत् इति।**

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्मतम्० इत्यादि— यदि भाट्ट मीमांसक

यह कहें कि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी केवल विषय की ही प्रतीति होती है। **न खलु० इत्यादि**— जिस समय यह नील (घट है) इत्यादि रूप से जिसको प्रतीति होती है उसी समय उसको नील व्यतिरिक्त इदं शब्द से नहीं कहे जाने वाले संवेदन (ज्ञान) की प्रतीति नहीं होती है। **अतः इत्यादि**— अतएव स्वरूपतः विद्यमान संवित् के द्वारा इन्द्रिय सन्निकर्ष पुरस्सर विषय ही यह घट है, इत्यादि रूप से प्रकाशित होता है। **ततश्च० इत्यादि**— उसके पश्चात् उस विषय में प्रकाश नामक आगन्तुक धर्म उत्पन्न हो जाता है। इस धर्म को ही प्रकाशता शब्द से अभिहित किया जाता है। विषय में उद्भूत उस प्रकाशातिशय्य को देखकर उसके द्वारा घटादि विषयक ज्ञान का अनुमान किया जाता है। उस अनुमान का स्वरूप है कि मुझको घट विषयक ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान विषय भूत घट का मुझको प्रकाश हो रहा है।

संवित् के अनुमेयत्व का खण्डन

मूल— **तत्र ज्ञानव्यतिरेकिणोऽर्थधर्मस्य प्रकाशस्य निपुणमपि निरीक्षमाणानां रूपादिवदनुपलब्धेः, उभयाभ्युपेतसंविदैव सकलव्यवहारोपषत्तौ च तत्कल्पनानुपपत्तेर्वित्तिवेदितृप्रतिभासशून्यायां च विषयवित्तावभ्युपगम्यमानायां घटस्तावदयमहं तु जानामि न वेति न ज्ञायत इति च कदाचित्प्रतिभासः स्यात्, न चैवमस्ति, अतीताऽनागतविषयग्रहणस्मरणेषु व्याहारव्यवहारयोरभावे भावेऽपि ततः प्रागेव विदितत्वप्रतीतेः नानुमानिकी तत्र विषयसिद्धिः नतरां तत्पूर्विका तत्र बुद्धिसिद्धिः, तथा हि केनाचित्प्रेरितः प्रणिधाय स्मृत्वाऽनन्तरमेव प्रतिवदति स्मृतमद्य मयेति न चायमेव व्याहारस्तत्र लिंग तत्पूर्वकत्वादन्योन्याश्रयणापत्तेश्च स्वव्याहारेण स्वज्ञानानुमानं क इव निरपत्रपः प्रतिजानीत।**

तत्त्वप्रकाशिका— ज्ञानानुमेयत्ववादियों का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। **ज्ञानव्यतिरेकिणः० इत्यादि**— जिस समय घटादि विषयों का ज्ञान होता है, उस समय ज्ञान से भिन्न प्रकाश नामक धर्म की अच्छी

तरह से निरीक्षण करने पर भी उपलब्धि नहीं होती है । यदि विषय में ज्ञातता नामक भी धर्म होता तो उसकी भी उसी तरह से उपलब्धि होती है जिस तरह से घटादि के रूप इत्यादि की उपलब्धि होती है ।

उभयाभ्युयेत० इत्यादि— ज्ञानात्मवादियों के ही समान भाट मीमांसक भी यही मानते हैं कि संवित् के ही द्वारा ही सभी विषयों का ज्ञान होता है । चूकि सभी व्यवहारों की सिद्धि संवित् के ही द्वारा होती है, इसलिए अनावश्यक ज्ञातता की कल्पना करने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । **वित्तिवेदितृ० इत्यादि**— ज्ञाता तथा ज्ञान की प्रतीति से रहित विषयों के ज्ञान में किसी को कभी भी यह घट है । किन्तु इसको मैं जानता हूँ कि नहीं, इस प्रकार का संशय मुझको है । यह भी ज्ञान होता है कि मैं इसको नहीं जानता हूँ । इस तरह की प्रतीति होती तो फिर विषय में ज्ञातता नामक धर्म को स्वीकार करके उसके ज्ञान का अनुमान किया जाता है । **नचैवम्० इत्यादि**— किन्तु इस तरह की प्रतीति किसी को भी नहीं होती है । अतएव ज्ञातता नामक धर्म के द्वारा ज्ञान के अनुमान को नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

अतीतानागत० इत्यादि— किञ्च भूत कालिक तथा भविष्यत् कालिक विषयों के ज्ञान तथा स्मरण में व्यवहार (शब्द विषयक व्यवहार) तथा व्यवहार (शरीर विषयक संग्रह तथा त्याग रूपी व्यवहार) ये दोनों रहे या न रहें, फिर भी व्यवहार तथा व्यवहार से पहले ही चूकि उन विषयों की प्रतीति हो गयी रहती है अतएव उन ज्ञानों के विषयों का ज्ञान आनुमानिक नहीं स्वीकार किया जा सकता है और न तो ज्ञान के ही अनुमेयत्व की सिद्धि हो सकती है । **तथाहि० इत्यादि**— कहने का अभिप्राय यह है कि जब कोई किसी को किसी वस्तु का स्मरण करने के लिए प्रेरित करता है तो वह प्रेर्य व्यक्ति सावधान न होकर उसका स्मरण करने के बाद ही उत्तर देता है कि हाँ आज मैंने उसे स्मरण कर लिया । **न चायम्० इत्यादि**— इस प्रकार का जो व्यवहार होता है, वह व्यवहार ही उस ज्ञान के अनुमान का लिङ्ग नहीं हो सकता है । क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार तो स्मरण करने के बाद ही होता है ।

यदि इस व्यवहार को स्मृति का कारण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष भी होगा । अन्योन्याश्रय दोष का स्वरूप यह होगा जब पहले स्मरण हो जाय तो व्याहार हो और व्याहार हो तो स्मरण हो । ज्ञान तो स्वयम्प्रकाश हैं अतएव उसके द्वारा उसके ज्ञातत्व की सिद्धि हो जाती है । **स्वव्याहारेण० इत्यादि**— कौन ऐसा निर्लज्ज होगा जो अपने वाग्व्यहार के द्वारा अपने ज्ञान का अनुमान होता है इस तरह की प्रतिज्ञा करेगा ? ।

संवित् के स्वयम्प्रकाशत्व तथा आत्मत्व की सिद्धि

मूल— **अन्यच्च यत्संबन्धादर्थान्तरे यो व्यवहारः धर्मभेदोवा स तस्मिन्नुपलभ्यमानस्तत्स्वरूपप्रयुक्तः न तु तत्सम्बन्धनिबन्धनः यथा सत्तासंबन्धात् पृथिव्यादिषु सद्व्यवहारः रूपसंबन्धाच्चाक्षुषत्वं सत्तायां रूपे च, एवं संवित्संबन्धात् प्रवर्तमानो घटादिषु प्रकाशत इति व्यवहारः प्रकाशमानत्वं वा धर्मः, संविदि तु परिदृश्यमानो न संवित्संबन्धापेक्षः, अपि तु तत्स्वरूपप्रयुक्त इति स्वयंप्रकाशत्वात् सैवात्मेति । किञ्च योऽपि संविदोऽन्यं संवेदितारमभ्युपगच्छति अभ्युपगच्छत्येवासौ संविदं, न ह्यसत्यामेब संविदि संवेत्तीत्युपपद्यते एवं चेदुभयवादिसंप्रतिपन्नतया सैव परं वेदित्री भवतु किमन्येन कल्पितेन ।**

तत्त्वप्रकाशिका— जिसके सम्बन्ध से उससे भिन्न वस्तु में जो व्यवहार होता है अथवा दूसरा धर्म उत्पन्न हो जाता है, उसमें उपलब्ध होने वाला वह धर्म भेद अथवा व्यवहार उसका स्वरूपगत धर्म होता है। वह उसके सम्बन्ध के कारण नहीं होता है । जैसे सत्ता का जब पृथिवी इत्यादि सम्बन्ध होता है तो पृथिवीसत् कहलाती है । तथा रूप का जब घटादि पदार्थों से सम्बन्ध होता है तो घट चक्षुरिन्द्रियग्राह्य हो जाता है। यत् एव सत् इस तरह का व्यवहार सत्ता का स्वरूपगत होता है । इसी तरह से चाक्षुषत्व भी रूप का स्वरूपगत धर्म है । **एवमित्यादि**— इसीतरह जब सवित् का घटादि से सम्बन्ध होता है, तो घट प्रकाशित होता है यह व्यवहार होता है, तथा संवित् के सम्बन्ध के कारण ही

घटादि में प्रकाशमानत्व धर्म उत्पन्न होता है । इस तरह संवित् का अपना प्रकाशकत्व तथा प्रकाशमानत्व स्वरूप गत धर्म है यह देखा जाता है किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध के कारण उसमें स्वेत्तर समस्त वस्तु प्रकाशकत्व तथा स्वेतर समस्त वस्तु व्यवहारोपपादकत्व नहीं आता है । इस तरह स्पष्ट है कि संवित् स्वयं प्रकाश है । स्वयम्प्रकाश होने के कारण संवित् ही आत्मा है । **किञ्च० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि जो कोई भी संवित् अतिरिक्त संवेदिता (ज्ञाता) को आत्मा मानता है वह भी संवित् को मानता ही है । **नह्यसत्या० इत्यादि**— ऐसा होना सम्भव नहीं है कि संवित् (ज्ञान) को नहीं रहने पर भी संवेत्ति (जानता हू) इस तरह का व्यवहार हो सके । **एवम्० इत्यादि**— यदि ऐसी बात है तो हम (ज्ञानात्मवादी) और ज्ञात्रात्मवादी दोनों के द्वारा स्वीकार की जाने वाली संवित् को ही ज्ञात्री मान लेना चाहिए । संवित् व्यतिरिक्त ज्ञाता कल्पना करने से कोई लाभ नहीं है । इस प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो गया कि संवित् स्वयम्प्रकाश है तथा स्वयम्प्रकाश होने के कारण वही आत्मा है ।

संविदात्मवाद का उपसंहार

मूल— **ननु अहं जानामीति ज्ञानातिरिक्तस्तदाश्रयभूतोऽयमात्मा प्रतीयते, सत्यं स तु विकल्परूपतया साक्षात् प्रत्यक्ष इति न शक्यः संश्रयितुं भेदज्ञानसिद्धवत्कारेण पृथग्वस्तुतया गृहीताव्यभिचारेण सहोपलम्भनियमेनाप्रकाशात्मनश्च स्वभावविरोधादेव प्रकाशायोगात् प्रकाशस्वाभाव्ये च संवेदनत्वमित्यादिना वा प्रकाशात्मनोऽह-मित्यंशस्यतत्त्वमेव दुरुपगमं ग्राह्यविकल्पप्रत्युद्धारेऽप्येष एव प्रकारः अतोवासनाभिधानसमनन्तरप्रत्ययसामर्थ्यात् अनाद्यविद्यावशाच्च समारोपितावास्तवग्राह्यग्राहकविकल्पोल्लेखिनी स्वयं प्रकाशा संविदेव परमार्थसती सैव आत्मेति सौगताः प्रकटाः, प्रच्छन्नाश्च।**

तत्त्वप्रकाशिका— नन अहम्० इत्यादि— यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि मैं जानता हूँ इस तरह से होने वाली प्रतीति में ज्ञान के

अतिरिक्त उसका आश्रय ज्ञाता अहार्थ की ही आत्मा रूप से प्रतीति होती है । ज्ञान तो उसके धर्म रूप से प्रतीत होता है । फलतः धर्मी अहमर्थ को ही आत्मा मानना चाहिए ज्ञान को नहीं तो इसका उत्तर देते हुए ज्ञानात्मवादी कहते हैं सत्यम् । अर्थात् आपका कथान पूर्ण रूप से सत्य नहीं है । **सतु० इत्यादि**— ज्ञाता के तो भेद स्वरूप होने के कारण उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाण से नहीं हो सकती है । **भेदज्ञान० इत्यादि**— कहीं पर भेद ज्ञान को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करने पर भी अपृथग् वस्तु रूप से जिसमें व्याप्ति ग्रह भी हो जाता है किन्तु यह सहोपलम्भ नियम के कारण ही होता है । किन्तु अहमर्थ स्वभावतः प्रकाश रहित है । फलतः उसका प्रकाश स्वरूप संवित् से स्वभावतः विरोध है । फलतः उसमें प्रकाश का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । **प्रकाशस्वाभाये० इत्यादि**— यदि उस अहमर्थ को प्रकाश स्वभाव वाला माने तब तो यह संवेदन ही होगा ।

प्रकाशात्मनः इत्यादि— प्रकाश स्वरूप अहमंश का अस्तित्व ही दुर्ग्राह्य है । **ग्राह्येत्यादि**— ग्राह्य घटादि रूप भेद का भी प्रत्युद्धार करने का भी यही प्रकार है । अब प्रश्न उठता है कि यदि ग्राह्य तथा ग्राहक दोनों संवित् ज्ञान से अभिन्न हैं तो ज्ञाता तथा ज्ञेय की ज्ञान से भिन्न रूप से प्रतीति कैसे होती है । तो इसका उत्तर देते हुए कहते हैं **अतोवासना० इत्यादि**— अर्थात् वासना रूपी दोष के करण अथवा अनादि अविद्या के कारण ही ज्ञान में ग्राह्य तथा ग्राहक रूपी भेद का आरोप हो जाता है । इन सबों के आरोपित होने के कारण ग्राह्य तथा ग्राहक अवास्तविक (मिथ्या) हैं । इन ग्राह्य तथा ग्राहक रूपी भेदों को प्रकाशित करने वाली संवित् ही सत्य है वह स्वयं प्रकाश तथा परमार्थ है । इस अर्थ का प्रतिपादन प्रकट बौद्ध तथा प्रच्छन्न बौद्ध दोनों करते हैं ।

मूल— **यथाहुः प्रकटाः**—

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्य्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

इति यथा वा प्रच्छन्नाः—

शुद्धं तत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः ।
ज्ञातृज्ञेयविभागस्य मायैव जननी ततः ।। इति

तत्त्वप्रकाशिका— यथाहुः इत्यादि— जैसा कि बौद्धमतावलम्बियों ने कहा है **अविभागोऽपि० इत्यादि—** अर्थात् ज्ञान ही आत्मा है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है । किन्तु भ्रान्तिज्ञान के कारण घट, पटादि ग्राह्यों, चैत्र मैत्रादि ग्राहकों तथा प्रत्यक्षानुमान आदि ज्ञानों के भेदों से युक्त रूप से उसकी प्रतीति होती है । **यथावा प्रच्छन्ना० इत्यादि—** अथवा जैसा कि प्रच्छन्नबौद्ध अद्वैती विद्वान ने भी कहा है । शुद्ध तत्त्व इस प्रपञ्च का उपादान कारण नहीं है । क्योंकि प्रपञ्च का उपादान कारण शुद्ध तत्त्व को मानने पर यह प्रपञ्च भी सत्य हो जायेगा । फलतः इस प्रपञ्च की भी निवृत्ति नहीं होगी । अतएव ज्ञाता ज्ञेय आदि जितने भी विभाग हैं, उन सभी भेदों को उत्पन्न करने वाली माया ही है । इस प्रपञ्च के मायिक होने के ही कारण तात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है ।

क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन

मूल— **अत्राह क्षणभङ्गिनि प्रतिविषमन्यान्याच संविच्चकास्ति, संवचेदात्मा पूर्वेद्युर्दृष्ठमपरेद्युरहमिदमदर्शमिति कथमिव प्रत्यभिजानीयात्, न च निरालम्बनप्रतिभामेदमात्रतया इह समाधयं निरालम्बनत्त्वप्रतिज्ञायाः प्रत्यक्षादिसकलप्रतीतिबाधितविषयत्वात् साधनस्य च सालम्बनत्वे तदविशेषादशेषशेमुषीणां तथात्वापत्तेः निरालम्बनत्वे च साधनाभावादेव साध्यासिद्धेः प्रपंचितश्च पूर्वोत्तरमीमांसाभागयोर्निरालम्बनप्रतिषेधः यथार्थ ख्यातिसमर्थनेन च शास्त्र इति न व्यावर्ण्यते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— श्रुति आत्मा को स्वयं प्रकाश बतलाती है और ज्ञान भी स्वयम् प्रकाश है, इस बात को युक्तियों के माध्यम से सिद्ध किया जा चुका है । अतएव उस ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए । ज्ञान व्यतिरिक्त जितने भी देह, इन्द्रिय, मन तथा प्राण इत्यादि हैं वे

दोष मूलक हैं; अतएव वे आत्माभास रूप हैं । फलतः उन सबों को आत्मा नहीं माना जा सकता है । ज्ञानात्मवादी दार्शनिक भी दो प्रकार के हैं, क्षणिक विज्ञानात्मवादी और नित्यविज्ञानात्मवादि । क्षणिक विज्ञानात्मवादी, बौद्ध दार्शनिक हैं । उन्हें हीं प्रकट बौद्ध कहते हैं । अद्वैती विद्वान् नित्य ज्ञानात्मवादी है । उन लोगों को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है ।

अत्राह० इत्यादि— नित्य विज्ञानवादी विशिष्टाद्वैती अनित्य विज्ञानात्मवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए कहते हैं । **क्षणभङ्गिनी० इत्यादि**— प्रत्येक क्षण में विनष्ट होने वाला ज्ञाना ही यदि आत्मा है तो वह ज्ञान प्रत्येक क्षण में विषयों के भेद के कारण दूसरा-दूसरा होगा । घट ज्ञान रूपी आत्मा दूसरा होगा और पट ज्ञान रूपी आत्मा दूसरा होगा । यदि उसके ज्ञान को ही आत्मा माना जायेगा तो इस मत में प्रत्यभिज्ञा इत्यादि की सिद्धि नहीं हो सकती है; क्योंकि जिसको मैंने एक दिन पहले देखा था उसी को मैं आज देख रहा हूँ इस प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस प्रत्यभिज्ञा से तो यही सिद्ध होता है कि जिस आत्मा ने एक दिन पहले जिसे देखा था वही आत्मा आज उसी वस्तु को देख रहा है । इस प्रत्यभिज्ञा से आत्मा के स्थिरत्व की ही सिद्धि होती है, क्षणभङ्गुरत्व की नहीं । अतएव क्षण भङ्गिनी संवित् को आत्मा नहीं माना जा सकता है ।

न च निरालम्बन प्रतिभा० इत्यादि— यहाँ पर क्षणिक विज्ञानात्मवादी यदि यह कहें कि प्रतिभा का कोई विषय नहीं होता है, क्योंकि वह प्रतिभा स्वरूप है । जैसे मानसिक कल्पना का कोई विषय नहीं होता है, उसी तरह से प्रतिभा का भी कोई विषय नहीं होता है । बौद्धों के इस कथन का खण्डन करते हुए कहते हैं **निरालम्बनत्व प्रतिज्ञायाः० इत्यादि**— प्रतिभा को निर्विषयक मानने वाले बौद्ध विद्वानों का यह कथन प्रत्यक्ष इत्यादि सभी प्रमाणों से ही बाधित हो जाता है, क्योंकि देखा जाता है कि जितने भी घट-पटादि के ज्ञान होते हैं उन सबों का कोई-न-कोई विषय अवश्य होता है । जैसे— घट ज्ञान का विषय घट

होता है और घट ज्ञान का विषय पट होता है । देखा जाता है कि जितने भी साधन होते हैं उन सबों का कोई-न-कोई विषय अवश्य होता है । जितने भी ज्ञान हैं वे साधन स्वरूप है । अतएव ज्ञान भी सविषयक होता है । **निरालम्बनत्वे० इत्यादि—** यदि ज्ञान को निर्वियक माना जाय तो उस तरह के ज्ञान का अभाव ही होगा । सभी ज्ञान सविषयक ही होते हैं अतएव ज्ञान के निर्विषयकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

प्रपञ्चितश्च० इत्यादि— कोई भी ज्ञान निर्विषयक नहीं होता है, इस अर्थ का विस्तार से वर्णन मीमांसा शास्त्र के पूर्वभाग तथा उत्तरभाग में विस्तार से किया जा चुका है । पूर्वमीमांसा के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में तथा उत्तर मीमांसा के द्वितीय अध्याय के दूसरे पाद में मीमांसा शास्त्र के व्याख्या कार ने ज्ञान के निरालम्बनत्व (निर्विषयत्व) का विस्तार के साथ खण्डन किया है । किञ्च श्रीनाथ मुनि ने भी न्याय तत्त्व नामक शास्त्र में ज्ञान के निर्विषयत्व का यथार्थ ख्याति का समर्थन करते हुए खूब खण्डन किया है । अतएव हम यहाँ पर ज्ञान के निरालम्बन का खण्डन नहीं कर रहे हैं ।

ज्ञान सन्तान के आत्मा मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि नहीं

मूल— **अत एव न संतानाश्रयणेनापि प्रत्याभिज्ञोपपादनं साधीयः, विज्ञानलक्षणव्यतिरिक्तस्य स्थायिनः अनुसंधायिनः संतानस्य अभ्युपगमे स्व सिद्धांतत्यागः परसिद्धांताभ्युपगमश्च अनभ्युपगमे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिर्न ह्यन्येनानुभूते अन्यस्य प्रतिसंधान-संभवः, न च सुसदृशतया भेदाग्रहणेन प्रदीपादावित प्रमातरि प्रत्यभिज्ञाभ्रान्तिर्युज्यते हि तत्रैकस्यैव पूर्वापरव्यक्तिदर्शिनस्तु-ल्यसंस्थानतया व्यक्तीनां भेदमविदुषतस्तथा भ्रमः, इह तु संविद्व्यक्तयः परस्परवार्तानभिज्ञानिरन्वयविनाशिन्यश्च सुगतमत इति न तास्वेकत्वभ्रमस्याश्रयता विषयता वा संभविनी, न च सुसदृशत्वेऽपि अन्येन कृतमात्मकृततयाऽन्योऽनुसंधातुमलमित्या-गमापायिसंवित्संतानाश्रयः प्रत्यभिज्ञानक्षणस्थायी चेतनोऽभ्युपगन्तव्यः।**

भावप्रकाशिका— अतएव० इत्यादि— यदि बौद्ध विद्वान यह कहें कि विज्ञान दो प्रकार का होता है ।

१. प्रवृत्तिविज्ञान और

२. आश्रय विज्ञान ।

जिस ज्ञान से नील पीत इत्यादि का ज्ञान होता है उसे प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं । जो ज्ञान 'मैं' 'मैं' इस रूप से होता है उसे आलय विज्ञान कहते हैं यद्यपि ये दोनों विज्ञान क्षणिक होते हैं फिर भी चूकि आलय विज्ञान की धारा अनुवर्तित होती रहती है अतएव उसी के द्वारा प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो जाती है । इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं । **विज्ञानक्षण० इत्यादि—** विज्ञान को ही क्षण है और वही आत्मा है । उस विज्ञान क्षण से भिन्न किसी पूर्वानुभूत अर्थ का प्रतिसन्धान कर्ता स्थायी आत्मा को बौद्ध विद्वान माने तो उनको क्षणिक विज्ञानात्मवाद को त्यागना पड़ेगा क्योंकि उनका सर्वं क्षणिकम् यही सिद्धान्त है और ज्ञान से भिन्न ज्ञाता को आत्मा स्वीकार करना पड़ेगा । **अनभ्युपगमे० इत्यादि—** यदि वे कहें कि क्षणिक तथा क्रमिक विज्ञानों का समुदाय ही सन्तान कहलाता है वह समुदायी से अतिरिक्त भी नहीं है । उस समुदाय रूप सन्तान के ही द्वारा प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति हो जाती है तो ऐसा वे नहीं कह सकते हैं । क्योंकि सन्तान में विद्यमान जो पूर्व कालिक अनुभविता है वह तो नष्ट हो गया अतएव सन्तानवर्ती उत्तर अनुभविता जो होगा इसका प्रतिसन्धान नहीं कर सकता है ।

कहने का अभिप्राय है कि बौद्ध मत में क्षणिक विज्ञानों का समुदाय हो ही नहीं सकता है, क्योंकि वे किसी स्थिर एक स्थान में तथा समान काल में समुदित नहीं हो सकते हैं । यदि वे दूसरे सन्तान को स्वीकार करें तो वे भी समान देश और समान काल में एकत्रित नहीं हो सकते हैं ।

यदि बौद्ध कहें कि पूर्व-पूर्व विज्ञान रूपी उपादानों से जो उत्तरोत्तर विज्ञान परम्परा चलती है उसी को सन्तान कहते हैं तो वे ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि विनष्ट ज्ञान कार्य क्षण में रहते ही नहीं अतएव वे उपादान नहीं हो सकते ।

न च सुसदृशतपा० इत्यादि— यदि बौद्ध कहें कि 'मैं' 'मैं' इस रूप से होने वाले आलय विज्ञान अत्यन्त सदृश होते हैं, फलतः उनमें उसी तरह से एकत्व का भ्रम होता है जिस तरह प्रदीप की प्रभा में एकत्व का भ्रम होता है। यद्यपि प्रदीप की निकले वाली प्रभा प्रत्येक क्षण में अलग-अलग होती हैं, किन्तु वे परस्पर में होने वाली सादृश्यातिशय्य के कारण एक ही प्रतीत होती हैं। उनकी होने वाली यह एकत्व प्रतीति भ्रम के कारण होती है। उसी तरह प्रत्येक आलय विज्ञानों की सादृश्याति शय्य की प्रतीति भ्रम के कारण होती है। इस तरह बौद्धमत में प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो जाती है।

बौद्धों के उपर्युक्त कथन का खण्डन **युज्यते हि० इत्यादि**— वाक्य के द्वारा किया जाता है। बौद्धों के उपर्युक्त कथन में दृष्टान्त का वैषम्य है। दृष्टान्त में उपन्यस्त प्रदीप की प्रभाएँ भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होती हैं और उनका अनुभव करने वाला चेतन स्थिर होता है। अतएव उसका तो प्रभाओं का एकत्वभ्रम उपपन्न हो जाता हैं। वह उनमें होने वाले भेद को नहीं जान पाता है। **इहतु संविद् व्यक्तयः इत्यादि**— किन्तु द्राष्टान्तिक में जो संवित् व्यक्तियाँ हैं वे भिन्न-भिन्न हैं और वे एक दूसरे के ज्ञान से अनभिज्ञ रहती हैं। उनका विनाश भी एक दूसरे से सम्बन्ध हुए बिना ही हो जाता है। इस तरह से बौद्ध मानते हैं। अतएव उन संवित् व्यक्तियों को न तो एकत्व का भ्रम हो सकता है और न तो एकत्व भ्रम के विषय हो सकती हैं। **न च सुसदृशतया० इत्यादि**— अत्यन्त सदृश होने पर भी संवित् व्यक्तियाँ एक संवित् के द्वारा किए गये अनुभव कार्य को दूसरी संवित् व्यक्ति अपने द्वारा किए गये रूप से अनुसंधान नहीं कर सकती हैं। अतएव बौद्ध विद्वानों को भी प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति के लिए मानना होगा कि इस आगमापायी (क्षणिक विनाश शील) संवित् से भिन्न तथा उन संविदों का आश्रय प्रत्यभिज्ञान काल पर्यन्त स्थिर रहने वाला चेतन ही आत्मा है और उसी को प्रत्यभिज्ञा होती है। फलतः क्षणिक विज्ञानात्मवाद को नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

नित्य निर्विशेष विज्ञानात्मवाद का प्रतिपादन

मूल— **कश्चिदाह— न संविदनित्या प्रागभावाद्यसिद्धेः तदसिद्धिश्च तस्याःस्वतः सिद्धत्वात्, न हि स्वस्यः सिद्धस्य, प्रागभावादयः स्वतोऽन्यतो वा सिद्धयन्ति स्वयं हि स्वाभावमवगमयत् सद्वा असद्वा साधयेत् असत्त्वे अभाव एव नास्तीति कथं साधयेत्? असत्त्वादेव साधकस्य पक्षान्तरे नतरां साधकत्वमिति न स्वतस्तावत्तत्सिद्धिः नाप्यन्यतः अनन्यगोचरत्वादभूतेः अनुभाव्यत्वे च घटादिवत् अननुभूतित्वप्रसङ्गात् अतः सा न जायते, जन्माभावादेव इतरेऽपि भावविकारा निराकार्याः, तत्प्रतिबद्धत्वात् तेषाम् अतएव नानात्वमपि संविदि प्रत्युक्तम्, उत्पत्तिमत्त्वव्यापकनिवृत्त्या तद्व्याप्यभूत-नानात्वस्यापि निवृत्तिसिद्धेः, न ह्यजं विभाग्यस्ति चेत्यवाच्च भेदेतरेतराभावादयो न तद्धर्माः रूपादिवत् अतो नास्यानुमेयः कश्चिदपिधर्मोस्ति, अतोनिर्धूतनिखिलभेदा विकल्पनिर्धर्मप्रकाशमात्रै-करसा कूटस्थनित्या संविदेवात्मा परमात्मा च यथाह याऽनुभूतिरजाऽमेयाऽनन्तात्मेति सैव च वेदान्तवाक्यतात्पर्यभूमिः इति तेषां परिभाषा यथाह तद्वार्त्तिककारः—**

परागर्थप्रभेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥
अप्रामाण्यप्रसक्तिश्च स्यादितोऽन्यार्थकल्पने ।
वेदान्तानामतस्तस्मान्नान्यमर्थ प्रकल्पयेत् ॥

तत्त्वप्रकाशिका— कश्चिदाह न संविदनित्या० इत्यादि— क्षणिक विज्ञानवादी का खण्डन करते हुए कोई अद्वैती विद्वान् कहते हैं संवित् अनित्य नहीं है अपितु वह नित्य है । वह अनित्य इसलिए नहीं है कि उसके प्रागभाव आदि अभावों की सिद्धि नहीं होती है । ज्ञान के प्रागभाव अदि अभावों की असिद्धि का प्रकार इस प्रकार से है कि संवित् स्वयं प्रकाश है, वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा

नहीं करती है । वह अपना प्रकाश अपने आप करती है । **नहिस्वतः सिद्धस्य० इत्यादि**— जो स्वयं प्रकाश होता है उसके प्रागभाव आदि अभावों की सिद्धि न तो अपने से होती है और न तो दूसरे के द्वारा होती है । **स्वयं हि० इत्यादि**— यदि ज्ञान अपने से अपने प्रागभाव आदि को सिद्ध करे तो वह सत् रूप से अथवा असत् रूप से ही रहकर सिद्ध करेगा । यदि वह रहकर अपने अभाव सिद्ध करे तो उसका अभाव हो ही नहीं सकता जिस समय वह रहेगा इसका अभाव कैसे होगा ? उस समय अतएव ज्ञान यदि अपने न रहकर अपना अभाव सिद्ध करे तो यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस समय वह रहेगा ही नहीं उस समय वह अपना अभाव कैसे सिद्ध कर पायेगा ? अतएव वह असत् रूप से भी अपना अभाव सिद्ध नहीं कर सकता है । फलतः वह अपने से ही अपने प्रागभाव आदि की सिद्धि नहीं कर सकता है।

नाप्यन्यतः इत्यादि— ज्ञान के प्रागभाव आदि की सिद्धि दूसरे भी साधन के द्वारा नहीं हो सकती है । क्योंकि अनुभूति किसी दूसरे का विषय बनती ही नहीं है । यदि अनुभूति को भी दूसरे अनुभव का विषय माना जाय तो वह भी उसी तरह से अनुभूति व्यतिरिक्त होगा जिस तरह घट आदि अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न ज्ञान का विषय बनने के कारण अननुभति हैं । यहाँ पर इस प्रकार के अनुमान अभिप्रेत हैं-

१. अनुभूति जडा अनुभाव्यत्वात् घटादिवत् ।

२. अनुभूति अननुभूतिः अनुभाव्यत्वात् घटादिवत् ।

यतः सा न जायते० इत्यादि— अनुभूति की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके प्रागभाव आदि अभाव नहीं होते है । **जन्माभावदेव० इत्यादि**— चूकि अनुभूति की उत्पत्ति नहीं होती है । अतएव उसमें जन्म से सम्बन्ध रखने वाले षड्भाव विकार भी नहीं होते हैं । षड्भाव विकार इस प्रकार हैं—

१. अस्ति (सत्ता का होना) ।

२. जायते (उत्पन्न होना) ।

३. वर्द्धते (बढ़ना) ।

४. परिणमते (परिपक्व होना) ।

५. अपक्षीयते (घटना) और

६. विनश्यति (विनष्ट होना) ।

ये छहों प्रकार के विकार उसी भाव पदार्थ में होते हैं जो उत्पन्न होता है अनुभूति तो उत्पन्न ही नहीं होती है, अतएव उसमें षड्भाव विकार नहीं होते हैं ।

अतएव नानात्वमपि० इत्यादि— चूकि संवित् की उत्पत्ति नहीं होती है, इसीलिए वह नाना (अनेक) भी नहीं है । क्योंकि नाना वही वस्तु होती है जिसकी उत्पत्ति होती हैं । संवित् की उत्पत्ति नहीं होती है, अतएव वह नाना (भेदवाली) भी नहीं है । यहाँ उत्पत्तिमत्त्व ही व्यापक है । व्यापक उत्पत्तिमत्त्व का अभाव होने के कारण व्याप्य भूत नानात्व का भी अनुभूति में अभाव सिद्ध हो जाता है । यहाँ पर निम्नांङ्कित अनुमान अभिप्रेत हैं—

संवित् नाना न भवति, अजत्वात्, यन्नैवंतन्नैवं यथा घटः ।

किञ्च— संवित् विकारवती न भवति, अजत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः ।

नह्यजम्० इत्यादि— जिस वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है, वह वस्तु विभाव रूपी विकारों वाली भी नहीं होती है अनुभूति अजा है अतएव उसमें कोई भी विभाग रूपी विकार भी नहीं है । **चेत्यत्वाच्चः इत्यादि**— अनुभूति से सजातीय, विसजातीय एवं स्वगत आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि वे चेत्य अनुभाव्य हैं स्वरूप हैं । उसको इतरेतराभाव इत्यादि धर्म भी नहीं है क्योंकि ये सभी धर्म उसी में हैं जो प्रकाश स्वरूप नहीं होता है । जैसे चेत्य घटादि में रूप इत्यादि धर्म होते हैं । अतएव इस अनुभूति के कोई प्रमेय (जानने योग्य) धर्म भी नहीं हैं ।

अतो निर्धूत इत्यादि०— इस तरह अनुभूति सभी भेदों से रहित हैं । वह निर्धर्मक हैं तथा वह केवल ज्ञानमात्र स्वरूप वाली है । वही जीवात्मा कहलाती है और वही परमात्मा भी कहलाती है । जैसा कि इष्ट सिद्धिकार ने इष्टसिद्धि ग्रन्थ के प्रथम मङ्गलाचरण में कहा है—

याऽनुभूति रजामेयाऽनन्तात्मा ।

अर्थात् अनुभूति अनुभूति होने के ही कारण स्वयं प्रकाश है, वह स्वयं प्रकाश अनुभूति अजा अर्थात् नित्य है तथा अमेय हैं अर्थात् वह ज्ञान का विषय नहीं बनती हैं । ज्ञान का अविषय है वह अनुभूति अनन्त है, आत्मा है तथा आनन्द स्वरूप है ।

सैवच० इत्यादि— वह अनुभूति ही वेदान्त वाक्यों की मत्वर्य भूमि है । अर्थात् समस्त वेदान्त वाक्यों का प्रतिपाद्य है । यह अद्वैती विद्वानों का कहना है । जैसा कि अद्वैतियों के वार्तिककार सुरेश्वराचार्य कहते हैं **परागर्थ प्रमेयेषु इत्यादि**— अर्थात् बाह्यार्थ रूपी प्रमेयों के विषय में जो ज्ञान फलरूप से माना जाता है, वही ज्ञान वेदान्त रूपी प्रमाणों का प्रधान प्रतिपाद्य है । उसको छोड़कर वेदान्तों का यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो वेदान्त अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा । अतएव वेदान्तों का दूसरा अर्थ नहीं करना चाहिए ।

विशिष्टाद्वैती द्वारा ज्ञान के अनित्यत्व की सिद्धि

मूल— **इति, तदिदमलौकिकमवैदिकं च दर्शनमित्यात्मविदः तथा हि संविदिति स्वाश्रयं प्रति सत्तयैव कस्यचित् प्रकाशन-शीलोज्ञानावगत्यनुभूत्यादिपदपर्यायनामा सकर्मकः संवेदितुरात्मनो धर्मः प्रसिद्धः, तथैव हि सर्वप्राणभृत्प्रत्यात्मसिद्धोऽयमनुभवः अहमिदं संवेद्मीति तस्योत्पत्तिस्थितिनिरोधाश्च सुखदुःखादेरिव प्रत्यक्षाः प्रकाशन्ते स्वापमदमूर्च्छादशासु च योग्यानुपलम्भनिराकृतस्तदभावो नाभ्युपगममर्हति, यदि हि तास्वपि दशासु संवेदनमवर्त्तिष्यत ततःप्रबोधसमये अनुसमधास्यत, न च अनुसंधीयते अत एव हि इयन्तं कालं न किंचिदहमज्ञासिषम् इति प्रबुद्धः प्रत्यवमृशति यावदनुभूतपदार्थस्मरणनियमाभावेऽपि संस्कारविच्छेदनिमित्त-प्रायेणादिप्रबलहेतुविरहेऽपि नित्यवदस्मरणमनुभवाभावमेव साधयति, न च सत्यपि संवित्प्रकाशे विषयावच्छेदविरहात् अहङ्कारगोचरापायाद्वा तत्स्मृत्यनुदयः अर्थान्तराभावस्य तद्ग्रहणस्य च अर्थान्तरप्रकाश-**

प्रयुक्तकार्यप्रतिबन्धकत्वायोगात् । त्रितयावभासेऽपि यथास्वभव-भासानां स्वगोचरस्मरणहेतुत्वात् न च प्रत्यभिज्ञाबललब्ध-स्थेमाऽहमर्थः स्वापादिदशासु निधनमुपगत इति शक्योऽभिधातुम्, अत एव हि इयन्तं कालमहमस्वाप्समिति प्रबोधे परामर्शः, न च निर्विषया निराश्रया वा संविन्नाम काचित्संभवति अत्यन्तानुपलब्धेः, संबन्धिशब्दाश्च संविदनुभूतिज्ञानप्रकाशादिशब्दा इति शब्दार्थविदः, न हि अकर्मकस्य जानात्यादेरकर्तृकस्य वा प्रयोगो लोके वेदे वा ।

तत्त्वप्रकाशिका— तदिदम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त प्रकार का जो सिद्धान्त है वह न तो लौकिक है और न तो वैदिक है। अर्थात् वह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध है तथा वेद आदि जो सत् शास्त्र हैं उन सबों के भी विरुद्ध है । लोक एवं वेद दोनों के विरुद्ध होने के कारण वह अनादरणीय है । इस तरह से आत्मज्ञ पुरुषों का कहना है । **तथाहि० इत्यादि—** सर्वप्रथम संविदद्वैत (अभेद) वादी अद्वैतियों के मत में प्रत्यक्ष से विरोध को बतलाते हुए कहा जा रहा है । **संविदिति० इत्यादि—** संवित् शब्द के विषय में बतलाया जाता है कि वह ज्ञाता आत्मा का ऐसा धर्म है जो अपनी सत्ता मात्र से ही अपने आश्रय भूत आत्मा के प्रति किसी वस्तु का प्रकाशन करता है । ज्ञान, अवगति, अनुभूति इत्यादि पद उस संवित् के पर्यायवाची शब्द हैं । इसी तरह से आत्मा के धर्म रूप से संवित् की प्रसिद्धि है । **तथैव हि० इत्यादि—** जितने भी प्राणी हैं उन सबों को इस प्रकार का अनुभव होता है कि **अहमिदं संवेदित** इस अनुभव वाक्य में अहम् शब्द से कहे जाने वाले आत्मा के धर्म रूप से ज्ञान की प्रतीति होती है । इस अनुभव से भी ज्ञान आत्मा का धर्म प्रतीत होता है अतएव ज्ञान आत्मा नहीं हो सकती हैं ।

तस्यास्योत्पत्ति० इत्यादि— आत्मा के धर्म रूपी जो ज्ञान है उसकी उत्पत्ति, स्थिति और उसके नाश की भी उसी तरह से प्रतीति होती है, जिस तरह आत्मा के धर्म रूप सुख-दुःख इत्यादि की उत्पत्ति, स्थिति और उनके नाश की प्रतीति होती है । इसीलिए मुझे ज्ञान की प्रतीतियाँ

लोक में देखी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि संवित् शब्द वाच्य ज्ञान नित्य नहीं है । **स्वापमदमूर्च्छासु० इत्यादि**— किञ्च स्वाप काल में, मद काल में और मूर्छा के भी समय में भी ज्ञान के अभाव की सिद्धि योग्यानुपलब्धि प्रमाण से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि उन समयों में भी यदि ज्ञान रहता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती है । चूकि उन कालों में किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है । इससे सिद्ध होता है कि उन कालों में ज्ञान नहीं रहता है । अतएव उन कालों में ज्ञान के सद्भाव को नहीं स्वीकार किया जा सकता है । **यदि हि० इत्यादि**— यदि उन दशाओं में ज्ञान रहा होता तो जगने के समय में उस ज्ञान का अनुसन्धान किया गया होता किन्तु उन कालों में ज्ञान का अनुसन्धान नहीं होता है । इसीलिए जगने पर जगा हुआ व्यक्ति अनुभव करता है कि इतने समय तक मैं कुछ भी नहीं जान सका ।

यावदनुभूत० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि जितने विषयों का अनुभव किया जाता है, उन सभी विषयों का स्मरण हो ही यह कोई नियम नहीं है तो इसका उत्तर है कि यद्यपि सम्पूर्ण अनुभूत विषयों के स्मरण का नियम नहीं है फिर भी अनुभूत विषयों के संस्कारों के विनष्ट करने वाले जो मृत्यु इत्यादि प्रबल कारण हैं उनके अभाव में भी स्वपादि कालों में सदैव अनुभव का न होना यही सिद्ध करता है कि स्वापादि काल में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है ।

मूल के **प्रायणादि** शब्द के द्वारा विष्णु पुराण के निम्नांङ्कित श्लोक को निर्दिष्ट द्वारा विष्णुपुराण के निम्नाङ्कित श्लोक को निर्दिष्ट किया गया है।

प्रायणान्नरकक्लेशात् प्रसूतिव्यसनादपि ।
चिरान्निवृताः प्रागजन्म भोग न स्मृति गोचराः ॥

यह प्रश्न होता है कि पूर्व जन्म में अनुभव किए गये भोगों का स्मरण क्यों नहीं होता है ? इसका उत्तर देते हएु महर्षि ने कहा तीन कारणों से बहुत पहले अनुभव किये गये पूर्व जन्म के भोगों का स्मरण नहीं होता है । वे कारण हैं—

१. प्रायण— अर्थात् मृत्यु । मृत्यु के समय में असहय वेदना

होती है। उस वेदनातिशय्य के कारण पूर्व जन्म में अनुभव किए गये विषयों के संस्कार का प्रमोष हो जाता है अतएव पूर्व जन्म में अनुभूत विषयों का स्मरण नहीं होता है।

२. नरकक्लेश— अर्थात् मृत्यु के पश्चात् जीव जब नरकों में जाता है तो उसको अनेक प्रकार के क्लेशों को सहना पड़ता है, उसके कारण भी पूर्व जन्मानुभूत विषयों के संस्कार का प्रमोष हो जाता है। अतएव पूर्व जन्मानुभूति विषयों का स्मरण नहीं होता है।

३. प्रसूतिव्यसन— अर्थात् जब जीव जन्म लेता है उस समय भी जीव को अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है। इसलिए भी पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार का प्रमोष हो जाता है। इसीलिए पूर्व जनमानुभूत विषयों का स्मरण नहीं होता है।

किन्तु स्वाप, मद, मूर्छा की दशा में तो इन तीनों में से कोई भी कारण उपस्थित नहीं रहता है फिर भी स्वापादि के बाद जगा हुआ जीव किसी भी ज्ञान का स्मरण नहीं करता है, इससे पता चलता है कि स्वापादि दशाओं में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है।

न च सत्यपि० इत्यादि— यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि यद्यपि उन कालों में ज्ञान का प्रकाश तो बना ही रहता है; किन्तु उस समय ज्ञान का किसी विषय से सम्बन्ध नहीं हो पाता है इसलिए उस ज्ञान की स्मृति नहीं होती है। अथवा उन समयों में अहंबद्धि के द्वारा जिसका ज्ञान होता है उस ज्ञाता अहमर्थ का विलय हो जाता है इसलिए ज्ञान की स्मृति नहीं होती है। कहने का अभिप्राय है कि अहमर्थ से संयुक्त तथा विषयों से संबद्ध ही संविद् संस्कार का आधान करती है, किन्तु स्वापकाल में विषय तथा अहमर्थ इन दोनों का अभाव रहता है फलत: केवल ज्ञान संस्कार का आधान नहीं कर पाता है। इसीलिए जगने पर उस ज्ञान का अनुसन्धान नहीं हो पाता है। तो वे ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि दूसरी वस्तु का अभाव या दूसरी वस्तु के ज्ञान का अग्रहण दूसरी वस्तु के प्रकाश से होने वाले कार्य का प्रतिबन्धक नहीं होता है।

त्रितयावभासेऽपि इत्यादि— ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों की प्रतीति होते रहने पर भी उन सबों का ठीक-ठीक अनुभव उन सबों के संस्कार का कारण होता है और संस्कार के रहने पर भी उनके विषयों का ज्ञान होना ही चाहिए। अतएव एकाग्रमना होकर स्वापकाल में रहने वाली संवित् का अनुभव होना ही चाहिए। अहमर्थ का विलय अथवा घट, पट आदि विषयों के सम्बन्ध का अभाव ज्ञान के संस्कार का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है। अतएव आपके मत में जगने पर संवित् का प्रत्यवमर्श (स्मरण) अवश्य होना चाहिए।

न च प्रत्यभिज्ञा बल० इत्यादि— आप यह जो कहते हैं कि स्वापादि काल में अहमर्थ का विलय हो जाता है अतएव कोई स्मरण करने वाला रहता ही नहीं है तो आप यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा सिद्ध होता है कि ज्ञाता अहमर्थ स्थायी है; क्योंकि स्वाप से पहले दिन जो अहमर्थ था वही स्वाप के पश्चात् भी रहता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि स्वाप-काल में ज्ञाता अहमर्थ विनष्ट हो जाता है। **अतएव हि इयन्तं कालमहमप्स्वाप्सम्० इत्यादि**— इसीलिए सोकर जगने पर भी इस प्रकार का अनुभव होता है कि इतने समय तक मैं सोया रहा। इस परामर्श से पता चलता है कि स्वाप काल में भी ज्ञाता अहमर्थ रहता है और उसका प्रतिभास भी होता रहता है।

न च निर्विषया० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि सविषयक ज्ञान भले ही नित्य हो किन्तु शुद्ध ज्ञान को तो नित्य मानने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती है तो अद्वैती विद्वान् ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं होता है जिसका कोई-न-कोई विषय तथा कोई ज्ञाता न हो। विषय और आश्रय ज्ञात से रहित कोई ज्ञान नहीं होता है। यदि ऐसा भी कोई ज्ञान होता तो उसकी उपलब्धि होती चूकि ऐसे ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है अतएव मानना पड़ता है कि निर्विषयक और निराश्रय कोई भी ज्ञान नहीं होता है। **संबन्धि शब्दा० इत्यादि**— शब्दों एवं अर्थों के ज्ञाता पुरुषों का मानना है कि

संवित्, अनुभूति, ज्ञान तथा प्रकाश आदि शब्द सम्बन्ध शब्द है । अर्थात् ये सभी शब्द नियत सम्बन्ध की आकांक्षा से युक्त होता है । **नियत सम्बन्ध शालित्वम् संबन्धि शब्दत्वम्** यह संबन्धी शब्द का लक्षण है। अतएव ज्ञान का किसी-न-किसी विषय से सम्बन्ध अवश्य होता है । **न हि जानात्यादेः इत्यादि**— लोक में अथवा वेद में ज्ञा इत्यादि धातुओं का कर्म तथा कर्ता से रहित प्रयोग नहीं देखने को मिलता है । इससे भी सिद्ध होता है कि सभी ज्ञान सकर्मक और सकर्तृक होते हैं ।

ज्ञान के प्रागभावादि की सिद्धि

मूल— **यत्तु स्वतःसिद्धस्य सत्त्वे तद्विरोधादेव प्रागभावादेः तदानीमवस्थानासंभवात् न ततः सिद्धिरिततदतिस्थवीयः, न हि संविदा स्वकालवर्त्तिन एव अर्थाः सिध्यन्तीत्यस्ति नियमः अतीतानागतयोरसंवेद्यत्वप्रसंगात् । अथ संवित्प्रागभावादेः सिध्यतः तत्समकालतया भवितव्यमिति किमेवं क्वचिद्दृष्टम् हन्त एवं सति तत्सिद्धेर्न प्रागभावाद्यसिद्धिः तत्प्रागभावः तत्समकाल इत्युन्मत्तवचः ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षस्वभावो ह्ययं स्वसमकालपदार्थप्रकाशकत्वं नाम न ज्ञानमात्रस्य प्रमाणमात्रस्य वा । एतेन तदपि पराकृतम् ।**

मानं स्वयंप्रकाशत्वात् स्वतः सच्चेत् सदाऽस्त्यतः ।
तन्मेयं च सदाऽस्त्येव मानं भेययुगेव हि ॥

इति, न हि मानस्य स्वसत्ताकाले अर्थाविनाभावामेययोगः किन्तु यद्देशकालादिमत्तया मेयमवभासते तादृशतद्रूपमिथ्यात्व-विरोधित्वम्, अतएव स्मृतिनं बाह्यविषया नष्टेप्यर्थे स्मृतिदर्शनात् इत्यपि प्रलापः ।

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु स्वतः सिद्धस्य— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि स्वयं प्रकाश अनुभव के विद्यमान रहने पर उसके प्रागभाव इत्यादि अभावों की सिद्धि इसलिए नहीं हो सकती है कि सत्त्व एवं अभाव दोनों परस्पर में विरोधी है । क्योंकि यदि सद्भाव रहेगा तो उस

समय उसका अभाव नहीं हो सकता है । सद्भाव एवं अभाव दोनों में सहानवस्थान नामक दोष है । तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उनकी स्थूल बुद्धि की उपज हैं । **नहि संविदा० इत्यादि**— यह कोई नियम नहीं है कि ज्ञान अपने वर्तमान कालिक ही विषयों का ग्रहण करे । यदि ऐसा होता तो अतीत कालिक तथा अनागत कालिक विषयों का ग्रहण नहीं होता । चूकि अतीत कालिक तथा अनागत कालिक भी विषयों का ज्ञान होता है अतएव पता चलता है कि ज्ञान अतीत कालिक और अनागत कालिक विषयों का भी ग्रहण करता है ।

अथ संवित्प्रागभावादेः इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सिद्ध होने वाले संवित् के प्रागभावादि अभावों के ज्ञान का समकालिक ही होना चाहिए । तो इस पर प्रश्न होता है कि क्या आपने ऐसा नहीं देखा है कि ज्ञान के प्रागभाव आदि ज्ञान के समकालिक होते हैं । यदि देखा है तो उसी से ज्ञान के प्रागभाव आदि की सिद्धि हो गयी अतएव आप यह नहीं कह सकते हैं कि ज्ञान के प्रागभाव आदि की सिद्धि नहीं होती है । **तत्प्रागभावः इत्यादि**— वास्तविकता यह है कि किसी वस्तु का प्रागभाव उसका समकालिक हो यह तो कोई उन्मत्त (पागल) व्यक्ति ही कह सकता है ।

यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि इसीलिए तो हम कहते हैं कि ज्ञान के प्रागभाव आदि की सिद्धि नहीं होती है तो इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं **ऐन्द्रियिक इत्यादि**— अर्थात् जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होता है उनका ही यह स्वभाव होता है कि वे अपने सम कालवर्ती ही विषयों का प्रकाशन करते हैं । जैसे दीपक अपने समकालवर्ती ही घट का प्रकाश करता है । किन्तु समस्त ज्ञानों तथा समस्त प्रमाणों का ऐसा नियम नहीं है । वे तो अतीत कालिक तथा अनागत कालिक भी विषयों का प्रकाशन करते हैं अतएव ज्ञान अपने पूर्ववर्ती भी प्रागभाव का प्रकाशन करे इसमें किसी भी प्रकार का अनुपपत्ति नहीं है ।

एतेन इत्यादि— चूकि सभी प्रमाण तथा ज्ञान अपने समान कालिक ही पदार्थ का ग्रहण करते हैं इस नियम का अभाव है अतएव अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन खण्डित हो जाता है कि—

मानं स्वयं प्रकाशत्वात् स्वतः सच्चेत् सदाऽस्यतः ।
तन्मेयं च सदास्त्येव मानं मेयं युगेव हि ॥

अर्थात्— मान = प्रमाण ज्ञान चूकि स्वयं प्रकाश होता है । अतएव वह सदैव स्वभाविक रूप से ही रहता है । उस प्रमाण ज्ञान का जो विषय होता है वह भी सदैव ही रहता है । क्योंकि प्रमाण ज्ञान और उनके विषय दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं । प्रमेय के बिना प्रमाण ज्ञान नहीं रहता है ।

इस कथन के खण्डन का प्रकार यह है कि यद्यपि प्रमाण ज्ञान स्वयं प्रकाश है फिर भी वह प्रमाण जन्य ही होता है । प्रमाण जन्य होने के कारण उसकी अनित्यता की सिद्धि हो जाती है । चूकि वह अनित्य उसके प्रागभाव आदि का ग्रहण स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से हो जायेगी ही । अतएव अद्वैती विद्वानों का ज्ञान की नित्यता को लेकर ज्ञेय पदार्थों की नित्यता का प्रतिपादन करना उचित नहीं है; क्योंकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि ऐसा कोई भी नियम नहीं है कि ज्ञान अपने समान कालिक विषयों का ही ग्रहण करे ।

यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि यदि ज्ञान अविद्यामान अर्थ का ग्रहण करेगा तो ज्ञान और ज्ञेय का अविनाभाव रूप सम्बन्ध कैसे बनेगा? इसका उत्तर है **नहि मानस्य० इत्यादि**— प्रमाण जन्य ज्ञान के मेय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध (नियत सम्बन्ध) का यह अर्थ नहीं है कि जिस समय ज्ञान रहे उस समय प्रमेय भी रहे । अपितु प्रमिति में प्रमेय जिस देश तथा जिस काल में स्थित रूप से प्रतीत हो उसको उस देश और उस काल में मिथ्या नहीं होना चाहिए । यदि वह अतीत देश और अतीत काल में स्थित रूप से प्रतीत होता है तो उसको अतीत देश और अतीत काल में मिथ्या नहीं होना चाहिए । यही ज्ञान और ज्ञेय का अविनाभाव रूप सम्बन्ध कहलाता है । **अतएव० इत्यादि**— अतएव अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन निरर्थक है कि **स्मृतिर्नबाह्य विषय नष्टेऽप्यर्थे स्मृति दर्शनात्** । अर्थात् स्मृति वाह्य घट-पटादि वस्तु विषयिणी

नहीं होती है, क्योंकि देखा जाता है कि विषय नष्ट हो जाता है; किन्तु उसकी स्मृति बनी ही रहती है। अद्वैती विद्वानों का यह कथन इसलिए निरर्थक है कि अतीत कालिक भी वाह्य विषयों की स्मृति निर्विषयक इसलिए नहीं कही जा सकती है कि वह उन अतीत कालिक विषयों को अतीत कालिक रूप से ही अपना विषय बनाती है।

संवित् के प्रागभावादि के प्रत्यक्ष प्रमाण विषयत्व का प्रतिपादन

मूल— **अथ संवित्प्रागभावादेः अवर्तमानतया न प्रत्यक्षत्वं लिङ्गाद्यभावाच्च न प्रमाणान्तरतः सिद्धिरिति, यद्येवमकारणं तर्हि स्वतः सिद्धत्वं प्रागभावाद्यसिद्धेः, प्रमाणाभाव एव हि इदानीं वाच्यः, न च तद्भावः शक्योऽभिधातुमित्युक्तमेव योग्यानुपलब्ध्यैव अभावस्य समर्थितत्वात् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कहें कि संवित् का प्रागभाव आदि चूकि वर्तमान कालिक नहीं होता है अतएव उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। किञ्च प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त अनुमान आदि प्रमाणों से भी संवित् के प्रागभाव इत्यादि का ग्रहण इसलिए नहीं होता है कि उसका कोई लिङ्ग (चिह्न) नहीं होता है और लिङ्गज्ञान पूर्वक लिङ्गी का ज्ञान होना ही अनुमान कहलाता है। अतएव संवित् के प्रागभाव आदि का ग्रहण परतः भी नहीं हो सकता है।

यद्येवम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों के इस कथन का उत्तर देते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि संवित् को स्वतः सिद्ध मानने वाले विद्वानों को तब तो यही कहना चाहिए कि संवित् के प्रागभाव आदि में कोई भी प्रमाण नहीं है। किन्तु वे ऐसी बात इसलिए नहीं कह सकते हैं कि मैंने अभी-अभी कहा है कि स्वापिकालों में संवित् के अभाव की सिद्धि योग्यानुपलब्धि प्रमाण से ही हो जाती है।

प्रकारान्तर से संवित् के अनित्यत्व की सिद्धि

मूल— **अपि च प्रत्यक्षसंवित् स्वसत्ताकाले स्वविषयस्य सद्भावं साधयन्ती यत्तस्य न सर्वदा सत्तां साधयति तदवसीयते**

अहमिदानीमेवास्मि नान्यदेति कालविशेषावच्छिन्नैव सा चकास्ति इति, इतरथा घटादेरपि नित्यत्वप्रसङ्गात्, एवमनुमानादिसंविदोऽपि, न च प्रत्यक्षानुमानादिभेदशून्या निर्विषया निराश्रया धीः संभवतीत्युक्तमेव ।

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह यही सिद्ध करता है कि उस ज्ञान का विषय उसके सत्ता काल में ही होता है तो उस ज्ञान के द्वारा उसके विषय की सत्ता सार्वकालिकी नहीं सिद्ध होती है । यही सिद्ध होता है कि उस ज्ञान की सत्ता उस समय ही रहती है उस ज्ञान की भी सत्ता सार्वकालिकी नहीं है, क्योंकि प्रमेय के बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता है, यह अद्वैती विद्वान् **मानमेय युगेव हि** कह कर मानते हैं । उस ज्ञान का स्वरूप यही होगा कि मैं इसी समय हूँ दूसरे समय में नहीं । इस तरह वह काल विशेष से विशिष्ट रूप से प्रकाशित होती है ।

इतरथा० इत्यादि— यदि ज्ञान को काल विशेष से विशिष्ट रूप से प्रकाशित होने वाला न मानें तो फिर ज्ञान के अविनाभाव भूत जो घटादि ज्ञान के विषय हैं उनके भी उसी तरह से नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा । क्योंकि यदि ज्ञान नित्य होगा तो उसके विषय घटादि भी नित्य ही होंगे ।

एव मनुमानादि संविदोऽपि इत्यादि— इसी तरह से जो अनुमानादि प्रमाण जन्य ज्ञान है वह काल विशेष से विशिष्ट रूप से ही प्रतीत होता है । क्योंकि अनुमान जन्य जो ज्ञान होता है वह लिङ्ग परामर्श सापेक्ष होने के कारण अनित्य होता है । **न च प्रत्यक्षा० इत्यादि—** हम पहले ही इस अर्थ का प्रतिपादन कर चुके हैं कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान रूपी भेदों से रहित निर्विषयक तथा निराश्रय कोई भी ज्ञान नहीं होता है । सभी ज्ञानों का कोई न कोई विषय तथा कोई ज्ञाता अवश्य होता है । वह ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उतपन्न होता है । अतएव ज्ञान के अनुत्पत्ति मत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

ज्ञान के ज्ञानान्तर विषयत्व का प्रतिपादन

मूल— **न चान्याविषयत्वात् संविदोऽन्यतस्तत्प्रागभावाद्यसिद्धिः, अज्ञासिषमिति प्राक्तनसंविदोऽद्यतनधिया विषयीक्रियमाणत्वात्, प्रतिकूलानुकूल विषयनियतहानोपादानादिलिङ्गावगम्यत्वाच्च, परसंविददः, तदनलभ्युपगमे च शब्दार्थग्रहणासंभवेन वैदिकलौकिक-समस्तव्यवहाराभावप्रसङ्गः गुरूपसर्पणाद्यनुपपत्तिश्च, ज्ञानवत्त्वेन तस्याप्रतीतेः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— नचान्याविषयत्वात्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ज्ञान चूकि किसी दूसरे का विषय नहीं बनता है अतएव उसके प्रागभाव आदि की सिद्धि किसी दूसरे ज्ञान से भी नहीं हो सकती है । तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सबको इस प्रकार का अनुभव होता है कि मैंने इसको जाना । इस अनुभव से पता चलता है कि पूर्व कालिक ज्ञान वर्तमान कालिक ज्ञान का विषय बनता है । **प्रतिकूलानुकूल० इत्यादि—** किञ्च दूसरे का ज्ञान यदि प्रतिकूल वस्तु विषयक होता है तो दूसरा व्यक्ति उसके उस ज्ञान का परित्याग कर देता है, दूसरे का ज्ञान यदि अनुकूल वस्तु विषयक होता है तो उसके उस ज्ञान को दूसरा व्यक्ति ग्रहण कर लेता है यह देखा जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे के ज्ञान को अपने ज्ञान का विषय बनाकर जब यह जान लेता है कि इसका यह ज्ञान अनुकूल वस्तु विषयक है अथवा प्रतिकूल वस्तु विषयक है; इस तरह से जानकर ही उसके उस ज्ञान का त्याग अथवा संग्रह करता है ।

तदनभ्युपगमे० इत्यादि— यदि एक व्यक्ति के ज्ञान को दूसरे व्यक्ति के ज्ञान का विषय नहीं स्वीकार करें तो व्यवहार के द्वारा जो शक्ति ग्रह होता है, उससे दूसरे के ज्ञान का अनुमान किए जाने के कारण शक्ति ग्राहक शिरोमणि व्यवहार के द्वारा शक्ति ग्रह का होना असंभव हो जायेगा । फलतः व्यवहार का ही लोप हो जायेगा । साथ ही व्याकरण आदि जो शक्ति ग्रह के साधन हैं उनके द्वारा शब्द और अर्थ

में होने वाले बोध्य-बोधक भाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होगा । इस तरह सम्पूर्ण लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों के अभाव का प्रसङ्ग होगा ।

गुरुपसर्पणाद्यनु० इत्यादि— किञ्च दूसरे के ज्ञान का अनुमान नहीं स्वीकार करने या शिष्य के द्वारा किये जाने वाली गुरु की जो शरणागति है वह भी सिद्ध नहीं हो सकती है । शिष्य गुरु के ज्ञान को अपने आत्मोन्नयनोपयोगी रूप से अनुमान करके गुरु के सन्निकट में जाकर उनकी शरणागति करता है । यदि दूसरे के ज्ञान का अनुमान नहीं हो सके तो फिर गुरु के वह ज्ञानवान् कैसे समझ पायेगा । अतएव दूसरे के ज्ञान को अनुमान का विषय मानना ही पड़ेगा ।

प्रकारान्तर से ज्ञान के अनुभाव्यत्व का प्रतिपादन

मूल— **न चान्यविषयत्वे अननुभूतित्वं स्वाश्रयस्य स्वसत्तयैव प्रकाशमानत्वं स्वविषयसाधनत्वं वाऽनुभूतित्वं, ते च संविदन्तर-विषयभावेऽपि स्वानुभवसिद्धे न भृश्यत इति, कथमननुभूति-त्वप्रसङ्गः, घटादेस्तु तथा स्वाभाव्याभावादेव अननुभूतित्वं नानुभाव्यत्वात्, अपि च अननुभाव्यत्वेऽपि समानस्तत्प्रसङ्गः गगन-कुसुमवत्, न चात्मनोऽनुभूतित्वम् अनुभवितृत्वात् । नाप्यसावन-नुभाव्यः अनुभवस्येव स्वतः सिद्धतोऽप्यस्य स्वपरसंवेद्यत्वाभ्युपगमात् वेद्यत्वेऽनात्मत्वापादनम् अवेद्यत्वेऽपि समानं पूर्ववत् यदि तु गगनकुसुमस्य सत्त्वमेव अनात्मत्वाऽननुभूतित्वप्रयोजकमास्थीयेत आस्थीयतां तर्हि घटादेरप्यसंविदाश्रयत्वाज्ञानाविरोधित्वयारेव तत्प्रयोजकत्वम् । अथ ते अपि विषयत्वे स्यातामिति चेत् । अविषयत्वेऽपि तथैवेत्यलमप्रतिष्ठितकुतर्कापहसनेन ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अनुभूति को यदि अनुभव का विषय माना जाय तो अनुभूति भी उसी तरह से अनुभूति (अनुभूति व्यतिरिक) सिद्ध होगी जिस तरह से अनुभव के विषय बनने वाले घट-पटादि अनुभूति हैं । तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन ठीक नहीं है । अनुभूति में रहने वाला जो अनुभूतित्व है, उसका यही

स्वरूप है कि वह अपनी सत्ता मात्र से ही अपने आश्रय के लिए प्रकाशित हो अथवा अपनी सत्ता मात्र से ही अपने आश्रय ज्ञाता के प्रति अपने विषय का प्रकाशन कर दे । **ते च संविदन्तर० इत्यादि**— यदि संवित् किसी दूसरी संवित् का विषय बने तो भी वे संवित् के दोनों धर्म विनष्ट नहीं होते हैं, अपितु वे दोनों बने ही रहते है । अतएव संवित् संविदन्तर का विषय बनने पर कैसे अननुभूति हो सकती है ? ।

घटादेस्तु० इत्यादि— घट आदि तो इसलिए अनुभूति व्यतिरिक्त हैं कि वे न तो अपनी सत्ता मात्र से अपने आश्रय के प्रति प्रकाशित होते हैं और न तो वे अपनी सत्ता मात्र से अपने ज्ञाता के प्रति विषयों का प्रकाशन करते हैं । घटादि धनुभाव्य होने के कारण अननुभूति नहीं हैं । **अपि च० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि यदि अनुभूति को अननुभाव्य मानने पर वह उसी तरह से अननुभूति होगी जिस तरह किसी भी अनुभव का विषय नहीं बनने वाला आकाश पुष्प अनुभूति व्यतिरिक्त है । यहाँ पर इस तरह का अनुमान अभिप्रेत है—

अनुभूतिरननुभूतिः, अननुभाव्यत्वात्, आकाश कुसुमवत् ।

न चात्मनेऽनुभूतित्वम्० इत्यादि— ज्ञाता अहमर्थ अनुभूति नहीं है, क्योंकि वह ज्ञाता है । जो ज्ञाता नहीं होता है वह आत्मा नहीं होता है, जैसे घटादि ।

नाप्यसावित्यादि— किञ्च आत्मा अहमर्थ अननुभाव्य नहीं है, यह उसी तरह से स्वयम्प्रकाश है जिस तरह अनुभूति स्वयम्प्रकाश है । अर्थात् वह अपने प्रकाश के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं करता है । क्योंकि आत्मा अपने स्वरूप का ज्ञान श्रवण इत्यादि साधनों से ज्ञात करता है तथा दूसरे के शरीर में होने वाली चेष्टाओं को देखकर उसके शरीर में रहने वाली आत्मा का अनुमान होता है । इसीलिए आत्मा अहमर्थ को एव संवेद्य और पर संवेद्य माना जाता है ।

वेद्यत्वेऽनात्मत्वापादनम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों द्वारा यह जो कहा जाता है कि यदि आत्मा को ज्ञानान्तर वेद्य माना जाय तो वह वेद्य घटादि के ही समान अनात्मा हो जायेगा किन्तु अद्वैती विद्वानों का यह

कथन इसलिए ठीक नहीं है कि यदि आत्मा को ज्ञानान्तर के द्वारा अवेद्य माना जाय तो वह उसी तरह से अनात्मा होगा जिस तरह से अवेद्य आकाश कुसुम अनात्मा है । **यदि तु इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि आकाशकुसुम तो इसलिए अनात्मा अथवा अननुभूति हैं कि उसकी सत्ता नहीं होती है तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि इसी तरह घटादि भी इसीलिए अनात्मा हैं कि वे ज्ञानाश्रय (ज्ञानवान्) नहीं है तथा वे अननुभूति इसलिए हैं कि वे अज्ञान के विरोधी नहीं हैं। आत्मा का यह स्वभाव है कि वह ज्ञानाश्रय होता है ।

अथ ते अपि० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान कहें कि अनुभूति को ज्ञानान्तर का विषय मानने पर अनुभूति में भी ज्ञानाश्रयत्व तथा अज्ञाना विरोधित्व होंगे तो इसका उत्तर देते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि यदि आत्मा को ज्ञानान्तर का अविषय माना जाय तो भी वे दोनों दोष होयेंगे ही । इस तरह अद्वैती विद्वानों के द्वारा उपस्थापित अप्रतिष्ठित कुतर्क (ऐसे कुतर्क जिसके द्वारा जिस विषय को सिद्ध करना अभिप्रेत है वह सिद्ध ही न हो सके) उसका और अधिक उपहास करने से कोई लाभ नहीं है ।

अनुभूति में विकारान्तर का प्रतिपादन

मूल— **यदपि जननविरहादनुभूतेर्विकारान्तरनिरसनं व्यभिचरति तदपि प्रागभावे जन्माभावेऽपि तस्य विनाशदर्शनात् भावविशेषणोपादानेऽपि भवदभिमताविद्ययाऽनैकान्त्यं, सा ह्यनादिरपि विविधविकारवती विनाशवती च तत्त्वज्ञा नोदयात्, अपरमार्थास्तद्विकाराः सन्ति इति चेत् परमार्थाश्च ते किं विकाराः सन्ति जन्मवन्तो वा परमार्थाः, येन पारमार्थ्येन विशेषणं साध्यस्य साधनस्य वाऽर्थवत्तामश्नुवीत । तथा च सति साधु समर्थितं तर्ककुशलेनेत्यलमनेन ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदपि० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा कि अनुभूति की उत्पत्ति नहीं होती है, अतएव उसमें कोई षड्भाव

विकार नहीं होता है । तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि देखा जाता है कि प्रागभाव की उत्पत्ति नहीं होती है फिर भी उसमें विनाश नामक विकार होता है ।

भावविशेष० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि जो भाव पदार्थ अजन्मा होता है उसमें कोई भाव विकार नहीं होता है, अद्वैती विद्वान् ऐसा भी नहीं कह सकते है; क्योंकि उनको अभिमत अविद्या अनादि है तथा भाव पदार्थ भी है फिर भी उस अविद्या का विनाश होता है, यह अद्वैती विद्वान भी मानते हैं । साथ ही उसमें अनेक प्रकार के विकार भी होती हैं तथा तत्त्वज्ञान के होने पर अविद्या का विनाश होता है । **अपरमार्थास्तद्विकाराः इत्यादि—** यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या में जो विकार होते हैं वे अपरमार्थ होते हैं, अतएव अविद्या में उपुर्यक्त व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता है; तो इसका उत्तर है कि **परमार्थश्च० इत्यादि—** आपके मत में कोई परमार्थ विकार भी होता है क्या ? अथवा जो जन्म लेने वाले होते हैं वे परमार्थ होते हैं क्या ? अथवा जो जन्म लेने वाले होते हैं वे परमार्थ होते हैं क्या ? आपके मत में तो ब्रह्मव्यतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है । यदि आपके मत में ये सब परमार्थ होते तब ही आपका यह अपमार्थ विशेषण सार्थक होता, किन्तु आपके मत में तो ब्रह्म व्यतिरिक्त सबकुछ मिथ्या है, अतएव आपके इस अपरमार्थ विशेषण का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता है । अतएव इस अनर्थक विशेषण को उपन्यस्त करके आपने बड़ी अच्छी तरह से अपने कथन का समर्थन कर लिया । आप विशेषण को उपन्यस्त करते समय यह भी विचार नहीं करते है कि मेरा यह विशेषण होने वाले व्यभिचार का निरोध कर पायेगा कि नहीं ।

अनुत्पन्नों में भेद होते हैं इस अर्थ का प्रतिपादन

मूल— **यदिप न ह्यजं विभाग्यस्तीति तदपि न अजस्यैवात्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो विभागस्य समर्थितत्त्वात्, अनादित्वेनाभ्युषगतस्याज्ञानस्यात्मनोव्यतिरिक्ततयाऽवश्याश्रयणीयत्वात् अपरमार्थस्य**

विभागइति चेत् परमार्थभेदः किं जन्मप्रतिबद्धः क्वचिददृष्टः निर्बाधः प्रतीतिसिद्धश्च दृगदृश्यभेदः परमार्थ एवेत्यनन्तरमेवोपपादयिष्यामः।

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि संवित् में कोई विभाग इसलिए नहीं होता है कि वह अजा है (उत्पन्न नहीं होती है ।) तो अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि देखा जाता है कि आत्मा अजन्मा है फिर भी उसका देह इन्द्रिय तथा मन आदि से भेद होता है । इस बात का हम पीछे समर्थन कर भी आये हैं । **अनादित्वेन० इत्यादि—** अद्वैती विद्वान् अज्ञान को अनादि मानते हैं । इसका अर्थ है कि उसकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं किन्तु उस अज्ञान का आत्मा से भेद होता है, यह उन लोगों को भी निश्चित रूप से स्वीकार करना पड़ेगा । **अपरमार्थः इत्यादि—** यदि वे यह कहें कि अज्ञान का आत्मा से होने वाला भेद अपरमार्थ है, परमार्थ नहीं है तो उनसे पूछता हूँ कि उन लोगों ने जन्म से संबन्ध रखने वाले किसी परमार्थ विभाग को देखा है क्या ? आपके मत में तो प्रतीत होने वाले सारे भेद अपरमार्थ ही होते हैं । **निर्वाधप्रतीति० इत्यादि—** किञ्च इसके बाद ही हम इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाले हैं कि दृक् का दृश्य से भेद तथा दृश्य का दृक् से भेद परमार्थ ही है क्योंकि दृक् तथा दृश्य का भेद निर्वाध प्रतीति से सिद्ध है । अर्थात् इस होने वाली प्रतीति का बाध नहीं होता है । मिथ्या वही पदार्थ होता है जिसकी प्रतीति का बाध होता है, जैसे रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प इसलिए अपरमार्थ माना जाता है कि उस सर्प की प्रतीति का बाध होता है ।

संवित् के मेपधर्म का प्रतिपादन

मूल— **यदपि नास्यामेयोधर्मोऽप्यस्ति चेत्यानां न चिद्धर्मत्वमिति च तदपि शास्त्रानुमानादि प्रमाणसिद्धैः स्वयंप्रकाशत्वनित्यत्वादिधर्मैः स्वयमभ्युपगतैरनैकान्तिकम् । न च ते चितिमात्रमिति वाच्यं तत्सिद्धावपि तेषु विमतिदर्शनात् अभ्युपगम्यैव हि संविदं तदनुमेयत्व-क्षणिकत्वादि प्रतिजानते वादिनः स्वरूपभेदाच्च स्वाश्रयं प्रति सत्तयैव**

कस्यचित्प्रकाशनं हि संवेदनं, स्वयंप्रकाशता तु सत्तयैवात्मने प्रकाशमानता, प्रकाशश्च चिदचिदशेषपदार्थ साधारणो धर्म इति संवित्सिद्धावेव साधितं, तदनभ्युपगमे तु व्यवहारानुगुण्यवचनः प्रकाश शब्दः, नित्यता तु सर्वकालवर्त्तमानता, एकसंख्यावच्छेदः एकत्वमिति । न च जडत्वकालदेशनानात्वाद्यवच्छेदशून्यतारूपत्वात्तेषां न यथोक्तदोष इति युक्तं तथा रूपैरपि तैश्चितिधर्मभूतैरनैकान्त्य-स्यापरिहार्यत्वात्, संविदि च निषेध्यत्वाभिमतजडत्वानित्य-त्वनानात्वादिविरुद्धविविधधर्माभावे निषेधोक्तिरुक्तिमात्रमेव चेत्यं चाज्ञानमात्मनि दृष्टमिष्टं च भवताम् अपि च अस्या इति षष्ठ्या अनुभूतेः संबन्धमभिधाय निर्धर्मत्वं प्रतिज्ञायमानं बन्ध्यात्वमिव जनन्या विरुद्धार्थमापद्येत ।

तत्त्वप्रकाशिका— यदिप इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि इस संवित् का कोई मेय धर्म भी नहीं है । किञ्च जो चेत्य (मेय) धर्म होते हैं वे संवित् के धर्म नहीं होते हैं । तो अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन अनैकान्तिक है । क्योंकि शास्त्र के द्वारा तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा संवित् के स्वयं प्रकाशत्व तथा नित्यत्व आदि धर्मों की सिद्धि होती है । संवित् के इन धर्मों को अद्वैती विद्वान् भी स्वीकार करते हैं ।

न च ते चितिमात्रम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वान् यदि यह कहें कि स्वयम्प्रकाशत्व तथा नित्यत्व आदि चैतन्य के धर्म नहीं हैं अपितु वे ज्ञान स्वरूप ही हैं उनका यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि स्वयं प्रकाशत्व तथा नित्यत्व इत्यादि संवित् के धर्म रूप से ही प्रतीत होते हैं। **तत्सिद्धावपि० इत्यादि—** अर्थात् यदि स्वयम्प्रकाशत्व आदि को संवित् का स्वरूप मान भी लिया जाय तो भी ज्ञान के स्वयम्प्रकाशत्व तथा नित्यत्व आदि के विषय में विचारकों का वैमत्य देखा जाता है । **अभ्युपगम्यैव० इत्यादि—** तत्-तत् वादी संवित् को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे संवित् के अनुमेयत्व तथा क्षणिकत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन

करते हैं । अतएव विवाद के विषयभूत स्वयं प्रकाशत्व आदि सर्व सम्मत संवित् के धर्म ही होंगे, वे संवित् के स्वरूप नहीं हो सकते हैं ।

स्वरूपभेदाच्च० इत्यादि— किञ्च संवित् के स्वरूप में ही भेद है आप भी सत्ता मय से ही अपने आश्रय के प्रति किसी विषय को प्रकाशित करने को ही संवेदना कहते हैं । **स्वयम्प्रकाशता० इत्यादि**— अपनी सत्ता मात्र से अपने लिए अथवा अपने आश्रय के लिए प्रकाशित होने को स्वयं प्रकाशता कहते हैं । अब प्रश्न होता है कि प्रकाश पदार्थ क्या है ? तो उसका उत्तर है **प्रकाशश्च० इत्यादि**— इस प्रकाश को ही ज्ञातता कहते हैं । यह एक धर्म विशेष है । यह प्रकाश केवल जड़ पदार्थों का ही नहीं होता है अपितु चेतन पदार्थों का भी धर्म है । अतएव अचेतन और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का यह सामान्य धर्म है । इस बात का समर्थन मैंने संवित् सिद्धि में ही किया है ।

तदनभ्युपगमे० इत्यादि— यदि इस प्रकाश को चेतनों तथा अचेतनों का साधारण धर्म नहीं माना जाय तो प्रकाश शब्द का अर्थ व्यवहार के अनुकूल बना देने को ही कहा जाता है । जिस वस्तु का व्यवहार नहीं भी होता है उसको भी ज्ञान व्यवहार के योग्य बना देने का काम करता है । **नित्यता० इत्यादि**— त्रिकाल में बने रहने को ही नित्यता कहते हैं । एक संख्या से युक्त होने वाले धर्म को एकत्व कहते हैं । **न च जडत्वेत्यादि**— यह नहीं कहा जा सकता है कि जड़त्व के अभाव को स्वप्रकाश कहते हैं । देश तथा काल विशेष की सीमा में नहीं रहने को विभूत्व तथा नित्यत्व कहते हैं । बहुत्व के अभाव को एकत्व कहते हैं। ये सभी भाव रूप ही नहीं है अपितु ये अभाव के भी अधिकरण होते हैं । अतएव संवित् के एकत्व, स्वयं प्रकाशत्व, नित्यत्व इत्यादि धर्म नहीं हो सकते हैं । **तथा भूतैरपितैः इत्यादि**— उन सबों के अभाव रूप होने पर भी वे सब एकत्व, नित्यत्व आदि स्वयम्प्रकाशत्व आदि ज्ञान के धर्म होते हैं अतएव उपर्युक्त कथन अनैकान्तिक है । अर्थात् ज्ञान में सधर्मत्व आता ही है । **संविदि च० इत्यादि**— अर्थात् ज्ञान में जो जड़त्व, अनित्यत्व, नानात्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म का अद्वैती

विद्वान निषेध करते हैं यदि इन धर्मों का संवित् में अभाव है तो फिर वे संवित् के जडत्व का निषेध करके उसके स्वयम्प्रकाशत्व आदि का जो प्रतिपादन करते हैं वह तो व्यर्थ ही हो जायेगा । किञ्च आप अद्वैती विद्वानों को आत्मा में चेत्य (अनुभाव्य) अज्ञान की स्थिति अभिप्रेत भी है और वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं ।

अपि च० इत्यादि— किञ्च वे कहते हैं कि इस संवित् का कोई मेय धर्म नहीं है । इसके लिए वे षष्ठयन्त अस्या: शब्द का प्रयोग करते हैं । षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध रूपी अर्थ को बतलाती है । इससे अनुभूति के सम्बन्ध का अभिधान होता है । वह सम्बन्ध द्विष्ठ होता है । अतएव अनुभूति का सम्बन्ध किसी के साथ प्रतीत होता है और उसी अनुभूति को वे निधर्मक वे बतलाते हैं । यह उनका कथन उसी तरह विरुद्धार्थक है जिस तरह कोई माता को बन्ध्या कहे । क्योंकि जो माता होती है वह बन्ध्या नहीं हाती है तथा जो बन्ध्या होती है, वह माता नहीं होती हैं । अतएव संवित् का निर्धर्मकत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ।

संवित् के प्रकारान्तर से सधर्मकत्व का प्रतिपादन

मूल—

सिद्धिश्चेदभ्युपेयेत संविदः स्यात्सधर्मता ।
न चेत्तुच्छत्वमेवोक्तं भवेच्छशविषाणवत् ॥१०॥

तत्वप्रकाशिका— किञ्च प्रश्न होता है कि संवित् की सिद्धि (प्रकाश) होती है कि नहीं ? यदि कहें की संवित् का प्रकाश होता है तब तो वह संवित् सधर्मक ही होगी । यदि कहें कि उसका प्रकाश नहीं होता है तब तो वह उसी तरह तुच्छ होगा जिस तरह शशविषाण या गगन कुसुम इत्यादि तुच्छ हैं । अर्थात् जिस तरह नहीं प्रकाशित होने वाले आकाश कुसुम इत्यादि तुच्छ होते हैं उसी तरह से नहीं प्रकाशित होने वाली संवित् भी तुच्छ ही होगी । यदि वह प्रकाशित होगी तो प्रकाश ही उसका धर्म होगा और संवित् धर्मी होगी ।

मूल— **ननु सिद्धिरेव सा कस्य भोः यदि न कस्यचित् न**

तर्हि सिद्धिरेव, सा हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्किंचित्प्रति, आत्मन इति चेत् कः षष्ठ्यर्थः तदेवं व्योमारविन्दसदृशवपुषि यथोदितदृशि वेदान्ततात्पर्यवर्णनं वेदान्तायैव स्यात् ।

तत्त्वप्रकाशिका— ननु० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि संवित् प्रकाशाश्रय नहीं है, अपितु वह प्रकाश स्वरूप है । अतएव उसके तुच्छत्व अथवा सधर्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । तो यहाँ प्रश्न होता है कि **कस्यभोः इत्यादि—** अर्थात् वह किसका प्रकाश है; क्योंकि प्रकाश तो किसी का होता है । जैसे सूर्य का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश इत्यादि । अतएव उसको भी किसी का प्रकाश होना चाहिए । **यदि न कस्यचित्० इत्यादि—** यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि वह किसी का प्रकाश नहीं है इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि तब तो फिर वह प्रकाश भी नहीं हो सकती है क्योंकि प्रकाश धर्म विशेष है । वह धर्मी के विना हो ही नहीं सकता है । **सा हि पुत्रत्वमिव० इत्यादि—** क्योंकि सिद्धि (प्रकाश) किसी का अवश्य होता है । जिस तरह पुत्रत्व किसी का होता है और किसी के प्रति होती है । जैसे यज्ञदत्त देवदत्त का पुत्र है। इस वाक्य में यज्ञ दत्त का पुत्रत्व देवदत्त के प्रति है । यदि कहें कि वह आत्मा (अपना) ही प्रकाश है । तो प्रश्न होता है कि आत्मनः में विद्यमान षष्ठी का अर्थ क्या है ? उसका कोई-न-कोई धर्म मानना ही होगा । इस तरह से स्पष्ट होता हैं कि संवित् सधर्मक है । **तदेवम्० इत्यादि—** इस तरह से आकाश कमल के समान तुच्छ उपर्युक्त ज्ञानात्मा के ही प्रतिपादन में वेदान्तों का तात्पर्य स्वीकार करना । वेदों का नाश करना ही होगा । अर्थात् ऐसा मानने पर वेदों के प्रामाण्य का विनाश ही हो जायेगा।

नित्यज्ञानात्मवाद में भी प्रत्यभिज्ञा की अनुपपति का प्रतिपादन

मूल— **अपि च नित्यत्वेऽप्यनुभूतेः प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तिस्तदवस्थैव सा ह्यनुभवितारं पूर्वापरकालावस्थायिनमुपस्थापयति, अहमिदमन्व- भूवमिति अनुभूतिस्त्वनुभूतिरेव भवतां न तां प्रति सा कर्त्री कर्म वा ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— अद्वैती विद्वान् ज्ञान को ही आत्मा और उसको नित्य इसलिए मानते हैं कि उनके मत में प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो । किन्तु इस मत में भी प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति अनित्य ज्ञानात्मवादियों के ही समान बनी रहती है । **सहि० इत्यादि**— उस अनुपपत्ति का स्वरूप यह है कि प्रत्यभिज्ञा इस बात को बतलाती है कि जिस आत्मा को प्रत्यभिज्ञा होती है वह पूर्वा पर काल स्थायी होता है और अनुभव करने वाला होता है । वह यह अनुभव करता है कि मैंने इसका अनुभव किया । अद्वैतियों का ज्ञानात्मा नित्य होने के कारण अनुभव काल के पहले भी रहता है और अनुभव के पश्चात् भी रहता है। किन्तु अद्वैती विद्वानों की अनुभूति तो अनुभूति मात्र होती है, वह इस अनुभव की न तो कर्त्री हो सकती है और न तो वह कर्म ही हो सकती है । अतएव नित्य ज्ञानात्म वादियों के भी मत में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति उसी तरह बनी रहती है जिस तरह अनित्य ज्ञानात्म वाद में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति होती है । प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति के लिए आत्मा को अनुभविता इत्यादि रूप से सधर्मक ही मानना होगा ।

ज्ञान ज्ञाता अहमर्थ का धर्म हैं

मूल— **यद्युच्येत परमार्थतस्तथा भूतापि भ्रान्त्या अनुभवितृतया परिस्फुरति रजततयेव शुक्तिः, न हि तथ्यमनवलम्ब्य मिथ्यावभासस्योत्थानमिति तन्न तथा सत्यनुभवसमाधिकरणतया अनुभविताऽहमर्थः प्रकाशेत अनुभूतिरहमिति पुरःस्थितभास्वरद्रव्यशङ्खमुखचन्द्रादेराकारतयेव रजतपीतमुकुरस्थताद्वित्वादिपृथगवभासमान एव त्वयमनुभवः दण्ड इव देवदत्तमर्थान्तरमहमर्थं विशिंषन्नालक्ष्यते अनुभवाम्यहमिति । तदेवमनुभवविशिष्टमस्मदर्थमवभासयन्नयमहंप्रत्ययः कथमिव विशेषणभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः प्रतिज्ञायेत दण्डमात्र इव दण्डी देवदत्त इति प्रत्ययः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि ज्ञान मात्र ही परमार्थ है । वही आत्मा है अधिष्ठान स्वरूप आत्मा में ज्ञाता

अहमर्थ की उसी तरह भ्रमित होती है जिस तरह भ्रम के अधिष्ठान सीपी में रजत का भ्रम होता है । किसी भ्रम के लिए अधिष्ठान का सत्य होना आवश्यक है । रजत् भ्रम में भी सीपी जो भ्रम का अधिष्ठान है वह सत्य है । अतएव भ्रम में अधिष्ठान सत्य होता है और होने वाली भ्रम जन्य प्रतीति मिथ्या होती है ।

अद्वैती विद्वान के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **तन्न तथा सति इत्यादि**— क्योंकि वैसा मानने पर अनुभव करने वाला जो अहम् शब्द वाच्य है वह अनुभव के ही अधिकरण में प्रतीत होने लगेगा । जिस तरह से इदम् रजतम् प्रतीति होती है, उसी तरह में मैं अनुभूति हूँ इस तरह प्रतीति होने का प्रसङ्ग होगा; क्योंकि यहाँ पर धर्मी अनुभव ज्ञाता अहमर्थ का आरोप आप कहते है । किन्तु अनुभूति आत्मा में अहमर्थ का आरोप नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

पुरः स्थित० इत्यादि— एक धर्मी में दूसरे धर्मी का आरोप करने पर आरोग्य तथा धर्मी दोनों की अभेदन उसी तरह से प्रतीति होनी चाहिए जिस तरह सामने विद्यमान भास्वर द्रव्य सीपी में रजतत्व की प्रतीति है । नेत्रों की पीतिमा का आरोप हो जाने पर शङ्ख पीला दिखता है, मुख जो है वह भ्रम के कारण दर्पण में स्थित रूप से प्रतीत होता है । जिस तरह तिमिरदोष के आरोप के कारण दो चन्द्रमा दिखायी देता है । इसी तरह अनुभव में ज्ञाता अहमर्थ का आरोप होने पर मैं ज्ञान हूँ इस तरह से प्रतीति होनी चाहिए । किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती हैं ।

पृथमवभासमान० इत्यादि— किन्तु मैं जानता हूँ इस प्रकार से होने वाली प्रतीति में तो अहमर्थ और ज्ञान दोनों पृथक्-पृथक् रूप से प्रतीत होते हैं । अहम् शब्द वाच्य ज्ञाता अहमर्थ प्रकारी प्रतीत होता है। और ज्ञान उसके प्रकार रूप से प्रतीत होता है । यह उसी तरह से विशेषण विशेष्य रूप से अनुभव होता है जैसे **दण्डीदेवदत्तः** इस प्रतीति में देवदत्त विशेष्य रूप से और दण्ड उसके विशेषण रूप से प्रतीत होता है । **तदेवमित्यादि**— मैं जानता हूँ यह जो ज्ञान होता है वह

अनुभव से विशिष्ट अहमर्थ को प्रकाशित करता है । अतएव यह जो 'मैं' 'मैं' इस रूप से जो प्रतीति होती है, वह विशेषणी भूत ज्ञान मात्र को ही प्रकाशित करती है, यह कैसे कहा जा सकता है ? यह कथन उसी तरह से अनुपन्न है जिस तरह से कोइ यह कहे कि दण्डी देवदत्तः अर्थात् देवदत्त दण्डी है, यह ज्ञान केवल दण्ड को ही बोधित करता है पुरुष तो उसमें आरोपितु है, यह कथन अनुपन्न है । इसी तरह से मैं जानता हूँ इस प्रतीति में ज्ञान मात्र की ही सत्यता नहीं अपितु ज्ञाता अहमर्थ भी सत्य है । और ज्ञाता अहमर्थ का धर्म है ज्ञान ।

आत्मा में ज्ञातृत्व के अनध्यस्तत्व का प्रतिपादन

मूल— **कुतश्चैष निश्चयोऽध्यस्तं ज्ञातृत्वमिति स्थूलोऽहमितिवद् देहात्माभिमानवतः प्रतिभासनादिति चेत् नन्वात्मतयाऽभिमताऽनुभूतिरपि तद्वत एवावभातीति साऽपि तथा स्यात् तत्त्वज्ञानादयात्परतोऽपि तदनुवृत्तेर्न तथासेति चेत् किं भोः तत्त्वज्ञानात् परमबोद्धैव अयमात्मा, हन्तैवं वरमितोऽतत्त्ववेदित्वम् भ्रान्त्याऽपि हि तत्र बहु भद्रं पश्यतीति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— कुतश्चैष० इत्यादि— प्रश्न होता है कि अद्वैती विद्वानों को यह कैसे निश्चय होता है कि ज्ञान में ज्ञातृत्व नामक धर्म आरोपित है ? इस पर अद्वैती विद्वान् यदि यह कहें कि **स्थूलोऽहमिति० इत्यादि**— देखा जाता है कि जिसको देह में ही आत्मत्व का भ्रम हो जाता है उस व्यक्ति को इस बात की प्रतीति होती है कि मैं स्थूल हूँ । जिस तरह आत्मा में स्थूलत्व की प्रतीति मिथ्या है, उसी तरह ज्ञान मात्र आत्मा में ज्ञातृत्व की प्रतीति मिथ्या है, क्योंकि आत्मा में ज्ञातृत्व की प्रतीति भ्रान्त पुरुषों को ही होती है अतएव आत्मा में ज्ञातृत्व की भ्रान्ति होती है और वह मिथ्या है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं— **नन्वात्मतया० इत्यादि**— जिस तरह देह में आत्मा की प्रतीति भ्रान्त पुरुषों को ही होती है, उसी तरह आत्मा रूप से अभिमत अनुभूति की भी प्राप्ति भ्रान्त पुरुषों को ही होती है अतएव ज्ञान की आत्मा रूप से प्रतीति को

भी क्यों नहीं भ्रम जन्य ही माना जाय ? भ्रम रूप होने के कारण ज्ञान के आत्मत्य की प्रतीति को भी मिथ्या ही मान लेना चाहिए ।

तत्त्वज्ञानोदयात्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान कहे कि तत्त्वज्ञान होने के बाद भी चूकि अनुभूति की अनुवृत्ति होती रहती है अतएव अनुभूति को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है तो इसका उत्तर यह है कि **किं भो इत्यादि**— तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् आत्मा ज्ञानवान् नहीं रहता है क्या ? तत्त्वज्ञानोदय का फल मुक्ति की प्राप्ति है उस मुक्तावस्था में भी ज्ञातृत्व की अनुवृत्ति होती रहती है अतएव आत्मा को ज्ञानवान् ही मानना चाहिए । **हन्तैवम्० इत्यादि**— यदि तत्त्वज्ञान के पश्चात् आत्मा ज्ञाता न रहे तब तो उससे अच्छा तत्त्व ज्ञान का उदय नहीं होना ही है; क्योंकि भ्रम के कारण ही सही वह अनेक प्रकार के कल्याणों का अनुभव करता है ।

ज्ञाता अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि

मूल— **ननु ज्ञातृत्वं ज्ञानक्रियाकर्तृत्वं विक्रियात्मकं जडमहंकारग्रन्थिस्थं तत्फलभुक् अकर्ता अविक्रियः साक्षी प्रकाशमात्र आत्मा कर्त्तृत्वादिर्हि दृश्यत्वात् रूपादिवन्नात्मधर्मः कर्तृत्वे ह्यात्मनोऽहंप्रत्ययगोचरत्वेऽपि देहस्येव अनात्मत्वपरार्थत्वजडत्वादिप्रसंगोदुर्निवारः दृष्टं च लौकिकवैदिककर्मसु कर्तृतया प्रसिद्धाद्देहात्तत्क्रियाफलभुजः प्रमातुरहंप्रत्ययिनः पृथक्त्वं तथेहापि प्रमातुरहमर्थाद्विलक्षणः साक्षी प्रत्यगात्मेति युक्तं नैवं युक्तम् अहं जानामीति ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मनो व्यतिरेकेण साक्षिणो नाम प्रकाशमात्रस्य आत्मनोऽनुपलब्धेः, देहेन्द्रियमनःप्राणविज्ञानेभ्यो ज्ञानाश्रयतया विविच्यमाने प्रतीपमञ्चतीव निर्भासमानोऽहंभाव एव हि प्रत्युक्तं नाम, साक्षित्वमपि तस्य साक्षाज् ज्ञातृत्वं न ह्यजानन् साक्षीति व्यपदिश्यते सर्वञ्च प्रकाशमानं ज्ञात्रेऽहमिति चकासते प्रकाशत इति प्रत्यात्मसिद्धोऽयमनुभवअहं जानामि मह्यं प्रकाशत इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— ननु ज्ञातृत्वम्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ज्ञान रूपी क्रिया का कर्तृत्व रूपी जो ज्ञातृत्व है वह विकार स्वरूप है। वह जड है तथा अहङ्कार रूपी ग्रन्थि में रहने वाला धर्म है अब प्रश्न उठता है कि तो फिर आत्मा का स्वरूप क्या है ? तो इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वान कहते हैं **तत्फलभुग० इत्यादि—** अर्थात् आत्मा प्रकाशस्वरूप है। वह कर्तृत्व के फल का भोक्ता है। चूकि उसमें कोई भी विकार नहीं होता है, अतएव अकर्ता है चूकि उसका स्वरूप प्रकाश मात्र है अतएव वह साक्षी है। **कर्तृत्वे हि० इत्यादि—** यदि आत्मा को कर्ता माना जाय तो वह अहं प्रत्यय का विषय होकर, अर्थात् उसके 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने पर भी आत्मा के उसी तरह से अनात्मा, परार्थ, और जड़ होने का प्रसङ्ग होगा, जिस तरह से शरीर अनात्मा परार्थ एवं जड़ है।

यहाँ पर अद्वैती विद्वानों को निम्न प्रकार का अनुमान अभिप्रेत है। आत्मा न तु कर्ता न वा अहमर्थः, आत्मत्वात्, अनन्यार्थत्वात् अजडत्वात् अविक्रियत्वाच्च; यन्नैवं तन्नैवम्, यथा देहः।

यदि सिद्धान्ती यह पूछें कि यदि आत्मा कर्ता नहीं है तो कर्तृत्व का फल भोक्ता कैसे है ? तो इसके उत्तर में अद्वैती विद्वान् कहते हैं **दृष्टं च० इत्यादि—** सभी लौकिक तथा वैदिक कर्मों में तत्-तत् क्रियाओं को करने वाले शरीर के कर्तृत्व का फल भोगने वाला 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने वाला प्रमाता अहङ्कार देह से भिन्न नहीं है। **तथेहापि० इत्यादि—** उसी तरह यहाँ भी ज्ञाता अहमर्थ से भिन्न साक्षी स्वयं प्रकाश को ही आत्मा मानना उचित है।

नैवम्युक्तम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं, प्रकाश मात्र को आत्मा मानना उचित नहीं है। **अहंजानामीत्यादि—** मैं जानता हूँ इस तरह की होने वाली प्रतीति में ज्ञाता रूप से प्रतीति होने वाले स्वयम्प्रकाश अहमर्थ से भिन्न किसी साक्षी नाम का आत्मा जो प्रकाशमात्र स्वरूप हो उसकी उपलब्धि नहीं होती है। **देहेन्द्रिय० इत्यादि—** अर्थात् जिसको प्रत्यक् (आत्मा)

कहा जाता है वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा ज्ञान से भिन्न तथा ज्ञान के आश्रय रूप से प्रतीत होने वाला, इन देह, इन्द्रिय आदि को विरुद्ध प्रतीत होने वाला तथा 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही प्रतीत होने वाला है। अतएव अहमर्थ को ही आत्मा स्वीकार करना चाहिए। **साक्षित्वम्० इत्यादि**— वह ज्ञाता अहमर्थ ही साक्षी है। क्योंकि साक्षी शब्द का निरूपण करते हुए महर्षि पाणिनि कहते हैं **साक्षाज्ज्ञातरिसंज्ञायाम्** अर्थात् साक्षात् ज्ञाता के अर्थ में साक्षी शब्द साक्षात् शब्द से इनी प्रत्यय करके व्युत्पन्न होता है। अतएव साक्षात् ज्ञाता होने के कारण आत्मा को साक्षी कहा जाता है। जो ज्ञाता नहीं होता है उसको साक्षी नहीं कहा जा सकता है। **सर्वं चेत्यादि**— जो कुछ भी प्रकाशित होता है, वह ज्ञाता अहमर्थ के लिए ही प्रकाशित होता है अर्थात् उन सबों को जानने वाला ज्ञाता अहमर्थ ही होता है। सभी आत्माओं को अनुभव होता है कि मैं जानता हूँ यह मेरे लिए ही प्रकाशित होता है। इस तरह सिद्ध हुआ कि ज्ञाता अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है।

अहङ्कार का धर्म ज्ञातृत्व नहीं है, इस अर्थ का प्रतिपादन

मूल— **न चाव्याकृतपरिणामभेदस्य अहङ्कारनाम्नो बुद्धिनामधेयस्य वा ज्ञातृत्वं देहस्येव अचेतनत्वपरिणामित्वजडत्वपरार्थत्वादिहेतुभिस्तदनुपपत्तेः, न च चितिच्छायापत्त्या तयोस्तत्संभवः अचाक्षुषस्य छायाऽदर्शनात्, न च ज्ञातृत्वं चितावपि ते वास्तवमस्ति येन अग्निसंपर्कादयः पिण्ड इव औष्ण्यं तत्संपर्कादर्थान्तरे ज्ञातृत्वं जायते ज्ञायेत वा।**

तत्त्वप्रकाशिका— न चाव्याकृत० इत्यादि— अद्वैती विद्वान् अहङ्कार का धर्म ज्ञातृत्व को मानते हैं। उनके इस कथन का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि ज्ञातृत्व प्रकृति के परिणाम भूत अहङ्कार जिसे बुद्धि के नाम से अभिहित किया जाता है उसका धर्मज्ञातृत्व नहीं हो सकता है। अहंकार तो उसी तरह से अचेतन, परिणामी अर्थात् सदैव विकृत होते रहने वाला, जड़ तथा परार्थ है जिस तरह से शरीर अचेतन,

परिणामी जड़ तथा परार्थ है । अतएव उस अहङ्कार का धर्म ज्ञातृत्व नहीं है ।

यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि विशिष्टाद्वैती विद्वान् भी तो अहङ्कार वाच्य का धर्म ज्ञातृत्व मानते हैं तो उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहम् शब्द दो प्रकार से व्युत्पन्न होता है एक अहम् शब्द अस्मद् शब्द के प्रथम विभक्ति के एक वचन में व्युत्पन्न होता है । दूसरा अहम् शब्द अव्यय प्रतिरूपक है । वही अहम् शब्द प्रकृति का परिणाम विशेष का वाचक है उसी को बुद्धि शब्द से अभिहित करते हैं । वहीं अहङ्कार अभिमान वशात् समादरणीय पुरुषों के भी अपमान का कारण होता है। महर्षि पाणिनि प्रतीत **अहंशुभमोर्युस्** इस सूत्र से उसी अहम् शब्द से युस् प्रत्यय होकर **अहंयुः** शब्द व्युत्पन्न होता है और **अहंयुः** शब्द का अर्थ अभिमानी होता है ।

जो **अहम** शब्द अस्माद शब्द की प्रथमा विभक्ति में व्युत्पन्न होता है, उसी को मैं इस शब्द से अभिहित किया जाता है । वह ही ज्ञाता अहमर्थ है । उसी का धर्म ज्ञातृत्व है, अतएव वह ज्ञानवान् है ।

न च चिच्छाया० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि अहङ्कार का धर्म ज्ञातृत्व नहीं है फिर भी चिच्छाया पति के द्वारा अथवा चित् का सम्पर्क होने के कारण अहङ्कार का धर्म ज्ञातृत्व सिद्ध होता है । तो यहाँ पर यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चिच्छायापत्ति शब्द का विग्रह दो प्रकार से सम्भव है—

१. चितिछायाप चिच्छायापत्ति और

२. चित: छायापति चिच्छायापत्ति ।

चिच्छायापत्ति में यदि सप्तमी तत्पुरुष मानें तो अर्थ होगा कि चित् शब्द वाच्य ज्ञान में अहङ्कार की छाया पड़ती है और यदि षष्ठी तत्पुरुष समास मानें तो तो इसका अर्थ होगा कि अहङ्कार में ज्ञान की छाया पड़ती हैं । **अचाक्षुषस्य० इत्यादि**— किन्तु इन दोनों में से कोई भी विग्रह इसलिए उपपन्न नहीं होता है कि छाया उसी की होती है जो रूपवान् हो, अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय हो, किन्तु ज्ञान और अहङ्कार

दोनों में से कोई भी रूपवान् नहीं है अतएव न तो अहङ्कार की छाया ज्ञान में पड़ सकती है और न ज्ञान की छाया अहङ्कार में पड़ सकती है। अतएव अद्वैती विद्वानों का चिच्छायापत्ति का सिद्धान्त ठीक नहीं है ।

न च ज्ञातृत्वमपि० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि जिस तरह लौह पिण्ड गर्म नहीं होता है, किन्तु जब वह आग में डाल कर गर्म किया जाता है तो वह जलाने का काम करने लगता है और लोग कहते हैं **अयोदहति** इसी तरह जब अहङ्कार का चित् शब्द वाच्य ज्ञान से सम्पर्क के होता है तो उसमें ज्ञातृत्व नामक धर्म आ जाता है। तो अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो ज्ञान का धर्म ज्ञातृत्व को मानते ही नहीं है, अतएव ज्ञान के सम्पर्क से अहङ्कार में ज्ञातृत्व कैसे आ सकता है इसतरह अद्वैती विद्वानों को चिच्छाया प्रत्ति का सिद्धान्त ठीक नहीं है यह सिद्ध होता है ।

अहङ्कार सवित् अभिव्यंजक है, अद्वैती विद्वानों के इस पूर्वपक्ष का उपस्थापन

मूल— **यद्युच्येत ज्ञप्तिमात्रमेव आत्मानमभिव्यञ्जन्नचेतनोऽपि अहङ्कारः स्वाश्रयतया तमभिव्यनक्ति, स्वभावो ह्ययं व्यञ्जकानां यदात्मस्थतयाऽभिव्यङ्ग्यमभिव्यञ्जन्ति दर्पणजलखण्डमुण्डादयइव मुखमिहिरविम्बगोत्वादीन् तत्कृतश्चायम् अहं जानामीति भ्रमः, अत एव खलु अहंमुल्लेखविगमे सुषुप्तिमुत्तयोः स्वाभाविकविशदानुभवमात्ररूपेणातमनः प्रकाशः तत एव च अनात्मत्वमहमर्थस्य, तथा च सौरेशं वचः ।**

आत्मनश्चेदहंधर्मो यायान्मुक्तिसुषुप्तयोः ।
यतो नान्वे त तेनायमन्यदीयो भवेदहम् ॥

इति ।

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि आत्मा तो ज्ञान मात्र ही है, किन्तु उसका प्रकाशन अहङ्कार अपने आश्रय रूप से

करने का काम करता है । **स्वभावो० इत्यादि**— अभिव्यञ्जकों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने अभिव्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जन अपने भीतर किया करते हैं । जैसे दर्पण अपने भीतर मुख का प्रकाशन करता है, जल अपने भीतर ही सूर्य का प्रकाशन करता है तथा गोत्व इत्यादि खण्ड मुण्ड आदि गौओं का प्रकाशन करता है । **तत्कृतश्च० इत्यादि**— अहङ्कार के द्वारा ज्ञानात्मा का अभिव्यञ्जन किए जाने के ही कारण मैं जानता हूँ इस प्रकार का भ्रम होता है । **अतएव खलु० इत्यादि**— इसीलिए जब सुषुप्ति काल में तथा मुक्ति काल में अहम् प्रतीति का नाश हो जाता है उस समय आत्मा का अनुभव रूप से स्वाभाविक तथा विशद प्रकाश होता है । **तत एव० इत्यादि**— चूकि सुषुप्ति तथा मुक्ति काल में अहम् का विनाश हो जाता है अहमर्थ को आत्मा नहीं माना जा सकता है । **तथा च सौरेशंवचः इत्यादि**— सुरेश्वराचार्य ने भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहा है यदि आत्मा का धर्म अहमर्थ होता तो उसकी प्रतीति सुषुप्ति काल तथा मुक्ति काल में भी होती किन्तु सुषुप्ति तथा मुक्ति काल में अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती है, इससे प्रतीत होता है कि अहमर्थ आत्मा का धर्म नहीं है ।

अहङ्कार के आत्माभिव्यञ्जकत्व का खण्डन

मूल— **तदिदमसंबद्धं यतः—**

शान्ताङ्गार इवादित्यमहङ्कारो जडात्मकः ।
स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत् ॥११॥

आत्मत्वाभिमताजडानुभवाधीना हि सर्वपदार्थाभिव्यक्तयोऽभिप्रेयन्ते तादृशमशेषार्थसाधकमुदया स्तमयविपरिवृत्तिशून्यप्रकाशस्वभावंतन्तभनुभवं तदधीनसिद्धिरचिदहङ्कारोऽभिव्यनक्तीति उपहास्यमिदमात्मविदाम् ।

तत्त्वप्रकाशिका— तदिदमित्यादि— अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त प्रकार का जो कथन है कि अहङ्कार ज्ञान को अभिव्यक्त करने का काम करता है; वह अत्यन्त अनुपपन्न है । **शान्ताङ्गार० इत्यादि**— अद्वैती

विद्वानों का यह कथन तो उसी तरह अनुपपन्न है जिस तरह कोई विद्वानों कि ऐसा अङ्गार जिसमें उष्णता का लेश भी न हो बुझकर बिल्कुल राख हो गया हो, वह अङ्गार सूर्य को प्रकाशित करता है यह वाक्य अनुपन्न है। अद्वैती विद्वान् भी आत्मा को स्वयं प्रकाश मानते हैं। उस स्वयम्प्रकाश आत्मा को जड अहङ्कार प्रकाशित करता है यह युक्तियों के विरुद्ध हैं ॥११॥

आत्मत्व० इत्यादि— अद्वैती विद्वान् इस बात को मानते है कि सभी पदार्थों की अभिव्यक्ति आत्मा रूप से अभिमत तथा अजड अनुभव के द्वारा ही होता है। इस तरह के सम्पूर्ण विषयों के प्रकाशक तथा नित्य प्रकाश स्वरूप उस अनुभव के अनुभव के द्वारा ही प्रकाशित होने वाला जड अहङ्कार अभिव्यक्त करता है यह कथन अत्यन्त उपहासास्पद है, यह आत्मज्ञों का कहना है।

अहङ्कार तथा ज्ञान में व्यंजकव्यंग्यभाव नहीं हो सकता है

मूल— **किञ्च**—

ब्यङ्क्तृव्यङ्ग्यत्वमन्योन्यं न च स्यात्प्रातिकूल्यतः ।
व्यङ्ग्यत्वेऽनुभूतित्वमात्मानि स्याद्यथा घटे ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका— दूसरी बात यह है कि अहङ्कार तथा अनुभवात्मा में व्यंजक व्यंग्य भाव नहीं हो सकता प्रतिकूल होने के कारण नहीं हो सकता है। यदि अनुभूति अहङ्कार का व्यंग्य होगी तो वह उसी तरह से अननुभूति हो जायेगी जिस तरह प्रकाशादि के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला घट अननुभूति है।

कहने का अभिप्राय है कि संवित् स्वयं प्रकाश है, अतएव वह तो जड अहङ्कार प्रकाश कर सकता है किन्तु जड़ अहङ्कार वे प्रकाश स्वरूप नहीं है वह कैसे अनुभूति का प्रकाशन कर सकती है ? ।

हथेली सूर्य के किरणों की प्रकाशिका नहीं है

मूल— **दिनकरकरव्यंग्यकरतलं तदभिव्यञ्जकं दृष्टमिति मा वोचः करतलस्य तद्बाहुल्यमात्रहेतुत्वात् तथा भूताश्च दिनकरमरीचयः स्फुटमुपलभ्यन्त इति न करतलव्यंग्यत्वम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— दिनकरकर० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि जिस तरह से सूर्य की किरणों से अभिव्यक्त होने वाली हथेली को देखा जाता है कि वह सूर्य की किरणों का अभिव्यञ्जन करती है । गवाक्ष के छिद्र से गृह में जो सूर्य की किरणें आती हैं वे बीच में प्रकाशित नहीं होती है; किन्तु गवाक्ष के छिद्रों से आने वाली किरणों के बीच में यदि हथेली लगा दी जाय तो वे प्रकाशित होने लगती हैं यह देखा जाता है । हथेली जड़ है और सूर्य कि किरणे स्वयं प्रकाश हैं फिर भी उनमें व्यंग्य व्यंजक भाव देखा जाता है । उसी तरह स्वयं प्रकाश अनुभव का भी प्रकाशक जड़ अहङ्कार है । फलतः दोनों में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव रूप सम्बन्ध मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है । तो अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि—

करतलस्य० इत्यादि— करतल (हथेली) सूर्य की किरणों की अभिव्यञ्जिका नहीं है, अपितु वह सूर्य की किरणों के एकत्रित होने के साधन है । गवाक्ष के छिद्र से आने वाली सूर्य की किरणें हथेली पर आकर एकत्रित हो जाती है, इसीलिए सूर्य की किरणें प्रकाशित होने लगती हैं । अतएव हथेली को सूर्य की किरणों की अभिव्यञ्जिका नहीं माना जा सकता है ।

अहङ्कार के द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति वेद्यगत देवापनोदकरूप अनुग्रह नहीं हो सकती है

मूल— **अपि च केयमभिव्यक्तिः या अनुभूतिरूपस्य आत्मनः अहङ्कारेण क्रियते इत्युच्यते, न तावत्तत्सिद्धिः, तस्य स्वतः-सिद्धत्वेनानन्याधीनसिद्धित्वाभ्युपगमात् । नापि तद्विषयज्ञानं ज्ञानान्तराननुभाव्यत्वात्, अनुभाव्यत्वे हि घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः,**

अत एव न ज्ञानकरणानुग्रहः स हि वेद्यगतज्ञानोदयप्रतिबन्धकापनयनेन वा दीपेनेव संतमसनिरसनेन चक्षुषः, वेद्यसन्निकर्षोपाधित्वेन वा व्यक्तिदर्पणादेरिव जातिनिजमुखादिबोधकस्य नयनादेर्वेत्तृगतकलङ्कक्षालनेन वा शमदमादिनेव परावरात्मतत्त्वज्ञानोपायस्य आगमादेर्न तावदनुभवगतमहङ्कारापनेयमस्ति किंचित् ज्ञानोदयपरिपन्थि, अज्ञानं तु ज्ञानसमानाश्रयविषयतया न तदुभयभावविरहिणि भवदभिमतसाक्षिणि निक्षेपमर्हति, न खलु ज्ञानप्रसक्तिशून्यो घटादिरज्ञानीत्युच्यते तथैव न जातुचिज् ज्ञातृत्वं ज्ञानमात्रस्येति न तस्याऽप्यज्ञानं भवेत् भवदपि तदहङ्कारापनेयंनेष्यते ज्ञानैकनिवर्त्त्यत्वादज्ञानस्य तथाऽभ्युपगमाच्च, ज्ञानं च स्वविषय एव अज्ञानं निवर्त्तयति, न च तद्विषयत्वमात्मतयाऽभिमतस्याऽनुभवस्येष्यत इति तत्रत्यमज्ञानं न केनचित्कदाचिदुच्छिद्येत ज्ञानप्रागभावरूपं चाज्ञानं न ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकमिति शक्यंव्यपदेष्टुं भावरूपमज्ञानमनिर्वचनीयं जगदुपादानमित्यादिप्रलापमात्रमिति संबन्धनिरूपणे प्रतिपादयिष्यते अतो न वेद्यदोषापनयनरूपाहङ्कारेणाऽनुभवाभिव्यक्तिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि जिसे अद्वैती विद्वान अभिव्यक्ति कहते हैं उस अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है ? अनुभूति स्वरूप आत्मा की जिस अभिव्यक्ति को अहङ्कार करता है। **न तावत्० इत्यादि—** उसको अद्वैती विद्वान संविदात्मा का प्रकाशन नहीं कर सकते हैं क्योंकि अद्वैती विद्वान मानते हैं कि संवित् स्वयं प्रकाश है । अतएव उसका प्रकाश किसी दूसरे के द्वारा नहीं हो सकता है । **नापितद्विषयज्ञानम्० इत्यादि—** उस अभिव्यक्ति को वे संविदात्मक विषयक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अद्वैती विद्वान यह मानते हैं कि संविदात्मा ज्ञानान्तर के द्वारा अनुभाव्य नहीं है । यदि वे उसको अनुभाव्य मानें तब तो वह अनुभूति घटादि के समान अननुभूति हो जायेगी ।

अतएव० इत्यादि— चूकि अनुभूति अननुभाव्य है अतएव अभिव्यक्ति

को अनुभूति के अनुभव के साधकतम का अनुग्रह भी नहीं माना जा सकता है । **स हि इत्यादि**— अनुग्रह तीन प्रकार का होता है—

१. वेद्य विषयक होने वाले ज्ञान के प्रतिबन्धक को दूर करने वाला । जिस तरह से दीपक घटादि वस्तुओं के प्रकाश के प्रतिबन्धक घोर अन्धकार को दूर करके घटादि के ज्ञान के कारणों का अनुग्राहक होता है ।

२. **वेद्यसन्निकर्षोपधि० इत्यादि**— वेद्यगति होने वाले सन्निकर्ष की उपाधि (प्रयोजक) होकर जैसे-जैसे व्यक्ति अपने द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य जाति आदि के सन्निकर्ष का सम्पादन करके अनुग्रह बनती है । इसी तरह दर्पण आदि भी चाक्षुष रश्मियों की गति को परावर्तित करके चक्षरिन्द्रिय का मुखादि से भिन्नकर्ष कराने का कार्य करके अनुग्राहक बनते हैं ।

३. **वेद्यगत कलङ्कः इत्यादि**— वेद्य पदार्थों में होने वाले मल को दूर करके कोई अनुग्राहक होता है । जिस तरह से शम दम इत्यादि परावरतत्व (जीवात्म एवं परमात्म तत्त्व) के ज्ञान के साधन शस्त्र इत्यादि के प्रतिबन्ध का साधक के पापादि का अपनयज करके शस्त्र के अनुग्राहक बनते हैं ।

न तावदनुभवगत०— इस अनुभव रूपी आत्मा में कोई भी ऐसा प्रतिबन्धक नहीं हैं जिसको अहङ्कार दूर करके उसकी प्रतीति के साधकतम का अनुग्राहक बन सके । अतएव वह प्रथम कोटि का अनुग्राहक नहीं हो सकता है । यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि अज्ञान ही वेद्य आत्मा के ज्ञानोदय में प्रतिबन्धक है तो अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अज्ञानं तु० इत्यादि**— अर्थात् जो ज्ञान का आश्रय और विषय होता है, वही आश्रय और विषय अज्ञान का भी होता है । किन्तु अद्वैत्यभिमत संविदात्मा का न तो कोई आश्रय होता है और न तो कोई विषय होता है । इस तरह के आत्मा में अज्ञान का प्रवेश ही नहीं हो सकता है । जिस तरह से घटादि को कोई ज्ञान नहीं होता है, अतएव उसको कोइ अज्ञान भी नहीं होता है । **तथैव० इत्यादि**—

उसी तरह से अद्वैती विद्वानों का संविदात्मा ज्ञान मात्र है उसमें ज्ञातृत्व नामक धर्म नहीं है । इसीलिए उस ज्ञान मात्र का अज्ञान से सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।

भवदपि० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् आत्मा में अज्ञान का सम्बन्ध मान भी लें तो उस अज्ञान का अपनोदन अहङ्कार से नहीं हो सकता है क्योंकि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि अज्ञान को दूर करने का काम ज्ञान करता है, अहङ्कार नहीं । **ज्ञानञ्च० इत्यादि**— ज्ञान भी स्वविषयक ही अज्ञान को दूर करने का काम करती है । **नचतदविषयत्वम् इत्यादि**— अद्वैती विद्वान् आत्मा रूप से अभिमत अनुभव को ज्ञान का विषय नहीं मानते हैं अतएव आत्मा में होने वाले अज्ञान को किसी भी साधन से कभी भी दूर नहीं किया जा सकता है । **ज्ञानप्रागभावरूपम्० इत्यादि**— किञ्च प्रश्न है कि अद्वैती विद्वान् अज्ञान को ज्ञान के प्रागभाव रूप मानते हैं अथवा भावरूप । यदि उसे ज्ञान के प्रागभाव रूप से मानें तब तो वह अज्ञान ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है क्योंकि किसी का प्रागभाव उसका प्रतिबन्धक नहीं होता है । **भावरूपम्०** अद्वैती यह जो कहते हैं कि अज्ञान भाव रूप है तथा अनिर्वचनीय है एवं वह जगत् का उपादान कारण है, तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन निरर्थक है, इस बात का हम सम्बन्ध के निरूपण के प्रसङ्ग में करेंगे । **अतो न० इत्यादि**— अतएव अनुभवात्मा रूपी वेद्य में अहङ्कार के द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति पापनोदन स्वरूप अनुग्रह नहीं हो सकती हैं ।

इन्द्रियों का संन्निकर्षाधायक रूप भी अनुग्रह वह अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है

मूल— **दोषापनयनरूपाहङ्कारेणाऽनुभवाभिव्यक्तिः ।**
करणानामभूमित्वान्न तत्संबन्धहेतुता ।
अहमर्थस्य बोद्धृत्वान्न स तेनैव शोध्यते ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका— करणानाम्० इत्यादि— चूकि आत्मा इन्द्रियों

का विषय नहीं बनता है अतएव अहङ्कार के द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति इन्द्रियों तथा आत्म के सन्निकर्ष का प्रयोजिक भी नहीं हो सकती है । अतएव अहङ्कार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रयोजक रूप से भी आत्मा का अभिव्यंजक नहीं हो सकता है । क्योंकि अहमर्थ ज्ञाता आत्मा है । वह स्वयं अपना शोधन है क्योंकि अहमर्थ ज्ञाता अहङ्कार को तीसरी कोटि का भी अनुग्राहक नहीं माना जा सकता है ।

अभिव्यङ्ग्य को अपने भीतर अभिव्यञ्जन करने का अभिव्यञ्जक का स्वभाव नहीं है

मूल— **न च स्वाश्रयतयाऽभिव्यङ्ग्यप्रकाशनमभिव्यञ्जयितुः स्वभावः प्रदीपादावदर्शनात् यथाऽवस्थितवस्तुप्रकाशानुकूल-स्वभावत्वाच्च ज्ञानतत्साधनतमदनुग्राहकाणाम् । तच्च स्वतः-प्रामाण्यन्यायात्, तदनभ्युपगमे च सर्वत्रानाश्वासप्रसंगात्, व्यक्तेस्तु जातिराकार एवेति तथा प्रत्यायनं न व्यंजकत्वप्रयुक्तम् उक्तादेव व्यभिचारात्, दर्पणादिस्तुनायनमहःप्रतिफलनलक्षणदोषहेतुर्नाभिव्यंजको वदनादेः व्यंजकस्त्वालोकादिरेव व्यंजकत्वेऽपि प्रतीपगमनदोषप्रयुक्तस्तत्रान्यथाऽवभासः, न चेह तथाऽहमर्थस्य तादृशदोषापादकत्वं स्वभावः, तथा सति सर्वस्यापि प्रत्यक्षादेरप्रामाण्यप्रसंगात् न किंचित्तथ्यं स्यात् तस्माज् ज्ञातृतया सिध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा न ज्ञप्तिमात्रम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— न च स्वाश्रयतया० इत्यादि— अभिव्यञ्जक का यह स्वभाव नहीं होता है कि वह अपने भीतर ही अभिव्यङ्ग्य का प्रकाशन करे; क्योंकि देखा जाता है कि घटादि के अभिव्यञ्जक दीपक इत्यादि घटादि का प्रकाशन अपने भीतर नहीं करते हैं । **यथावस्थित० इत्यादि—** जितने भी ज्ञान, ज्ञान के साधन तथा उनके अनुग्राहक होते हैं, उन सबों का यह स्वभाव होता है कि जो वस्तु जैसे जहाँ पर और जिस रूप में रहती है, उस वस्तु को उसी स्थान में तथा उसी रूप में प्रकाशन कर देते हैं । जैसे दीपकादि घटादि का उसी स्थान में तथा

उसी रूप में प्रकाशन करने का काम करते हैं जिस स्थान में जैसे घटादि रहते हैं गृह में विद्यमान घट का प्रकाशन दीपादि गृह में ही विद्यमान रूप से करते हैं, वे घटादि का प्रकाशन अपने भीतर नहीं करते हैं। **तच्च० इत्यादि**— वह इसलिए होता है कि ज्ञान स्वतः प्रमाण है। **तदनभ्युपगमे० इत्यादि**— यदि ज्ञान को स्वतः नहीं माना जाय तो फिर सभी ज्ञानों में अप्रामाणिकता की शङ्का होने लगेगी। अतएव ज्ञान को स्वतः प्रमाण ही मानना चाहिए।

व्यक्तेस्तु० इत्यादि— जाति भी व्यक्ति का आकार विशेष है अतएव उसकी अपृथक सिद्ध प्रकार है। वह व्यक्ति की है वह उसकी अभिव्यञ्जिका नहीं है। गति के व्यक्ति का अपृथक सिद्ध विशेषण होने के ही कारण जाति की उस तरह से प्रतीति होती है। **उक्तादेव० इत्यादि**— क्योंकि जाति व्यक्ति के साथ होने वाले इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का प्रयोजक नहीं हैं।

दर्पणाहेस्तु० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने दर्पण को मुख का अभिव्यञ्जक कहा है किन्तु दर्पण तो नेत्र की रश्मियों को परावर्तित करना रूप दोष का कारण है। दर्पण से टकराकर नेत्रों की ज्योंति लौट जाती है और वह अपने मुख को ही ग्रहण कर लेती है, इस पति का फलन रूप दोष के ही कारण दर्पण में मुख की प्रतीति होती है। अतएव दर्पण भी मुख का अभिव्यञ्जक नहीं है। व्यक्ति तथा मुख के अभिव्यञ्जक तो प्रकाश आदि हैं।

न चेह० इत्यादि— जिस तरह दर्पण आदि नेत्र ज्योति के परावर्तन रूप दोष के प्रयोजक हैं उसी तरह से अदमर्थ का यह स्वभाव नहीं है कि वह ज्ञान के साधकतम इन्द्रियों में विपरीत ग्रहणोपयोगी सम्बन्ध रूपी दोष को उत्पन्न करे। **तथा सतीत्यादि**— यदि अहमर्थ को भी दोषापादक मान लिया जाय तो जितने भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाण हैं उनमें अप्रामाण्य का प्रसङ्ग होने के कारण कुछ भी तथ्य नहीं रह पायेगा। **तस्माज्ज्ञात० इत्यादि**— अतएव ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले अहमर्थ को ही आत्मा मानना चाहिए, ज्ञान मात्र को आत्मा नहीं मानना चाहिए।

सुषुप्ति में भी अहमर्थ की प्रतीति होती है; इस अर्थ का सिद्धान्ती द्वारा प्रतिपादन

मूल— **यत्तु सुषुप्तिमुक्तयोर्ज्ञप्तिमात्रतया स्फुरणम् अहमिति तु न प्रतिभातीति तत्र सुषुप्तौ तथाऽवस्थितिः पुरस्तादेव निरस्ता अहमित्येकरूपेणाप्रबोधात्तत्राप्यात्मनःस्फुरणात् यदि परं परागर्थाननुभवात् तमोगुणाभिभवाच्च न विविच्य स्फुटं चकास्ति भवदभिमतानुभूतिरपि तदानीं तथैव हि प्रथत इति वाच्यम् । नाहमहं नाप्यर्थान्तरमपि तु अनुभूतिमात्रज्ञानसाक्षितयाऽवतिष्ठत इत्येवंविधं स्वापसमयभवनुभवन् न हि सुप्तोत्थितः कश्चित् परामृशन्नुपलब्धचरः एतावन्तं कालं न किंचिदहमवेदिषमिति परामर्शनादेव तथात्वं लभ्यत इति चेत् कथमिव, न किंचिदिति निर्देशादिति चेत् । नन्वेवमनुभूतिप्रतिभासोऽपि प्रत्याख्यातः स्यात्, अपि च सुषुप्तिसमयसिद्धमात्मानमहमिति परामृश्य न किंचिदवेदिषमिति तस्य वेदने प्रतिषिध्यमाने तात्कालिकीं वित्तिसिद्धिम् अहमर्थस्य चासिद्धिमभिदधानोऽनुभवविराधमपि न जानाति देवानाम्प्रियः निर्विषया निराश्रया च वित्तिर्नास्तीत्युक्तमेव ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु सुषुप्ति० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सुषुप्ति तथा मुक्ति काल में अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती है अपितु उन कालों में ज्ञान मात्र आत्मा की ही प्रतीति होती है, अतएव ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए अहमर्थ को नहीं, क्योंकि सुषुप्ति तथा मुक्ति काल में अहमर्थ विनष्ट हो जाता है । तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन इसलिए ठीक नहीं हैं कि अभी-अभी हम इस अर्थ का प्रतिपादन कर चुके हैं कि सुषुप्ति काल में भी अहमर्थ की स्फूर्ति होती रहती है उस समय ज्ञान ही नहीं रहता है । **अहमित्येकरूपेण० इत्यादि—** सोने के समय से लेकर जगने के समय पर्यन्त तक आत्मा केवल मैं-मैं इस रूप से ही प्रकाशित होता है ।

यदि परं परागर्था० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि उन

कालों में भी संवित् रहती है किन्तु उसकी पराक् अर्थों से पृथक् प्रतीति इसलिए नहीं होती है कि उस समय अनुभूति का किसी पराक् विषय से सम्बन्ध नहीं होता है और दूसरा कारण यह है कि सुषुप्ति काल में तमोगुण का अतिरेक हो जाने के कारण अनुभूति उससे अभिभूत हो जाती है और वह पराक विषयों से पृथक स्पष्ट रूप से नहीं प्रतीत होती है । **भवदभिता० इत्यादि**— किञ्च विशिष्टाद्वैतियों को अभिमत अनुभूति भी सुषुप्ति काल में स्पष्ट रूप से नहीं प्रतीत होती है । तो इस प्रकार से अद्वैती विद्वान् नहीं कह सकते हैं । **नाहमहम्० इत्यादि**— क्योंकि कोई भी सोकर जगने वाला यह परामर्श नहीं करता है कि स्वाप के समय न तो 'मैं' 'मैं' इस तरह की अनुभूति होती है और न तो किसी दूसरे विषय की प्रतीति होती है अपितु अज्ञान के साक्षी रूप से अनुभूति की ही प्रतीति होती है ।

एतावन्तं कालम्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सोकर जगने वाला यह अनुभव करता है कि इतने समय तक मैं कुछ भी नहीं जान सका । अतः स्वाप काल में ज्ञान मात्र रहता है, अहमर्थ आदि नहीं रहते हैं । तो इस पर विशिष्टाद्वैती पूछते हैं कि **कथमिव ?** अर्थात् यह कैसे सिद्ध होता है **न किञ्चिदिति इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि वह सोकर जगने वाला प्रत्यवमर्श करता है कि कुछ भी नहीं जान सका । **नन्वेवम्० इत्यादि**— इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं न किञ्चित इस कथन से तो उस समय वह अद्वैती विद्वानों के अभिमत अनुभूति की प्रतीति का भी खण्डन कर देता है; क्योंकि किञ्चित के अन्तर्गत तो अनुभूति भी जाती है । **अपिच सुषुप्ति समय० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि सुषुप्ति काल में प्रतीत होने वाले आत्मा का मैं इस रूप से परामर्श करके, कुछ भी नहीं जान सका इस तरह से ज्ञान का निषेध किए जाने पर भी स्वाप समय में होने वाली ज्ञान की सिद्धि (प्रकाश) और अहमर्थ के अप्रकाश (असिद्धि) को बतलाने वाले अद्वैती विद्वान् ऐसे मूर्ख हैं कि वे अनुभव के होने वाले विरोध को भी नहीं जान पाते हैं । **निर्विषया० इत्यादि**— किञ्च हम यह पहले कह चुके है कि कोई भी ज्ञान विषय तथा आश्रय से रहित नहीं होता है ।

सुषुप्ति काल में प्रकाशित होने वाला आत्मा अहमर्थ ही है

मूल— **ननु मामप्यहं न ज्ञातवान् प्रसुप्त इत्यस्ति हि प्रबोधे प्रत्ययः, सत्यम्, स तु वर्णाश्रमादिविशिष्टतया प्रबाधसमयसंवेद्यमानं देहिनं मामित्यादाय स्वाप्ययावस्थाप्रसिद्धाविशदस्वानुभवैकताना अहमर्थस्य तेन रूपेणाज्ञातत्वं प्रज्ञापयति, न पुनर्ज्ञस्वभावस्य अहमर्थस्यापि । एवमिव खल्वयमनुभवः अत्र सुप्तोऽहमी दृशश्चेति एवं ममापि न ज्ञातवानहमिति अपि च आत्मा सुषुप्तावज्ञान-साक्षित्वेनास्ते इति हि यौष्माकी स्थितिः साक्षित्वं च साक्षाज् ज्ञातृत्वमित्युक्तं, स चायं जानामीति प्रतिभासमानोऽस्मदर्थएवेति कथमिव तदानीमहमर्थो न प्रथेत, स्वस्मै स्वयंप्रकाशमानोऽहमित्येव हि प्रकाशते तत्सिद्धं स्वापादिदशास्वपि आत्मा प्रकाशमानोऽहमित्येव प्रकाशत इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— ननुमामप्यहम्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सोकर के जगने पर यह भी अनुभव होता है कि स्वाप काल में मैं अपने को भी नहीं जान सका । इससे तो यही सिद्ध होता है कि सुषुप्ति काल में अहमर्थ भी नहीं रहता है; क्योंकि माम् शब्द से अहमर्थ का ही परामर्श करके सुषुप्ति काल में उसके अनुभव का अभाव उपर्युक्त प्रत्यवमर्श से सिद्ध होता है । **सत्यम्० इत्यादि**— तो अद्वैती विद्वान् के इस बात को पूर्ण रूप से नहीं स्वीकार किया जा सकता है। **सतु० इत्यादि**— उस प्रत्यमर्श में माम शब्द से जागरण काल में प्रतीत होने वाले की शरीरधारी जो वर्ण, आश्रम, तथा जाति रूप से जो प्रतीति होती है, उसी को माम् इस शब्द के द्वारा कहा जाता है । उसकी स्वाप्यावस्था में उस अविशद तथा स्वयम्प्रकाश के एकमात्र (आश्रय) ज्ञाता अहमर्थ की वर्णाश्रमादि विशिष्ट रूप से उसकी प्रतीति के अभाव को मामप्यहं न ज्ञानवान् इस वाक्य के द्वारा बतलाया गया है । ज्ञान स्वभाव वाले ज्ञाता अहमर्थ का उस समय अभाव नहीं बतलाया गया है।

एवमिव० इत्यादि— इस अनुभव का अभिप्राय इस प्रकार है मैं

यहाँ पर सोया था इस प्रकार से मैं सोया था, इस बात को भी मुझे सुषुप्ति काल में पता नहीं चला । **अपि च० इत्यादि**— आप अद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि सुषुप्ति काल में आत्मा अज्ञान का साक्षी बन कर रहता है । **साक्षित्वम्० इत्यादि**— यह भी मैंने कहा है कि साक्षात् जानने की क्रिया को ही साक्षित्व कहते हैं इस बात को मैं पहले ही कह चुका हूँ और मैं जानता हूँ इस प्रकार से प्रतीत होने वाला अस्मदर्थ ही आत्मा है । अतएव कैसे यह कहा जा सकता है कि सुषुप्ति काल में अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती है ? **स्वस्मै० इत्यादि**— जो अपने ही प्रकाशित होता है वह मैं इस रूप से ही प्रकाशित होता है । **तत् सिद्धम्० इत्यादि**— इस तरह से सिद्ध हो गया कि स्वापादि काल में भी प्रकाशित होने वाला अहमर्थ ही है ।

अहमर्थ के आत्मत्व का प्रतिपादन

मूल— **यत्तु मुक्तावहमर्थोनोपावर्त्तत इति तद् वार्तं यतस्तथा सति वैनाशिकदर्शन इव आत्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात् नो खल्वहमिति धर्ममात्रं येन तदपगमेऽप्यविद्या-निवृत्त्यामिवात्मनः स्वरूपेणावतिष्ठत इत्युच्यते अहमित्येव हि तस्य स्वरूपं, ज्ञानमपि हि तद्धर्मत्वेन तस्यैव प्रकाशते ज्ञानं मे जातमिति का कथा पुनरर्थान्तरस्यात्मत्वे ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि मुक्तावस्था में अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती है तो उनका यह कथन उनके क्षुद्र विचारों की उपज मात्र है । **यतस्तथा० इत्यादि**— क्योंकि वैसा होने पर तो जिस तरह से बौद्ध दर्शन में आत्मनाश को ही मुक्ति माना जाता है, उसी की अद्वैती विद्वान् मुक्ति में अहमर्थ की अननुवृत्ति के प्रतिपादन के द्वारा प्रकारान्तमर से प्रतिज्ञा यह कह कर करते हैं । **नो खलु० इत्यादि**— अहम्-अहम् इस रूप से प्रतीत होने वाला आत्मा धर्म मात्र नहीं है, कि उसके विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा उसी तरह से अपने स्वरूप मात्र से बनी रहे जिस तरह अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी

आत्मा स्वरूपतः बना रहता है यह कहा जा सके । **अहमित्येव०** **इत्यादि**— अहमर्थ ही आत्मा का स्वरूप है **ज्ञानमपि० इत्यादि**— ज्ञान भी उस अहमर्थ का ही धर्म है । उसका ज्ञान होने के कारण मुझको ज्ञान हुआ इस प्रकार की प्रतीति होती है । **का कथा० इत्यादि**— इस तरह यदि ज्ञान ही आत्मा नहीं हो सकता है तो उससे भिन्न देह, इन्द्रिय आदि के आत्मा होने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं हो सकता है ।

मुक्ति में भी आत्मा मैं इस रूप से ही प्रकाशित होता है

मूल— **अन्यच्चयः सांसारिकदुःखैर्दुःखित्वेनात्मानं तत्त्वतो भ्रान्त्या वा प्रत्येति दुःख्यहमिति स सर्वमिदमनिष्टजातं कथमहमपुनरुदयमपनुद्य अव्याकुलं स्वस्थो भूयासमिति संजातमुमुक्षः तत्साधने प्रवर्तते स यदि साधनानुष्ठानादहमेव न भविष्यामी-त्यवगच्छति अपगच्छेदसौ मोक्षकथाप्रसङ्गादपि ततश्चासंभवद-धिकारितया सर्व एव वेदान्तविधयः सर्वाणि च मोक्षशास्त्राणि प्रामाण्यादेव प्रच्यवेरन् अहमुपलक्षितः प्रकाशोऽपवर्गेऽवस्थास्यत इति चेत् किमतः, न हि मयि नष्टेऽपि काऽपि प्रकाशः स्थास्यतीति कश्चित्प्रेक्षावान् प्रयस्यति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अन्यच्च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि जो मनुष्य अपने को वास्तविक रूप से अथवा भ्रान्तिवशात् अपने को सांसारिक दुःखों से दुःखी मानता है, वही मनुष्य सोचता है कि मैं किस प्रकार से इस सम्पूर्ण अनिष्ट समूह को सदा सर्वदा के लिए दूर करके, व्याकुलता से रहित स्वस्थ हो जाऊँ । इस तरह से विचार करने के कारण उसमें मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है । उस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो जाने पर वह मोक्ष प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्त होता है । **सयदि० इत्यादि**— वह यदि यह जान जाय कि इन मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान करने पर मेरा ही नाश हो जायेगा तब तो फिर जहाँ कहीं भी मोक्ष की चर्चा प्रारम्भ होगी वहाँ से वह दूर भाग जायेगा। **ततश्च० इत्यादि**— ऐसी स्थिति में मोक्ष शास्त्र के किसी भी अधिकारी

के नहीं रहने के कारण वेदान्त सम्बन्धी जितनी भी विधियाँ हैं, तथा मोक्ष विषयक जितने भी शास्त्र हैं वे सबके सब अप्रामाणिक हो जायेंगे।

अहमुपलक्षितः इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि मुक्तावस्था में अहमर्थ का तो विनाश हो जाता है किन्तु अहमर्थ से उपलक्षित प्रकाश बना रहता है तो उस प्रकार के रहने से कौन सा लाभ है ? कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मोक्षावस्था में मैं तो नष्ट हो जाऊँगा किन्तु कोई प्रकाश उस समय बना रहेगा, यह जानकर मोक्ष प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्त नहीं हो सकता है ।

मूल— **एतेन तदपि परास्तम् अस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंशश्चिदेकरसः प्रकाशः स आत्मा तस्मिंस्तद्बलनिर्भासिततया लक्षणता युष्मदर्थ एव अहं जानामीति सिध्यन्नर्थ इति प्रत्यक्षविरोधात् अहं जानामीति सिध्यश्चेतनो युष्मदर्थ इति माता बन्ध्येतिवद्व्याहताथ वचः, न चासावन्याधीनावभासः चैतन्यस्वभावतया स्वयंज्योतिष्ट्वात् प्रकाशश्च प्रकाशत्वादेव कस्यचिद् भवेत् । दीपादिप्रकाशवदिति नात्मा भवितुमर्हति अतो ज्ञातृतया अहमिति सिद्ध्यन्नर्थ एव आत्मा।**

तत्त्वप्रकाशिका— इस कथन से अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन खण्डित हो जाता है कि जो इदमंस से भिन्न परागर्थ से भिन्न ज्ञानमात्र स्वरूप जो प्रकाश है वही आत्मा है । **तस्मिंस्तद्बल० इत्यादि**— उसी ज्ञानमात्र आत्मा में उस ज्ञानात्मा के द्वारा होने वाला जो अहमर्थ है । जो मैं जानता हूँ इस रूप से प्रकाशित होता है वह अहमर्थ आत्मा नहीं है ।

यहाँ अद्वैती विद्वानों को निम्नांकित अनुमान अभिप्रेत हैं—

१. ज्ञान स्वयं प्रकाश है, क्योंकि वह ज्ञान है ।

२. ज्ञान ही आत्मा है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है ।

३. ज्ञान ही आत्मा है क्योंकि वह प्रत्यक् है ।

४. अहमर्थ स्वयम्प्रकाश नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान से भिन्न है ।

५. अहमर्थ पराक् है, क्योंकि उसका प्रकाश संविदात्मा से होता है।

६. अहमर्थ आत्मा नहीं है, क्योंकि वह परागर्थ है ।

प्रत्यक्षविरोधात० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों का यह जो कथन है प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने के कारण उसको नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान के आत्मतव में धार्मिक ग्राहक प्रमाण का अभाव है । क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान धर्म रूप से ही प्रतीत होता है । **अहं जानामीति० इत्यादि**— मैं जानता हूँ इस वाक्य के द्वारा प्रतीत होने चेतन युष्मदर्थ (परागर्थ) ही है, इस तरह से अद्वैती विद्वानों का कथन उसी तरह से बाधित होता है जिस तरह माता बन्ध्या है, यह कहना बाधित होता है । **नचाऽसौ० इत्यादि**— यदि किञ्च अहमर्थ का प्रकाश संविदात्मा अधीन होता है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञाता अहमर्थ का स्वभाव ही चैतन्य होने के कारण स्वयम्प्रकाशत्व है । अहमर्थ अनन्याधीन प्रकाश वाला है, क्योंकि चैतन्य उसका धर्म है जिसका धर्म ज्ञान नहीं होता है, अनन्याधीन प्रकाश वाला नहीं होता है जैसे— घट ।

प्रकाशश्च० इत्यादि— प्रकाश तो किसी का होता है, क्योंकि वह प्रकाश है । जैसे दीपक का प्रकाश । अतएव वह आत्मा नहीं हो सकता है । **अतः इत्यादि**— अतएव मैं मैं इस रूप से प्रकाशित होने वाला अहमर्थ ही आत्मा है और ज्ञान तो उसका धर्म है ।

मुक्ति में भी अहमर्थ प्रकाशित होता रहता है

मूल— **स च मुक्तावप्यात्मनेऽहमित्येव प्रकाशते स्वस्मै प्रकाशमानत्वात् यो यः स्वस्मै प्रकाशते स सर्वोऽहमित्येव प्रकाशमानो दृष्टः यथा तथा प्रकाशमानत्वेनोभयवादिसंमतः संसार्यात्मा, यः पुनरहमिति न चकास्ति नासौ स्वस्मै प्रकाशते यथा घटादिः, प्रकाशते चायं मुक्तात्मा तस्मात्सोऽहमिहमित्येव प्रकाशते । न चैवं प्रकाशामानत्वे मुक्तस्याज्ञानित्वसंसारित्वादिप्रसङ्ग आपादनीयः मुक्तत्वविरोधात् अतदुपाधित्वाच्च तत्प्रत्ययस्य, न ह्यज्ञानोपाधिरहं प्रत्ययः ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञानक्षपितनिरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामतत्प्रत्ययदर्शनात्, श्रूयते हि तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः**

प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च अहमेव च वर्तामि भविष्यामि इत्यादि, तथा कथंचिदप्यविद्यादिक्लेशैर्लेशतोऽपि जातुचिदपरामृष्टस्य परमपुरुषस्याप्यहमित्यात्मपरामर्शः पूज्ञायते हन्ता हमिमास्तिस्त्रो देवताः बहु स्यां प्रजायेय स ईक्षतलोकान्नु सृजा इति तथा—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता अहं वीजप्रदःपिता ।
वेदाहं समतीतानि ॥

इत्यादिभिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— वह अहमर्थ मुक्ति काल में भी अपने लिए मैं मैं, जो रूप से ही प्रकाशित होता है, क्योंकि वह स्वयम्प्रकाश है । जो अपने लिए ही प्रकाशित होता है वे सब मैं मैं इस रूप से ही प्रकाशित होते हैं ऐसा लोक में देखा जाता है । जैसे हम दोनों वादियों को अभिमत संसारी आत्मा । **यः पुनरित्यादि**— और जो मैं मैं इस रूप से नहीं प्रकाशित होता है, वह अपने लिए नहीं प्रकाशित होता है । जैसे घटादि । मैं मैं इस रूप से नहीं प्रकाशित होते हैं अतएव वे अपने लिए भी नहीं प्रकाशित होते हैं । **स्वस्मै० इत्यादि**— यह मुक्तात्मा चूकि अपने लिए ही प्रकाशित होता है अतएव वह मैं मैं इस से ही प्रकाशित होता है ।

न चैव प्रकाशमानत्वे० इत्यादि— यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि यदि मुक्तात्मा मैं मैं इस रूप होगा तो वह भी उसी तरह से अज्ञानी तथा संसारी सिद्ध होयेगा जिस तरह से मैं मैं इस तरह से प्रतीत होने वाला संसारी आत्मा अज्ञानी तथा संसारी होता है । क्योंकि **मुक्तत्वविरोधात्**— शास्त्र बतलाता है कि मुक्ति दशा में अज्ञान विनष्ट हो जाता है । **अदुपाधित्वाच्च० इत्यादि**— और मैं मैं इस रूप से होने वाला जो ज्ञान है वह औपाधिक नहीं है । मैं इस रूप से होने वाला ज्ञान अज्ञानोपाधिक नहीं है । ब्रह्मात्मेत्यादि क्योंकि जिन लोगों ने

ब्रह्म ही आत्मा से साक्षात्कार कर लिया है तथा जिनकी सारी अविद्या का नाश हो गया है, ऐसे वामदेव आदि महर्षियाँ को भी आत्मा का मैं इस रूप से ही ज्ञान होता है यह देखा जाता है। श्रुति कहती भी है **तद्धैतत् पश्यन्० इत्यादि**— ब्रह्मात्मक रूप से अपने आत्मा का साक्षात्कार करने वाले महर्षि वामदेव ने इस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए कहा मैं ही मनु हुआ और मैं ही सूर्य हुआ। मैं ही वर्तमान काल में हूँ और भविष्यत् काल में भी रहूँगा। **तथा० इत्यादि**— किञ्च जिनको कभी भी किसी भी प्रकार से अविद्या आदि से जन्य क्लेशों के लेश का भी संस्पर्श नहीं हुआ वे परम पुरुष परमात्मा भी अपनी आत्मा का परामर्श मैं इस रूप से ही करते हैं, इस अर्थ की प्रतीति, परमात्मा के सङ्कल्पात्मक श्रुति वाक्य से है। श्रुति कहती है— **हन्ताऽहमिमास्तिस्रोदेवताः** अरे! मैं इन तीनों देवताओं के भीतर जीव शरीरक रूप से प्रवेश करके इनके नाम तथा रूप का विभाग करूँ। **बहुस्यां प्रजायेय** मैं एक से अनेक हो जाऊँ तदर्थ प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊँ। **स ईक्षत लोकानुसृजा इति** अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने सत्य सङ्कल्प किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। इन सभी श्रुतियों में श्रीभगवान् अपनी आत्मा का परामर्श मैं इस रूप से ही करते हैं **तथा० इत्यादि**— इसी तरह श्रीमद्भगवद् गीता में भी भगवान् अपनी आत्मा का मैं इस रूप से ही परामर्श करते हुए कहते हैं **यस्मात् क्षरम्० इत्यादि**— चूकि मैं क्षरकोटि के जीवों से उत्कृष्ट हूँ और अक्षर कोटि के जीवों की अपेक्षा उत्तम हूँ इसीलिए मैं लोक तथा वेद में भी पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ। **तेषाम्० इत्यादि**— मैं उन संसारी जीवों का संसार सागर से उद्धार करने वाला हूँ। **अहंब्रीप्रदः** मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ। **वेदाहम्० इत्यादि**— मैं अपने अतीत कालिक सभी जन्मों को जानता हूँ। इस तरह के सभी वाक्यों में भगवान् अपने आत्मा का परामर्श मैं इस रूप से करते हैं।

अहमर्थ के आत्मत्व समर्थन का उपसंहार

मूल— **एवं च साक्षादहमर्थादात्मनो विलक्षणेऽपि देहे येनाव्यक्तिकपरिणामभेदेनाऽहमिति भ्रमः तदभिप्रायोऽहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावोपदेशः भगवतः महाभूतान्यहङ्कारः इति बहुमन्तव्यजनावधीरणहेतुश्चासौ गर्वापरपर्यायस्तत्रतत्र शास्त्रेषु प्रायशो हेयतयोपदिश्यते तस्मादहमिति मतिर्बाधिकापेता साक्षादात्मगोचरैव अनात्मनि तु शरीरे भवन्ती अविद्येति युक्तम् । उक्तं च**

श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन ॥

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या इति ।

महर्षिणा वासिष्ठनन्दनेन । न च ज्ञाप्तिमात्रप्रतिभासः कस्यचिच्छरीरेऽस्ति येन तन्मात्रात्मवादिनाऽप्यनात्मबुद्धिरुपपद्येत ।

अतः प्रत्यक्षसिद्धत्वादुक्तन्यायागमान्वयात् ।

अविद्यायोगतश्चात्मा ज्ञाताऽहमिति भासते ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही आत्मा का प्रकाश होता है तो फिर अहङ्कार का क्षेत्र के अन्तर्गत गीता में क्यों उपदेश किया गया है ? तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **एवम्० इत्यादि**— उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट है कि आत्मा का मानस साक्षात्कार मैं इस रूप से ही होता है फिर भी आत्मा से विलक्षण देह में प्रकृति के जिस परिणाम (कार्य) के कारण 'मैं' 'मैं' इस रूप से आत्मत्व भ्रम होता है वह अहङ्कार है । उसी के अभिप्राय से गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र के अन्तर्गत श्रीभगवान् ने महाभूतान्यऽङ्कार इस वाक्य के द्वारा किया है । यह अहङ्कार प्राकृतिक है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिए । **न अहमनहमनहमहं क्रियते अनेनेति अहङ्कारः।** यह अहम् शब्द अव्यय प्रतिरूपक है । उससे च्विप्रत्यय करके तथा च्विका सर्वापहरी लोप करके उसकी व्युत्पत्ति जाननी चाहिए । इस अहङ्कार के ही कारण मनुष्य अत्यन्त समादरणीय महापुरुषों का भी अपमान कर देता है । यह गर्व का दूसरा पर्याय है । इसका ही शास्त्रों में स्थान-स्थान

पर हेय रूप से निर्देश किया जाता है । **तस्मदित्यादि**— अतएव मैं इस रूप से होने वाली बुद्धि साक्षात् आत्मा का ही बोधक है । उसके आत्मा बोधकत्व में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है । **अनात्मनि० इत्यादि**— आत्मव्यतिरिक्त शरीर में जो अहन्त्वबुद्धि होती है वह अज्ञानवशात् ही होती है, यह मानना चाहिए ।

उक्तं च इत्यादि— महर्षि पराशर ने श्रीविष्णुपुराण में कहा भी है **श्रूयताम्० इत्यादि**— हे कुलनन्दन ! आप अविद्या के स्वरूप को सुनें। उस अविद्या के ही कारण अनात्मा शरीरादि में आत्मा की बुद्धि हो जाती है । **न च० इत्यादि**— अहमर्थ ही आत्मा इसलिए है कि आत्मा का मैं इस रूप से ही प्रत्यक्ष होता है । आत्मा की चूकि मुक्तावस्था में भी प्रतीत होती है । मुक्तावस्था में भी आत्मा की मैं इस रूप से ही प्रतीति होती है अतएव ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा है किञ्च **बहुस्यां लोकान्नु सजा यस्भात्क्षरमतीतोऽहम् इत्यादि** शास्त्रीय प्रमाणों से भी अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि होने के कारण अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि होती है । किञ्च अज्ञानवशात् देह में आत्मा का भ्रम होने पर भी **स्थूलोऽहम् इत्यादि** भ्रमों में भी आत्मा मैं इस रूप से ही प्रतीत होता है अतएव अहमर्थ ही आत्मा है । वह ही ज्ञाता है इस तरह से प्रतीत होता है ।

ज्ञान के आत्मत्वसाधक अजडत्व हेतु का खण्डन

मूल— **यदुक्तम् अजड़त्वाद्वित्तिरेवात्मेति तत्रेदं वाच्यं किमिदमजड़त्वं नामेति यद्युच्येत सदपि यत् न प्रकाशते तज्जड़ं तद्विपरीतमव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकमजड़म् इति, तथा सति सुखादिव्यभिचारी हेतु न खलु सुखदुःखेच्छादयो विद्यमाना अपि कदाचिदनवभासमाना भवन्ति स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वमपि दीपादिभिरनैकान्तिकं ज्ञानव्यतिरिक्तप्रकाशानङ्गी काराच्चासिद्धता विरुद्धता च । यदि मतम् अव्यभिचरितप्रकाशोऽपि सुखादिरन्यस्मै प्रकाशत इति घट इव जड़तां नातिवर्तते तेनानात्मेति, ज्ञानं वा किं स्वस्मै प्रकाशते, अन्यस्येव हि तदपि जानतोऽहमर्थस्य प्रथतेऽहं**

जानामीति अहं सुखीतिवत्, तेन स्वस्मं प्रकाशमानत्वमभिप्रेत्य प्रयुज्यमानो जड़त्वहेतुरसिद्धः संविदि, अतः सत्तयैव स्वमात्मानं प्रति सिद्धयन्नजड़ोऽहमर्थ एवात्मा तत्संबन्धायत्ता तु ज्ञानस्यापि प्रकाशता, अत एव हि स्वाश्रयचेतनं प्रति प्रकटता इतरं प्रत्यप्रकटता च ज्ञानस्य सुखदुःखादेरिव, न चैवमात्मान्तरसंबन्धमर्थान्तरं वाऽपेक्ष्यायमात्मात्मने प्रकाशते एतच्चानन्तरमेवोपपादयिष्यते ।

तत्त्वप्रकाशिका— युदक्तम्० इत्यादि— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ज्ञान ही आत्मा है, क्योंकि वह अजड़ है । **तत्रेदम्० इत्यादि—** उसके विषय में यह प्रश्न होता है कि अजड़त्व का स्वरूप क्या है ? **यद्युच्येत०—** अद्वैती विद्वान यदि यह कहें कि जो अपनी वर्तमानावस्था में भी नहीं प्रकाशित होता है उसे जड़ कहते हैं । उसके विपरीत और जो रहकर नियमतः प्रकाशित होता रहता है उसे अजड़ कहते हैं, तो यह जो अव्यभिचरित प्रकाशात्मक सत्ता कत्व रूपी अजड़त्व साधक हेतु सुख दुःख आदि में व्यभिचरित होता है । यह देखा जाता है कि सुख और दुःख इत्यादि जब रहते हैं तो उसका प्रकाश होता ही है । ऐसा कभी नहीं होता है कि सुख दुःख इत्यादि रहें और उनकी प्रतीति न हो । **स्वसत्ता० इत्यादि—** यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि जो अपनी सत्ता मात्र से प्रकाशित होता है, उसे अजड़ कहते हैं, तो इस हेतु का भी दीपक मणि, द्युमणि (सूर्य) इत्यादि में व्यभिचार होगा । क्योंकि दीपक आदि अपनी सत्ता मात्र से प्रकाशित होते हैं । **ज्ञानव्यतिरिक्त० इत्यादि—** किञ्च अद्वैती विद्वान ज्ञान से भिन्न उसका कोई धर्म नहीं स्वीकार करते हैं वे ज्ञान को ही प्रकाश स्वरूप मानते हैं अतएव स्वसत्ताप्रयुक्त प्रकाशत्व रूपी हेतु उनके सिद्धान्त के अनुसार असिद्ध हेतु है क्योंकि वह ज्ञान में असिद्ध है । किञ्च यह हेतु विरुद्ध हेतु भी क्योंकि अद्वैती विद्वान् प्रकाश को नित्य मानते है ।

यदिमतम्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि यद्यपि सुखादि अव्यभिचरित प्रकाश हैं, अर्थात् रहने पर वे सदा प्रकाशित होते ही रहते हैं, फिर भी वे अपन लिए नहीं अपितु वे अपने से भिन्न

अपनी आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं । जिस तरह से घटादि अपने से भिन्न अपने भोक्ता के लिए प्रकाशित होते हैं, जिस तरह घटादि अपने से भिन्न के लिए प्रकाशित होने के कारण जड़ हैं, उसी तरह सुखादि भी अपने से भिन्न के लिए प्रकाशित होने के कारण जड हैं । अतएव वे आत्मा नहीं है **ज्ञानं वा० इत्यादि**— तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्ञान क्या अपने लिए प्रकाशित होता है ? वह भी अपने आश्रय ज्ञाता अहमर्थ के लिए ही प्रकाशित होता है । इसीलिए प्रतीति होती है मैं जानता हूँ । इस प्रतीति में ज्ञान अहमर्थ आत्मा का उसी तरह से धर्म प्रतीत होता है, जिस तरह **अहम सुखी इत्यादि** प्रतीतियों में सुखादि आत्मा के धर्म रूप से प्रतीत होते हैं । **तेन स्वस्मै० इत्यादि**— अतएव अपने लिए प्रकाशित होना रूप अर्थ को मन में रखकर ज्ञान के आत्मत्व साधक रूप से प्रयुक्त किया जाने वाला अजडत्व हेतु ज्ञान में असिद्ध है । **अतःसत्तयैव० इत्यादि**— अतएव अपनी सत्ता मात्र से अपने लिए प्रकाशित होने वाला अजड अहमर्थ ही आत्मा है । **तत्संबन्धायत्ता० इत्यादि**— उस ज्ञाता अहमर्थ से ही होने वाले सम्बन्ध के अधीन ही ज्ञान का भी प्रकाश होता है । **अतएव० इत्यादि**— इसीलिए अपने आश्रय भूत चेतन के प्रति ज्ञान प्रकट रहता है और दूसरों के प्रति अप्रकट रहता है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह सुखादि अपने आश्रय आत्मा के प्रति प्रकट होते हैं और दूसरों के प्रति अप्रकट होते हैं । **न चैवमित्यादि०**— ऐसा मानने पर यह नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा के आन्तरिक सम्बन्ध (आश्रयान्तर सम्बन्ध) के कारण अथवा दूसरे विषयों (ज्ञानादि) के सम्बन्ध के कारण यह आत्मा अपने लिए प्रकाशित होता है । **एतचच० इत्यादि**— इस विषय का विस्तृत विवेचन हम (ग्रन्थकार) आत्मा के अनन्य साधनत्व के निरूपण के अवसर पर करेंगे ।

बौद्धाभिमत सहोपलभ्य नियम का खण्डन

मूल— **न च ज्ञानेन सहोपलम्भनियमोऽहमर्थस्यार्थान्तरतां वारयति ज्ञानस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, तदपि हि तेन नियतेन सहोपलम्भमित्यहमर्थादनर्थान्तरं मिथ्यारूपमेवापपद्येत, असिद्धश्च संविद्विशेषैः सहोपलम्भनियमः प्रत्येकं व्यभिचारदर्शनात्, न च विशेषमात्रं निर्धूतनिखिलविषयविशेषोषश्लेषं वा वित्तिमात्रमस्ति येन सहोपलम्भनियमः संवेदितुरभिधीयेत, सामान्यं तु सदपि सौगतैर्न वस्तुतयाऽऽस्थीयते समस्तवृत्तिप्रत्यस्तमयेऽपि स्वयंज्योतिरयमात्माऽवतिष्ठत इति च वक्ष्यामः, स्ववाग्विघातश्च एकं द्वाविति निर्देशात् द्वयोर्हि एकक्रियानुप्रवेशे सहशब्दः शिष्येण सहगच्छत्याचार्य इति यथा, अपि च नील तद्धियोरिति द्वे उपादायाभेद इत्येकत्वविधिः सवित्रीबन्ध्यात्वविधिरिव अनेकान्तश्च, संविदि प्रतिषिध्यमानैर्जड़त्वादिभिः सर्वज्ञज्ञानेन सहोपलम्भनियमभागिभिः संसारिज्ञानैश्च तेषामभेदाभ्युपगमे ज्ञानस्य जड़त्वमूर्तत्वादिबुद्धस्य बद्धत्व मित्यापद्येत नियमेन एकज्ञानसिद्धत्वमप्युक्तप्रकारेण प्रत्युक्तं विपक्षव्यतिरेकश्चासिद्ध; । भवतु नियमेन एकज्ञानसिद्धत्वं ज्ञानज्ञेयज्ञातृणां मा च भूदभेदः को विरोधः ?।**

तत्त्वप्रकाशिका— न च ज्ञानेन सहोपलम्भ० इत्यादि— अद्वैती विद्वान यह भी नहीं कह सकते हैं कि अहमर्थ ज्ञान से अभिन्न ही है, यह ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं हैं। क्योंकि यदि वह ज्ञान से भिन्न पदार्थ होता तो उसकी कभी ज्ञान से अलग भी प्रतीति उसी तरह से होती है जैसे परस्पर में भिन्न घट तथा पट कभी एक साथ उपलब्ध होते हैं तथा कभी अलग भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु अहमर्थ की उपलब्धि चूकि सदा ज्ञान के साथ ही होती है। इससे सहोपलम्भ नियम के अनुसार और अहमर्थ दोनों अभिन्न सिद्ध होते हैं। **ज्ञानस्यापि० इत्यादि—** ज्ञान इस सहोपलम्भ नियम के द्वारा ज्ञान भी अहमर्थ से अभिन्न सिद्ध हो जाता है क्योंकि ज्ञान की भी सदा अहमर्थ के साथ ही उपलब्धि होती

है । अतएव यदि अहमर्थ सहोपलम्भ के कारण मिथ्या होगा तो सहोपलम्भ के ज्ञान भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा । **असिद्धश्च० इत्यादि**— यहाँ पर अद्वैती विद्वानों को अभिप्रेत सहोपलम्भ नियम का ज्ञान विशेष के साथ असिद्ध भी है । कहने का अभिप्राय यह कि अद्वैती विद्वानों भिन्न-भिन्न प्रकार के होने वाले प्रत्येक ज्ञान के साथ अहमर्थ की सहोपलब्धि अभिप्रेत है ? अथवा ज्ञान विशेष मात्र के साथ अहमर्थ का सहोपलम्भ अभिप्रेत है ? यदि वे प्रत्येक ज्ञान विशेष के साथ सहोपलम्भ कहें तो ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि अहमर्थ प्रतीति के बिना ही रूपादि का ज्ञान होता है। **न च विशेष० इत्यादि**— सभी भेदों से रहित ज्ञान विशेष मात्र के साथ भी अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती है । इसी तरह से ज्ञान मात्र के साथ भी अहमर्थ की उपलब्धि नहीं होती है । अतएव ज्ञान के साथ ज्ञाता अहमर्थ की सहोपलब्धि नहीं मानी जा सकती है । **सामान्यम्० इत्यादि**— क्योंकि **न निर्विशेषं सामान्यम्** इस नियम के अनुसार चाक्षुषादि से भिन्न ज्ञान विशेष अथवा ज्ञान मात्र कोई ज्ञान नहीं होता है । भिन्न-भिन्न ज्ञानों से अहमर्थ के सहोपलम्भ नियम का व्यभिचार कहा जा चुका है । **सामान्यम्० इत्यादि**— किञ्च बौद्ध विद्वान सामान्य को तो मिथ्या मानते हैं उसको वे वास्तविक मानते ही नहीं है । **समस्त० इत्यादि**— सभी वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर भी यह आत्मा स्वयम् प्रकाश बना ही रहता है इस अर्थ का प्रतिपादन ग्रन्थकार आगे चलकर करेंगे ।

स्वावाविघातश्च— किञ्च सहोपलम्भ नियम के कारण वे कहते हैं कि घटादि नील पदार्थ उसके ज्ञान से अभिन्न ही है । द्वित्व विशिष्ट के अर्थ में एकत्व प्रतिपादन करने में नील और उसके ज्ञान दोनों का निर्देश करके उनमें एकत्व का प्रतिपादन उसी तरह से व्याहत है जिस तरह से कोई कहे कि मेरी माता बन्ध्या है । **अनेकान्तश्च० इत्यादि**— ज्ञान में जडत्व इत्यादि के निषेष करने में यह सहोपलम्भ नियम अनैकान्तिक भी है । संवित् के स्वयं प्रकाश होने के कारण जडत्व आदि के प्रकाश के समय ज्ञान का प्रकाश भी नियमत: होगा ही । ऐसी स्थिति में संवित् के साथ सहोपलम्भ नियम वाले जड़त्व तथा मूर्तत्व आदि का संवित् से

भेद मानने पर संवित् में जड़त्व तथा मूर्तत्व आदि के होने का प्रसङ्ग भी होगा । **सर्वज्ञ ज्ञानेन० इत्यादि**— सर्वज्ञा (बुद्ध) के ज्ञान के साथ सहोपलम्भ नियम वाले संसारी जीवों के ज्ञानों से अभेद होने पर बुद्ध के भी बद्ध होने का प्रसङ्ग होगा । तथा सहोपलम्भ नियम के ही कारण ज्ञान के जड तथा मूर्त होने का प्रसङ्ग भी होगा । **नियमेन० इत्यादि**— एक ही ज्ञान तथा अहमर्थ दोनों का प्रकाश भी उपर्युक्त प्रकार से ही खण्डित हो जाता है । क्योंकि सहोपलम्भ के ही कारण अहमर्थ से ज्ञान का अभेद सिद्ध होने के कारण ज्ञान भी मिथ्या होगा ही । **विपक्ष० इत्यादि**— किञ्च विपक्ष में उसका बाध भी होगा । **भवतु० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ज्ञान के साथ ज्ञेय तथा ज्ञाता के ज्ञान की एकता की सिद्ध हो किन्तु उन सबों का अभेद न हो ऐसा मानने में क्या विरोध है ?।

सहोपलम्भ नियम के अप्रयोजकत्व का प्रतिपादन

मूल—

किमप्रकाशरूपत्वात् प्रकाशमनुरुध्यते ।
व्यवहाराय नीलादिराहोस्वित्तदभेदतः ॥१५॥
इति संदिह्यमानत्वान्नाभेदः शक्यनिर्णयः ।
बोध्यस्थश्चैष नियमो न पुनर्बुद्धिबोद्धृगः ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका— किमप्रकाश० इत्यादि— यहाँ पर सिद्धान्ती पूछते हैं कि नील आदि जो विषय हैं, स्वयम्प्रकाश नहीं होने के कारण अपने व्यवहार के लिए अपने प्रकाशक ज्ञान की अपेक्षा करते हैं अथवा वे संवित् से अभिन्न होने के कारण ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं इस तरह के संदेह के बने रहने के कारण नीलादि पदार्थ तथा ज्ञान के अभेद की सिद्धि का निर्णय नहीं हो सकता है । नीलादि विषयों का संवित् के साथ उपलब्ध होने के ही संविदनुरोधित्व कहते हैं । इस संविदनुरोधित्व का कारण क्या है ? नीलादि का संवित् के साथ अभेद होना अथवा स्वयम्प्रकाश ज्ञान में जड नीलादि का स्वप्रकाश संवित् की अपेक्षा के

कारण है । इस तरह की शङ्का का जब तक निर्णय नहीं हो जाता है, तब तक अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है यह उपर्युक्त कथन का अभिप्राय है । अतएव सहोपलम्भ नियम अभेद का प्रयोजक नहीं हो सकता है । **बोध्यस्थश्चैष० इत्यादि**— सहोपलम्भ नियम दोषोध्य पदार्थों के अभेद का साधक हो सकता है, किन्तु वह ज्ञान तथा ज्ञेय के अभेद का अथवा ज्ञान तथा ज्ञाता के अभेद का साधक नहीं हो सकता है । कहने का अभिप्राय है कि साथ-साथ उपलब्ध होने वाले ज्ञान तथा ज्ञाता का अभेद नहीं हो सकता है । क्योंकि ज्ञाता तथा ज्ञान के अभेद को मानने पर बुद्ध के भी बद्ध होने का प्रसङ्ग होगा । इस तरह से ज्ञाता एवं ज्ञेय का भी अभेद मानने ज्ञेय के ही समान के भी जड होने का प्रसङ्ग होगा । ज्ञाता और ज्ञान का अभेद इसलिए भी नहीं हो सकता है कि ज्ञान के बिना ज्ञाता अहमर्श का प्रकाश स्वापादि दशाओं में होता है, यह देखा जाता है ।

ज्ञाता तथा ज्ञान के अभेद का प्रत्यक्ष से ही बाध होता है

मूल— **स्पष्टश्च प्रत्यक्षबाधः सर्वज्ञानेषु वेद्यादिव वित्तेरपि वेदितुर्भेदसयापरोक्षत्वात्, न च प्रतियोगिनः प्रत्यक्षत्व दृश्यत्वं वा भेदस्यापरोक्ष्ये त्वपेक्षितव्यं सिद्धिमात्रेण तदुपपत्तावप्रयोजकत्वेन तद्विशेषस्यानाक्षपात् अनवभासमानेऽपि प्रतियोगिनि भावाः स्वरूपतः एव विलक्षणाः प्रत्यक्षन्त इति सर्वलोकस्वसाक्षिकमेतत् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— मैं घट को जानता हूँ इत्यादि रूप से होने वाली प्रतीतियों में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का परस्पर में भेद की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है । **सर्वज्ञानेषु इत्यादि**— जितने भी ज्ञान होते हैं उनमें देखा जाता है कि जिस तरह ज्ञाता से ज्ञान के भेद की प्रत्यक्षतः प्रतीति होती है, उसी तरह वेद्य पदार्थों से भी ज्ञान के भेद की प्रतीति प्रत्यक्षतः होती है । **न च० इत्यादि**— भेद के साक्षात्कार में उसके प्रतियोगी के प्रत्यक्षत्व का अथवा दृश्यत्व का उसके कारण रूप से होना अपेक्षित नहीं होता है । **सिद्धिमात्रे० इत्यादि**— प्रतियोगी संवित् के प्रकाश मात्र

से ही संवित् के भेद की सिद्धि हो जाने पर प्रत्यादि दूसरे ज्ञान के अधीन उसके प्रकाश के भेद प्रत्यक्ष प्रकाश का कारण नहीं होने के कारण प्रकाश विशेष के प्रत्यक्षादि दूसरे ज्ञानों के अधीन होने की आवश्यकता नहीं होती है । कहने का अभिप्राय है कि अन्योन्या भाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण का प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है । तथा प्रतियोगी का प्रकाश मात्र अपेक्षित होता है । यहाँ पर तो प्रतियोगी ज्ञान का प्रकाश तो स्वयम् होता रहता है । अतएव उसके ज्ञाता का ज्ञान से भेद के प्रत्यक्ष में किसी भी प्रकार की अनुपत्ति नहीं है । **अनवभासमाने० इत्यादि**— अतएव प्रयोगी संवित् के प्रकाशित नहीं होने पर भी सभी भाव पदार्थों की स्वरूपतः ही एक से दूसरे की विलक्षणता का प्रत्यक्ष होता है । सभी लोग इस बात का अनुभव करते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों परस्पर में विलक्षण हैं ।

मूल— **ननु जीवतोभेदप्रत्यक्षस्य शिरसि पदनिधानेन सहोपलम्भनियमस्याभेदेन प्रतिबन्धग्रहणमिति कथमिव ततस्तद्बाधसम्भवः तथा सति हि ज्वालाभेदानुमानमपि तदेकत्वप्रत्यभिज्ञयाऽपोद्येत अविशेषज्ञोदेवानाम्प्रियः तत्र ही क्लृप्तकारणदोषानुवृत्तौ सत्यां जायमानोऽपरोक्षावभासो न निरवद्यप्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं बाधितुमर्हति, तथाहि अचिरनिर्वापितारोपितेषु एकवतिभागवर्तिषु बहुषु दीपेषु तद्भेदादर्शिनः सुसदृशतया स एवायमिति स्मृतिरूपजायत इति दृष्टम्, अतोऽन्यत्राप्यप्रतिबन्धपुष्कलकारणक्रमोपनिपातादवयवविश्लेषाच्च सुसदृशनिरन्तरप्रवृत्तप्रदीपप्रवाहालम्बनैव तथा मतिरिति निश्चीयते तथकं नानात्वप्रत्ययः स्वतःप्राप्तेन्द्रियवृत्तिविपर्ययप्रयुक्तः समसमयोपजायमानानेकानवद्यप्रत्यक्षप्रतिक्षिप्तविषयश्च द्विचन्द्रादौ दृष्ट इति नासौ तत्रैकत्वानुमानमभिभवितुं प्रभवति, न चैवमिह ज्ञातृज्ञानज्ञेयविवेकसाक्षात्कारी प्रत्यय इति प्रतिरूणद्ध्येवायमिहाभेदानुमानोदयप्रसक्तिम्। न चोपलब्धिसाहित्यनियमादेव तथात्वमत्रानुमेयमिति युक्तं विपक्षे बाधकानुपलब्धेः संविदधीनसिद्धितयाऽपि तथा नियमो पपत्तेः,**

अनैन्द्रियकत्वेन च तद्वित्तिविपर्ययस्याकिंचित्करत्वात् योग्यानुपलम्भ-पराकृतत्वाच्च बाधकप्रत्ययस्य, अपि च विषयसिद्धिर्हि संवित् सा च स्वयंप्रकाशेत्यविवादः तेनावर्जनीयस्तथा नियमः, न च भेदोऽपि सिद्धिमन्तरेण सिध्येदितयनुन्मत्तेन युक्तमापादयितुम् इत्यलमनेनानुभ-वपराहतमतातिव्याकुलीकरणेन ।

तत्त्वप्रकाशिका— बौद्ध विद्वान् यह कहते हैं कि भेद प्रत्यक्ष का खण्डन तो सहोपलम्भ नियम के द्वारा होने वाले अभेद के साथ व्याप्ति ग्रहण हो जाता है, अतएव उस अभेदनुमान का बाध कैसे हो सकता है? यदि उसका बाध प्रत्यक्ष के द्वारा बाध माना जाय तो फिर ज्वाला भेदानुमान का भी ज्वालैक्य प्रत्यक्ष के द्वारा बाध होने का प्रसङ्ग होगा । फलतः ज्वालैक्य प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ज्वालाभेदानुमान का बाध हो जायेगा। तो बौद्धों के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अविशेषज्ञ० इत्यादि**— अर्थात् बौद्ध मतावलम्बी दृष्टान और दार्ष्टान्तिक में होने वाले वैषम्य को भी नहीं जान पाते हैं, अतएव मूर्ख हैं । इस अर्थ का विश्लेषण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं । **तत्र हि० इत्यादि**— बाध्यत्व अथवा बाधकत्व प्रयोजक न तो प्रत्यक्षत्व है और न तो अनुमानत्व है । अपितु जो ज्ञान दोष मूलक होता है, वह बाध्य होता है तथा जो ज्ञान दोष रहित होता है, वह बाधक होता है । ज्वाला भेदानुमान दोष रहित है, अतएव उसका बाध सादृश्य रूपी दोष मूलक ज्वालैक्य प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता है । **तथाहि० इत्यादि**— कहने का अभिप्राय है कि जिस व्यक्ति ने अभी-अभी बुझाकर जलाये गये एक ही बाती के विभिन्न भागों में रहने वाले अनेक द्वीपों को भेद को नहीं देखा है उस व्यक्ति को चूकि सभी ज्वालाएँ अत्यन्त सदृश होती है, इसलिए वह समझता है कि यह ज्वाला वही है । अतएव उसको यह वही ज्वाला है इस तरह से ज्वाला की एकता का भ्रम होता है यह लोक में देखा जाता है । **अतोऽन्यत्र० इत्यादि**— अतएव अन्यत्र भी निरन्तर तैल, वर्ती इत्यादि दीप के कारण की पुष्कलता के कारण तथा उसके अवयवों का विश्लेषण करने से परस्पर में अत्यन्त सदृश ज्वाला के निरन्तर निकलने

के कारण उप ज्वालाओं में अभेद का भ्रम उत्पन्न हो जाता है । **तथैकनानात्व० इत्यादि**— इसीतरह से इन्द्रियों की वृत्ति में विपर्यय (दोष) के कारण एक ही वस्तु में नानात्व का भ्रम होता है । जैसे अङ्गल्यवष्टम्भ अथवा तिमिर दोष के कारण स्वत:प्राप्त चक्षुरिन्द्रिय की ज्योति में दोष आ जाने के कारण एक ही चन्द्रमा में दो चन्द्रों का भ्रम हो जाता है । **सम समय० इत्यादि**— उस समय निद्रोष पुरुष को होने वाले चन्द्रैकत्व के ज्ञान के द्वारा द्विचन्द्र ज्ञान का बाध हो जाता है। **नासौ० इत्यादि**— अतएव दोष युक्त होने के कारण ज्वालैक्य प्रत्यक्ष के द्वारा ज्वाला भेदानुमान का बाध नहीं हो सकता है ।

न चैवमिह० इत्यादि— किन्तु इस दार्ष्टान्तिक स्थल में तो ज्ञाताज्ञेय तथा ज्ञान का साक्षात्कार तो दोष दूषित नहीं है अतएव यह भेद प्रत्यक्ष सहोपलम्भ के कारण अभेदानुमान का बाधक तो है ही । अतएव ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है । **न च० इत्यादि**— सहोपलम्भ के कारण इनके अभेद का अनुमान करना भी उचित नहीं है। क्योंकि विपक्ष में इनका बाधक कोई भी तर्क नहीं है । **संविदा० इत्यादि**— यद्यपि ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान के द्वारा ही प्रकाश होता है फिर भी ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जिसके द्वारा प्रकाशित हो वह उससे अभिन्न हो । **अनैन्द्रिय कत्वेन० इत्यादि**— यद्यपि ज्ञाता तथा ज्ञान में होने वाले भेद का ग्रहण इन्द्रिय जन्य नहीं फिर इन्द्रियों की वृत्ति में होने वाली भिन्नता के द्वारा इनके भेद का बाध नहीं हो सकता है । दूसरी बात है कि चन्द्रद्वित्वज्ञान में जिस तरह निर्दुष्ट चन्द्रैकत्व प्रत्यक्ष बाधक प्रत्यय है उस तरह का यहाँ पर कोई बाधक प्रत्यय भी नहीं है । यदि संहोपलम्भ को बाधक प्रत्यय मानें तो भी योग्यानुपलब्धि ही उस अभेद प्रतीति रूपी बाधक प्रत्यय का योग्यानुपलब्धि से ही बाध हो जाता है । **अपि च० इत्यादि**— किञ्च विषयों के प्रकाश को ही संवित् कहते हैं वह संवित् स्वयम् प्रकाश है । **तेन० इत्यादि**— अतएव विषयों की संवित् के साथ उपलब्धि अवश्य होगी । अभेद को यदि नहीं स्वीकार किया जाय तो भी होगी । **न च० इत्यादि**— यह भी नहीं

कहा जा सकता है कि ग्राह्य और ग्राहक के भेद की सिद्धि प्रकाश के बिना ही हो तो इस तरह की बात जो उन्मत्त नहीं होगा वह नहीं कह सकता है । अतएव अनुभव के द्वारा ही खण्डित होने इस सिद्धान्त को इससे अधिक व्याकुल बनाने से कोई लाभ नहीं है ।

अद्वैतियों के अभिमत ग्राह्य ग्राहक भेद के प्रत्युद्धार का खण्डन

मूल— **अप्रकाशात्मनश्च नीलादे: प्रकाश इत्यनुभवसिद्धत्वान्न समर्थजान्तरं प्रार्थयते, आत्मा तु प्रकाशस्वभाव एव न च तावता ज्ञानत्वं स्वतन्त्रत्वात् परतन्त्रमागन्तुयावदर्थेन्द्रियसन्निकर्षादि कारणसन्निधानमवतिष्ठमानमर्थावच्छिन्नरूपंज्ञानमिति प्रागेवावोचाम। आत्मा तु स्वतन्त्रोज्ञाऽताहमिति प्रत्यात्मं प्रथते । यदि पुनरीदृशोऽप्ययमन्याधीनसिद्धितया ज्ञानमभिलप्यते अभिलप्यतां कामं, तथापि ज्ञानवदेवेदं ज्ञान न ज्ञाप्तिमात्रं तथा ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि नील इत्यादि विषयों का स्वभाव प्रकाश स्वरूप नहीं है । उन सबों का ज्ञान के द्वारा ही प्रकाश होता है, यह अनुभव के द्वारा सिद्ध होने के कारण किसी दूसरे समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता है । आत्मा स्वभावत: प्रकाश स्वरूप है । अतएव प्रकाश स्वभाव वाला होने के कारण वह ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञान क्रिया के करने में स्वतन्त्र होता है । **परतन्त्रमित्यादि**— मैं पहले ही यह चुका हूँ कि ज्ञान विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष रूपी कारण से उत्पन्न होने वाला हमेशा अहमर्थ आत्मा का विशेषण बनकर रहता है, वह कदाचित्क हैं और वह किसी विषय को ही अपना विषय बनाता है । **आत्मा० इत्यादि**— आत्मा तो स्वतन्त्र होता है । प्रत्येक शरीर के भीतर वह ज्ञाता आत्मा मैं इस रूप से प्रतीत होता है। यदि अद्वैती विद्वान् यह पूछें कि आत्मा यदि ज्ञान से भिन्न है तो आत्मा को ज्ञान शब्द से क्यों अभिहित किया जाता है । **यदीदृशोऽपि० इत्यादि**— इस प्रकार का अनन्याधीन प्रकाश होने वाले भी आत्मा को कोई ज्ञान शब्द से अभिहित करता है तो खूब करें । **तथापि० इत्यादि**— फिर

भी ज्ञान शब्द से कहा जाने वाले आत्मा का स्वरूप ज्ञान के सदृश ही होगा वह निर्धर्मक ज्ञान स्वरूप नहीं हो सकता है जैसा कि अद्वैती विद्वान मानते हैं ।

शास्त्र के अनुसार आत्मा के ज्ञातृत्व की सिद्धि

मूल— **अत एव हि छन्दोगाः— 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इत्याद्यामनन्ति तथा 'कतम आत्मेति' प्रश्नपूर्वकमिदमेव लक्षणमामनन्ति वाजसनेयिनः । ''योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष इति अत्र हि योऽयं सर्वलोकानुभवसिद्धो विविधविषयवेदन प्रचुरः प्राणेषु प्रेरकतया स्थितो हृदयायतने अन्तर्ज्योतिरहमिति प्रत्यक्त्वेन प्रकाशते स पुरुष इति यथोदितमेवात्मस्वरूपमुपदिश्यते'' ''एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष'' इत्याथर्वणाः, तथा 'विज्ञातारमरे केन विजनीयादिति', 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्' 'स उत्तमः पुरुषः' नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्याद्याः।**

तत्त्वप्रकाशिका— अतएव हि० इत्यादि— चूकि आत्मा ज्ञाता हैं इसी छन्दोग शाख का अध्ययन करने वाले कहते हैं **अथ० इत्यादि—** अर्थात् जो यह जानता है कि मैं सूंघता हूँ वही आत्मा है । यह श्रुति आत्मा को ज्ञाता बतलाती है । **तथा कतम० इत्यादि—** बाज सनेयी शाखा का अध्यन करने वाले भी आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस तरह के प्रश्न पूर्वक आत्मा का ज्ञातृत्व ही लक्षण बतलाते हैं । वे कहते हैं **योऽयं विज्ञानमयः इत्यादि—** आत्मा विज्ञान प्रचुर है । वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता है वह हृदय के भीतर स्थित रहता है । वह अन्तर्ज्योति अर्थात् स्वयम्प्रकाश है । इसीलिए श्रुतियों में उसके ज्ञान शब्द से भी अभिहित किया गया है । **अत्र हि० इत्यादि—** यह जो सभी लोगों के अनुभव के द्वारा सिद्ध होने वाला, अनेक प्रकार के विषयों के विज्ञान से

प्रचुर प्राणों के भीतर प्रेरक रूप से हृदय के भीतर विद्यमान रहने वाला स्वयम्प्रकाश 'मैं' 'मैं' इस रूप से तथा प्रत्यक् (जीवात्मा) रूप से प्रकाशित होता है वही आत्मा है, इस तरह से उपर्युक्त श्रुति आत्मा के स्वरूप का उपदेश करती है। **एषहि० इत्यादि**— अथर्व बेदाध्यायी भी कहते हैं **एष हि० इत्यादि**— अर्थात् यह आत्मा ही देखने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, रसास्वाद लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, ज्ञान प्रचुर आत्मा है। **तथा विज्ञातारम्० इत्यादि**— इस तरह से दूसरी श्रुति कहती है कि विज्ञाता जीवात्मा शरीरक परमात्मा को किस साधन के द्वारा जाना जा सकता है। **न पश्य० इत्यादि**— परमात्मा का जिसने साक्षात्कार कर लिया है ऐसा मुक्तात्मा मुक्तावस्था में मृत्यु, रोग तथा दु:ख का अनुभव नहीं करता है। **सः इत्यादि**— वही उत्तम पुरुष है। वह न तो अपने पूर्व जन्म का स्मरण करता है और न तो इस पाञ्चभौतिक शरीर को ही स्मरण करता है। दूसरी श्रुति कहती हैं **एवमेवास्य० इत्यादि**— इस तरह इस द्रष्टा पुरुष की पुरुष सम्बन्धी सोलह कलायें परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करके निवृत्त हो जाती हैं। **तस्माद्वा० इत्यादि**— उस मनोमय से भिन्न उसके भी रहने वाला तथा मन से भी अन्तरङ्ग आत्मा विज्ञान प्रचुर है। ये सभी श्रुतियाँ आत्मा को विज्ञान प्रचुर बतलाकर उसको ज्ञानवान बतलाती हैं।

आत्मा ज्ञानवान् ही है

मूल— **'सत्यं ज्ञानम्' इत्यत्रापि ब्रह्मलक्षणनिर्देशे ज्ञान— शब्दो न ज्ञानमात्रवचनः अपि तु तद्वद्वचनः तद्वचनत्वे लिति इति आद्युदात्तत्वप्रसक्तेः, अन्तोदात्तश्चायं ज्ञानशब्दः, मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तत्वे तथात्वं घटते नान्यथेत्येतत् परमात्मनिरूपणे अतिनिपुणमुपपादयिष्यामः ऐतरेयकोपनिषदपि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्युक्तवा 'स एतेन प्राज्ञेनात्मना' इति प्रकृष्टज्ञानवन्तमेवेश्वरं दर्शयति तत्सिद्धं ज्ञातैवायमात्मेति।**

तत्त्वप्रकाशिका— सत्यम्० इत्यादि— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

इस श्रुति में भी ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करती हुयी श्रुति ब्रह्म को ज्ञानवान् ही बतलाती है । अतएव ज्ञान शब्द केवल ज्ञान का ही बोधक नहीं है, अपितु वह ज्ञानवान् का बोधक है । ज्ञान शब्द को ज्ञान मात्र का बोधक मानने पर ज्ञान शब्द में भाव के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके 'लिति' सूत्र से लित् स्वर होने के कारण आद्युदात्त मानना होगा । किन्तु **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस श्रुति में ज्ञान शब्द अन्तोदात्त पढ़ा गया है। **मत्वर्थीय० इत्यादि**— ज्ञान शब्द अन्तोदात्त तब ही होगा जबकि उसको मत्वर्थीय अच् प्रत्ययान्त मान लिया जाय । इसके अतिरिक्त प्रकार से वह अन्तोदात्त हो नहीं सकता है, इस बात का हम ईश्वर सिद्धि के प्रकरण में विस्तार के साथ प्रतिपादित करेंगे । **एतरेयो० इत्यादि**— ऐतरेयोपनिषद् में भी **प्रज्ञानंब्रह्म** इस तरह कहकर **'स एतेन प्राज्ञेनात्मनाः'** अर्थात् वह जीव सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा व्याप्त है । इस श्रुति से प्रकृष्ट ज्ञानवान् ईश्वर को बतलाया गया है । **प्राज्ञेन** में स्वार्थ में अण् प्रत्यय प्रज्ञ एव प्राज्ञ:तेन इस तरह से व्युत्पत्ति समझनी चाहिए । इस तरह यह सिद्ध हो गया कि आत्मा ज्ञाता ही है ।

नैयायिकाभिमत आत्मा के आनुमानिकत्व की सिद्धि

मूल— **किं पुनरस्मिन् देहादिव्यतिरेकिणि चेतने प्रत्यगात्मनि प्रमाणम् । अनुमानमिति नयविचक्षणाऽक्षपादः यदाह— 'इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानान्यात्मा लिङ्गमिति' ।**

किममीषामात्मना अविनाभावो दृष्टः धूमध्वजविशेषेणेव धूमविशेषस्य, हन्तैवं तत एव तत्प्रमितेः किमनुमानेन, मा भूद्विशेषतो दर्शनं सामान्यतस्तु भविष्यति तथा हि इच्छादयः कार्यत्वानित्यत्वगुणत्वादिभिः तथा हि इच्छादयः कार्यत्वानित्यत्वगुणत्वादिभिः शब्दादय इवाश्रिततयाऽनुमीयन्ते यश्चैषामाश्रयः स आत्मा, गुणत्वं च परिशेषात् न सामान्यविशेषसमवायभावः अनित्यत्वात्, न द्रव्यं कर्म वा व्यापकद्रव्यसमवायादिति विशेषगुणत्वं चानित्यत्वे सत्यस्मदाद्येकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमाद् रूपादिवत् एवमाश्रयमात्र-

मुपस्थापयन्तोऽन्वयव्यतिरेकिणो हेतवः द्रव्यान्तरगुणत्वं प्रत्याचक्षाणैः केवलव्यतिरेकिसाधनैरात्मगोचरतया नियम्यन्ते । तथा हि भवति इच्छादयो न महाभूतगुणाः स्वात्मन एव प्रत्यक्षत्वात् अवाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वाद्वा ये भूतगुणास्ते स्वात्मपरात्मप्रत्यक्षा वाह्यकरणप्रत्यक्षाश्च यथा रूपादयः न तथा इच्छादय इति न तद्गुणाः, दिक्कालमनांसि पुनर्न विशेषगुणवन्ति, नापि तद्गुणानां प्रत्यक्षत्वमिति न तेषामपि गुणाः अकारणगुणपूर्वत्वात् अयावच्छरीरभावित्वादित्यादयः शरीरविशेषगुणत्वप्रतिषेधहेतवः प्राचीनाश्च अत्रानुक्रष्टव्याः तेन इच्छादयो न शरीरगुणास्तद्गुणभावापवादकप्रमाणवत्त्वे सति गुणत्वात् ये यथोक्तसाध्या न भवनित ते यथोक्तसाधना अपि न भवन्ति यथा रूपादयः यथोक्तसाधनाः पुनरिच्छादय इति यथोक्तसाध्या एवेति, विमतिपदास्पदेभ्यः शरीरादिभ्योऽर्थान्तरगुणा इच्छादय इति वा प्रतिज्ञा यथोक्त एव हेतुः उदाहरणं च प्रयोक्तव्यं समान्येन वाऽान्वयः प्रदर्शनीयः यो यद्गुणभावापवादकप्रमाणवत्त्व सति गुणः स ततोऽर्थान्तरस्य गुणः यथा पृथिव्यादिभ्यः शब्द इति आकाशसिद्धिवदात्मसिद्धिरिति ।

तत्त्वप्रकाशिका— किम्० इत्यादि— चेतन (ज्ञानवान्) तथा स्वयम्प्रकाश देहइत्यादि से भिन्न इस आत्मा में क्या प्रमाण है ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुए नैयायिक विद्वान् गौतम कहते हैं कि आत्मा के उपर्युक्त प्रकार का होने में अनुमान ही प्रमाण है । **यदाह० इत्यादि—** अर्थात् आत्मा के देह आदि से भिन्न प्रकार का होने में यही प्रमाण है कि आत्मा के गुण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख तथा ज्ञान हैं । किन्तु चूकि ये सभी गुण देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा ज्ञान के नहीं हो सकते हैं, अतएव सिद्ध होता है कि प्रत्यगात्मा आत्मा देहादि से भिन्न है । **किममीषाम्० इत्यादि—** अब प्रश्न है कि जिस तरह धूम विशेष का अग्नि विशेष के साथ नियत साहचर्य देखकर यह व्याप्तिग्रह होता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ पर अग्नि होती है और

उसके बाद अनुमान किया जाता है कि चूकि पर्वत पर भी धूम है, अतएव पर्वत पर अग्नि है । इस तरह का सहचार इच्छा आदि के साथ सहचार देखा गया है क्या ? यदि देखा गया है तो उस सहचार दर्शन रूपी प्रत्यक्ष के ही द्वारा आत्मा की भिन्नता सिद्ध हो जाती है, उसका इच्छादि लिङ्ग के द्वारा अनुमान करना व्यर्थ है । यदि सहचार नहीं देखा गया तो फिर व्याप्ति ग्रह हो ही नहीं सकता है । फलतः व्याप्ति ग्रह के बिना इच्छादि के द्वारा आत्मा का अनुमान भी नहीं हो सकता है । इसका उत्तर **मामूद्विशेषतः इत्यादि** से दिया जाता है । अर्थात् जिस साध्य विशेष के साथ इच्छा आदि का सहचार भले ही दृष्ट न हो किन्तु यह तो निश्चित है कि आत्मा इच्छा, द्वेष इत्यादि का आश्रय है । इच्छा आदि उसके गुण हैं अतएव उन दोनों में सहचार है ही । फलतः इच्छादि गुणकत्व के कारण आत्मा की सिद्धि हो ही जाती है । **तथाहि० इत्यादि**— इच्छा आदि कार्य हैं, अनित्य होने के कारण विनाशवान् हैं तथा विशेष गुण भी हैं, अतएव सबों का कोई-न-कोई आश्रय उसी तरह से होगा, जिस तरह शब्द, स्पर्श, रूप तथा रसादि के आकाशादि आश्रय हैं । जो इन सबों का आश्रय है, वही आत्मा है ।

गुणत्वं वा० इत्यादि— इच्छा इत्यादि के गुणत्व का प्रतिपादन करते हुए नैयायिक कहते हैं इच्छा इत्यादि गुण हैं, क्योंकि उन सबों का सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन पदार्थों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि इच्छा इत्यादि अनित्य हैं, और सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव नित्य पदार्थ है । इच्छादि का द्रव्य अथवा कर्म में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि इच्छादि अपने व्यापक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहा करते हैं । **विशेष गुणत्वम्० इत्यादि**— इच्छादि विशेष गुण हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं तथा हमलोगों को मन रूपी इन्द्रिय के द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है । इनका विशेष गुणत्व उसी तरह से सिद्ध हो जाता है जिस तरह से अनित्य तथा एकेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण रूपादि विशेष गुण हैं ।

एवमित्यादि— इस तरह से इच्छादि हेतु अन्वय व्यतिरेकी हेतु हैं,

और केवल व्यतिरेकि हेतु सिद्ध करते हैं कि इच्छादि आत्म व्यरिक्त किसी दूसरे द्रव्य के गुण नहीं हो सकते हैं, अपितु ये आत्मा के ही गुण हैं, उन अनुमानों को स्पष्ट करते हुए नैयायिक विद्वान् कहते हैं **तथाहि० इत्यादि**— इच्छा आदि पञ्च महाभूतों के गुण नहीं है, क्योंकि अपितु वे अपनी आत्मा के ही गुण हैं, क्योकि उनका प्रत्यक्ष अपने आत्मा से ही होता है, अथवा इच्छादि महाभूतों के गुण इसलिए नहीं है कि उनका प्रत्यक्ष किसी बाह्येन्द्रिय से नहीं होता है । जो बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होते हैं वे ही पञ्च महाभूतों के गुण होते हैं । किञ्च महाभूतों के गुणों का प्रत्यक्ष अपनी आत्मा और दूसरों की आत्मा के द्वारा होता है । जैसे रूप आदि इच्छा इत्यादि का प्रत्यक्ष न तो बाह्येन्द्रियों के द्वारा होता है और न तो दूसरे के द्वारा होता है । **दिक्काल० इत्यादि**— इसी तरह से दिशा काल और मन इन सबों का कोई भी विशेष गुण न होता है और न तो उन सबों के गुणों का प्रत्यक्ष ही होता है । इससे सिद्ध होता है कि उनका कोई विशेष गुण नहीं होता है । दिशा, काल और मन के जो संख्या आदि गुण हैं उनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है । पञ्च महाभूतों, या काल, दिक और मन के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान ये सब इसलिए भी गुण नही हो सकते हैं कि उनको इन द्रव्यों का गुण मानने पर वे अकारण गुण पूर्वक हो जायेंगी और विशेष गुणों का यह स्वभाव हैं कि वे कारण गुण पूर्वक ही होते हैं । इच्छा आदि इसलिए भी इन सबों के गुण नहीं हो सकते हैं कि वे अयावच्छरीर भावी होंगे। जिन अकारण गुण पूर्वकत्व, अयावच्छरीर भावित्व इत्यादि हेतुओं के द्वारा पृथिवी के ज्ञानगुणकत्व का निषेण देहात्मवाद के खण्डन के प्रसङ्ग में किया गया है, उन समस्त हेतुओं को यहाँ पर अनुकर्षित किया जाना चाहिए । **तेनेच्छादयः इत्यादि**— अतएव इच्छा इत्यादि शरीर के गुण नहीं हैं क्योंकि शरीर के विशेष गुण रूप आदि के बाधक प्रमाण से युक्त होने पर भी गुण हैं । ये **यथोक्तसाध्याः** जो गुण उपर्युक्त प्रकार के साध्यों से युक्त नहीं होते हैं, अर्थात् अकारण गुण पूर्वकत्व, अयावच्छरीर भावित्व इत्यादि से युक्त नहीं वे उपर्युक्त प्रकार के साधनों से युक्त नहीं

होते हैं। जैसे रूप आदि रूपरसादि कारण गुण पूर्वक तथा यावच्छरीर भावी होने के कारण पृथिव्यादि के गुण माने जाते हैं। **यथोक्तसाधनाः इत्यादि**— और इच्छा इत्यादि आत्मा के कारण गुण पूर्वक तथा यावच्छरीरभावी होने के कारण ही आत्मा के गुण हैं। **वियति० इत्यादि**— विवादास्पद शरीर आदि से भिन्न ही विषयों के गुण हैं, इस तरह से भी यहाँ प्रतिज्ञा वाक्य कहा जा सकता है। अनुमान का स्वरूप होगा विवादास्पद इच्छा इत्यादि शरीरादित्यतिरिक्त आत्मा द्रव्य के ही गुण हैं, वे शरीर गुणों के बाधक प्रमाणों से युक्त हैं, ज्ञान के समान। **सामान्येन० इत्यादि**— अथवा यहाँ पर सामान्य रूप से अन्वयी अनुमान का प्रयोग करना चाहिए। **यो यद्गुणभावः इत्यादि**— जो जिस गुण के सद्भाव के बाधक प्रमाण होने के साथ-साथ गुण होते हैं वे उससे भिन्न द्रव्य के गुण होते हैं। जैसे शब्द पृथिवी आदि के गुणों से भिन्न आकाश का गुण है। इस तरह से शब्द गुणक आकाश की सिद्धि होती है। इसी तरह इच्छा इत्यादि गुण आत्मेतर द्रव्यों से भिन्न रूप से ही आत्मा की सिद्धि करते हैं। आत्मसिद्धि का रूप यह है आत्मा। आत्मा स्वेरत द्रव्यों से भिन्न ही द्रव्य हैं क्योंकि वह इच्छा इत्यादि विशेष गुणों से युक्त है। इस तरह इच्छादि गुण विशिष्ट देखकर आत्मा का अनुमान होता है।

नैयायिकाभिमत आत्मा के अनुमान का खण्डन

मूल— **इदमपि न समीचीनमित्येके, तथा हि अन्वयव्यतिरेकिहेतुभिर्देहादिसाधारणमाश्रयमात्रमवगमितं, न च तावताऽऽत्मसिद्धिः केवलव्यतिरेकी तु साधनदशामेव नासादयति सपक्षान्वयविरहादसाधारणवत् न चैवं केवलान्वयिना विपक्षव्यतिरेकदर्शनविकलतया साधारणवदसाधनत्वं देशकालादिशंकितोपाधिविगमेऽप्यन्वयदर्शनेन साध्यान्वितस्वभावतया परिनिश्चितत्वात् न च साधनाभावे साध्याभावदर्शनमात्रेण साध्यान्वितस्वभावत्वं शक्यं निश्चेतुम् अभावस्यानन्तदेशव्यापितया अनवयवेन ग्रहणस्यैव दुष्करत्वात् कलयाऽप्यन्यत्र वृत्तौ सम्बन्धे नियमासंभवात्**

संदेहग्रस्तत्वाच्च कि साधनाभावप्रयुक्तः साध्याभावः कि वा निमित्तान्मतरप्रयुक्त इति पृथिव्यादिभ्याऽर्थान्तरगुणत्वप्रतिज्ञापि द्रव्यान्तराप्रसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणा ।

तत्त्वप्रकाशिका— इदमपि० इत्यादि— नैयायिकों के उपर्युक्त कथन के अस्वीकार करते हुए श्रोतिय विद्वान् कहते हैं नैयायिकों का उपर्युक्त आत्मानुमान उचित नहीं है । **तथाहि० इत्यादि—** नैयायिकों के द्वारा उपन्यस्त अन्वय व्यतिरेकी हेतु के द्वारा केवल इस बात की सिद्धि होती है कि जिस तरह से शरीर इत्यादि इच्छादि के आश्रय हैं उसी तरह से नैयायिकाभिमत आत्मा भी इच्छादि का आश्रय है किन्तु उतने मात्रा से इस बात की तो सिद्धि होती नहीं है कि जो इच्छा इत्यादि का जो आश्रय है वही आत्मा है । यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि केवलान्वयी हेतु के द्वारा आश्रय की सिद्धि हो जाती किन्तु केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा इच्छादि के आश्रय विशेष की सिद्धि हो जाती है तो ऐसी बात नहीं है । **केवल व्यतिरेकी० इत्यादि—** केवल व्यतिरेकी अनुमान तो अनुमापक हो ही नहीं सकता है, क्योंकि केवल व्यतिरेकी अनुमान का सपक्ष नहीं होता है । यह असाधारण हेतु के ही समान अनुमापक नहीं हो सकता है । जो हेतु केवल पक्षमात्र में रहता है वह असाधारण हेतु कहलाता है । वह न तो सपेक्ष में रहता है और न विपक्ष में रहता है। वह किसी अर्थ का अनुमापक इसलिए नहीं होता है कि उसका साध्य के साथ सहचार ग्रह नहीं होता है । अतएव उसका व्याप्ति ग्रह भी नहीं होता है । यदि नैयायिक कहें कि असाधारण हेतु को इसलिए दोष युक्त माना जाता है कि सपक्ष के रहने पर भी वह सपक्ष में नहीं रहता है, किन्तु केवल व्यतिरेकी में तो ऐसा बात नहीं है, उस हेतु का तो सपेक्ष होता ही नहीं है तो नैयायिक विद्वान् ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रश्न है कि केवलव्यतिरेकी का साध्य प्रसिद्ध होता है या नहीं ? यदि की प्रसिद्ध साध्य होता है तो जहाँ पर प्रसिद्धि होगी वहाँ पर यदि हेतु रहेगा तो वह अन्वयी अनुमान होगा । यदि उसका साध्य अप्रसिद्ध है तो फिर साध्य के व्यतिरेक के भी अप्रसिद्ध होने के कारण उस हेतु को

केवल व्यतिरेकी भी नहीं कहा जा सकता है । **न चैवमित्यादि**— यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि इस तरह से तो केवलान्वयी हेतु में विपक्ष का अभाव होने के कारण वह भी साधारण हेतु के समान अनुमापक नहीं हो सकता है । क्योंकि जो साधारण हेतु होता है, वह पक्ष, सपेक्ष तथा विपक्ष तीनों में पाया जाता है । अर्थात् साध्य का अभाव होने पर साधन का अभाव रूप सहचार नहीं पाये जाने के कारण केवलान्वयी हेतु भी किसी अर्थ का अनुमापक नहीं हो सकता है नैयायिकों का उत्तर देते हुए श्रोत्रिय विद्वान् कहते हैं **देशकालादि० इत्यादि**— देश विशेष तथा काल विशेष मे हेतु साध्य के बिना भी साध्य का साधक होता है। कहने का अभिप्राय है कि अनुकूल तर्क के द्वारा देशकालादिशंकितो पाधि को दूर कर देने पर केवल साध्य तथा हेतु का सहचार देखने मात्र से अन्वय व्याप्ति को निश्चय कर लिया जाता है । क्योंकि वह हेतु साध्य व्याप्य होता है ।

न च इत्यादि— यह नहीं कहा जा सकता है कि इसी तरह साधन के अभाव में साध्य का अभाव पाये जाने मात्र से व्यतिरेकी हेतु का स्वभाव साध्य से अन्वित होने का होता है, यह नहीं कहा जा सकता है । **अभावस्य० इत्यादि**— अभाव अनन्त देश में व्यापक होता है, अतएव उसका अन्वय रूप से ग्रहण करना दुष्कर है । अर्थात् व्यतिरेकी हेतु का साधन तथा साध्य का जो अधिकरण होता है, उसकी अपेक्षा उसके अभाव का जो अधिकरण होता है वह अनन्त होता है । **कलयापि० इत्यादि**— अंश मात्र से कहीं पर भी साध्याभाव से युक्त हेतु में व्यतिरेक साहचर्य रूप व्यतिरेक व्याप्ति का ग्रहण असम्भव है । यदि नैयायिक विद्वान् यह कहें कि सभी प्रत्यक्षों के अधिरणों में व्यतिरेक का ही सहचार देखकर व्यप्ति ग्रह होता है । इस पर श्रोत्रिय विद्वान् कहते हैं **संदेहग्रस्त० इत्यादि**— अर्थात् व्यतिरेकी हेतु में इस प्रकार की शङ्का बनी रहती है कि यहाँ साध्य का अभाव साधन के अभाव के कारण होता है या किसी दूसरे हेतु के कारण होता है ? अतएव केवल व्यतिरेकी हेतु अनुमापक नहीं हो सकता है । **पृथिव्यादि० इत्यादि**— किञ्च नैयायिकों ने यह

जो प्रतिज्ञा की है कि इच्छा आदि से भिन्न ही द्रव्य के गुण हैं, वह प्रतिज्ञा भी अप्रसिद्ध विशेषण से युक्त है । क्योंकि वह द्रव्य कौन है जिसके गुण इच्छादि हैं, यह प्रसिद्ध नहीं हैं । अतएव इस प्रतिज्ञा में अप्रसिद्ध विशेषण नामक दोष है ।

सांख्यभिमत आत्मा के अनुमान का निरूपण

मूल— **एतेन सांख्योदीरितसाधनभेदा अपि अपोदिता वेदितव्याः संघातपरार्थत्वादयः, तथा च तानेव तावदादितो व्याकुर्महे ।**

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

अयमर्थः देहेन्द्रियादयः परार्थाः सङ्घातत्वात् शयनासनशरणादिवत् प्रत्यक्षं च शरीरस्य सङ्घातत्व भूतानां चाव्यक्तमहदहङ्कारेन्द्रियाणां च सुखदुःखमोहात्मतया तथात्वमनुमेयं तद्वदेव, न चेन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वस्याभ्युपेतस्य साध्यवाभिमतपारार्थ्यधर्मस्य चासंहतपरार्थत्वस्यान्यथात्वापादनादुभयविशेषविरुद्धत्वं हेतोः अहङ्कारान्वयव्यतिरेकानुविधानेन 'देवा वैकारिकाः स्मृताः' इत्याद्यागमबलेन प्रकाशलाघवगुणान्वयेन च वैकारिकोभिधानसात्त्विकाहङ्कारभेदयोनित्यस्येन्द्रियाणां प्रमाणसिद्धस्याधवादानुपपत्तेः । आत्मनस्तु सङ्घातत्वे तस्यापि सङ्घातान्तरार्थतयाऽनवस्थापत्त्या निष्प्रमाणकानेककल्पनाप्रसङ्गात् अप्रयोजकत्वाच्च सङ्घातत्वस्य शेषित्वे दृष्टान्तदृष्टाशेषधर्मोपस्थापनेऽनुमानप्रमाण्यस्यैवासंभवापत्तेः, तदसंघातत्वस्य चाप्रचाल्यत्वात्, न च प्रमाणान्तरबलेनाहङ्कारिकत्वसङ्घातान्तरार्थत्वयोर्बाधे अबाधितेन संङ्घातपरार्थत्वेनापि न भवितव्यम्, एवं च संहतत्वव्यापकावरुद्धत्रैगुण्यादिरहितोऽसंहत आत्मा सिद्धस्तथा देहादयः सुखदुःखमोहात्मकतया परेणाधिष्ठीयन्ते यन्त्रादिभिरिव रथादयः । अपि चानुकूलप्रतिकूलवेदनीये सुखदुःखे भृत्यभ्रातृव्यवदनुकूलनीयप्रतिकूलनीयवती दृश्यत्वाद्देहादयो घटादय

इव विलक्षणद्रष्टृका इति अधिष्ठातुरनुकूलप्रतिकूलवेदकस्य द्रष्टु स्त्रैगुण्यादिविपर्ययः पूर्ववदेव निर्णेतव्यः तथा देह्यदेरव्यक्तान्तस्य कृत्स्नस्य त्रिगुणात्मकतयाऽत्यन्तदुःखोपशमनलक्षणमोक्षदशानुपपत्ते, तदर्थं च शास्त्राणां महाधियां च प्रवृत्तेः अस्ति देहादिव्यतिरिक्तोऽसंहतस्त्रैगुण्याद्यसंस्पृष्टः पुरुष इति ।

तत्त्वप्रकाशिका— एतेन० इत्यादि— नैयायिकों के मत के अनुसार आत्मा साधक अनुमान में जो दोष हैं वे सारे दोष चूकि संख्याभिमत आत्मा साधक अनुमान में विद्यमान हैं अतएव उसी से सांख्यमत का भी खण्डन हो गया यह जानना चाहिए । सांख्यों ने आत्मा के अनुमान के लिए **सङ्घातपरार्थत्वात् इत्यादि—** हेतुओं को उपन्यस्त किया है । **तथा च० इत्यादि—** अतएव सर्वप्रथम उन्हीं हेतुओं की व्याख्या हम करते हैं । **सङ्घात परार्थत्वात्० इत्यादि—** आत्मासाधक हेतुओं को उपन्यस्त करते हुए सांख्यां ने कहा कि संघात जो होता है, वह अपने से भिन्न अपने शेषी के लिए होता है । अतएव सङ्घात स्वरूप शरीरादि आत्मा नहीं हो सकते है । आत्मा त्रिगुणा प्रकृति के स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाला होता है । किञ्च वह त्रिगुणादि का अधार है । वह आत्मा ही त्रिगुण आदि का भोक्ता है तथा उसकी ही कैवल्य प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति होती है । इन समस्त हेतुओं से सिद्ध होता है कि सङ्घात स्वरूप प्रकृति आदि से भिन्न ही आत्मा (पुरुष) है ।

अयमर्थः इत्यादि— इस कारिका का अर्थ इस प्रकार से है देह, इन्द्रिय आदि परार्थ अर्थात् अपने से भिन्न अपने शेषी के उपभोग के लिए होते हैं, क्योंकि वे सङ्घात स्वरूप हैं । जो-जो सङ्घात स्वरूप होता है, वह अपने से भिन्न अपने शेषी के लिए ही होता है जैसे— शय्या, आसन तथा रथ आदि ये सबके सब संघात स्वरूप होने के कारण अपने स्वामी के लिए होते हैं । **प्रत्यक्षं च० इत्यादि—** शरीर के संचातत्व का तो प्रत्यक्ष होता ही है । इसी तरह से पाञ्चो महाभूत भी सङ्घात (अवयवों) के समूह रूप हैं । इसी तरह अव्यक्त, महान् अहङ्कार तथा इन्द्रियाँ भी सुख, दुःख तथा मोहात्मक होने के कारण सत्त्व, रजस

तथा तमस के सङ्घात स्वरूप है, शरीरादि के ही समान है । इस तरह से अव्यक्तादि के सङ्घातत्व का अनुमान करना चाहिए । **न चेन्द्रियाणाम्०** **इत्यादि**— यहाँ पर कोई यह नहीं कह सकता है कि इन्द्रियाँ तो अहङ्कारिक हैं, अतएव साध्य रूप से अभिमत उनके पारार्थ्य धर्म असंहत परार्थ के लिए होता है । इस अर्थ के विपरीत सिद्ध किए जाने के कारण सङ्घातत्व हेतु पक्ष तथा साध्य दोनों के विरुद्ध ही है । अर्थात् यह देखा जाता है कि जो-जो सङ्घात स्वरूप होता है, वह-वह अनहंकारिक होता है । इन्द्रियाँ भी चूकि संङ्घात स्वरूप हैं, अतएव वे भी अनहंकारिक है, शय्या, आसन रथ आदि के समान । इसका खण्डन करते हुए सांख्यमतावलम्बी कहते हैं **अहङ्कारा० इत्यादि**— अर्थात् यह देखा जाता है कि सभी इन्द्रियों तथा मन की वृत्ति अहङ्कारी वृत्ति होने पर ही होती है । इसीलिए स्वायकाल में चूकि अहङ्कार की वृत्ति नहीं रहती है अतएव सभी इन्द्रियों तथा मन उस समय वृत्ति हीन हो जाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि इन्दियाँ तथा मन दोनों आहङ्कारिक ही हैं । इसीलिए कहा भी गया है **देवा वैकारिकाः स्मृताः** अर्थात् इन्द्रियाँ वैकारिक हैं, अर्थात् सात्विकाहङ्कार जन्य हैं । महर्षि पराशर ने भी विष्णु पुराण में कहा है **'देवा वैकारिका दश, एकादशं मनश्च'** अर्थात् दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन ये सबके सब सात्त्विकाहङ्कार जन्य हैं । इन आगमों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ सात्त्विकाहङ्कार जन्य है । इन्द्रियों में चूकि लाघव, प्रकाश तथा अनुकूलत्व सत्त्व गुण के कार्यों को देखा जाता है, अतएव भी ये सात्त्विकाहङ्कार जन्य सिद्ध होता हैं । फलतः इन्द्रियों के प्रामाणिक सात्त्विकाहङ्कार जन्यत्व का बाध नहीं हो सकता है । अतएव सङ्घात्व हेतु में पक्ष विशेष विरुद्धत्व नहीं है ।

साध्य विशेष विरुद्धत्व का निराकरण करते हुए सांख्यमतावलम्बी कहते हैं **आत्मनश्च० इत्यादि**— यदि यहाँ पूर्वपक्षी यह कहें कि लोक में देखा जाता है कि सङ्घात स्वरूप जो शय्या, आसन तथा रथ आदि सङ्घात स्वरूप शरीर के उपभोग के लिए ही होता हैं, अतएव यदि सङ्घात स्वरूप इन्द्रियादि को आत्मा के लिए माना जाय तो आत्मा को

भी सङ्घात स्वरूप ही होने का प्रसङ्ग होगा, तो पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा को भी सङ्घात स्वरूप माना जाय तो उसको भी सङ्घान्तरार्थ मानना होगा। और वह सङ्घात होगा उसको भी सङ्घान्तरार्थ मानने के कारण अनवस्था नामक दोष होगा। साथ ही अनेक अप्रमाणिक कल्पनाओं के करने का भी प्रसङ्ग होगा। साथ ही आत्मा के शेषित्वं का प्रयोजक सङ्घात है भी नहीं। असंहत भी आत्मा भोक्ता (शेषी) इसलिए है कि वह चेतन है। अतएव भोक्तृत्व परत्व का प्रयोजक चेतनत्व है, न कि सङ्घातत्व। **दृष्टान्त० इत्यादि**— दृष्टान्त में पाये जाने वाले सभी धर्मों का पक्ष में रहना आवश्यक है। यदि दृष्टान्त के सभी धर्मों को पक्ष में होना आवश्यक माना जाय तो फिर सभी अनुमानों के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। अनुमान का प्रमाण्य ही सम्भव नहीं हो पायेगा। **तदसङ्घातस्य० इत्यादि**— आत्मा के असङ्घातत्व का बाध तो योग्यानुपलब्धि से ही बाधित है अतएव आत्मा का असङ्घातत्व अप्रचाल्य है। सङ्घात के परार्थत्व का प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होने के कारण उनकी व्याप्ति की सिद्धि होगी ही। **न च प्रमाणान्तर० इत्यादि**— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि दूसरे प्रमाणों के द्वारा आत्मा के अनहङ्कारिकत्व तथा सङ्घात परार्थत्व इन दोनों के बाधित होने पर अबाधित सङ्घात परार्थत्व नियम को भी नहीं मानना चाहिए। **एवं च० इत्यादि**— जो संहत होता है, वह परार्थ ही होता है और आत्मा तो सत्त्व आदि त्रैगुण्य से रहित है, अतएव आत्मा के असंहतत्व की सिद्धि हो गयी।

कारिकोक्त अधिष्ठानात् पद की व्याख्या करते हुए सांख्यमतावलम्बी कहते हैं **तथा देहादय० इत्यादि**— देह सत्त्वादि गुण त्रय से युक्त होने के कारण सुख दुःख तथा मोहत्मक है वह अपने अधिष्ठाता (नियामक) आत्मा से उसी तरह से अधिष्ठित है जिस तरह रथ आदि का अधिष्ठाता उसका सारथी होता है। **अपि च० इत्यादि**— दूसरी बात है कि अनुकूल प्रतीत होने वाले ज्ञान को ही सुख कहते हैं तथा प्रतीकूल प्रतीत होने वाले ज्ञान को दुःख कहते हैं। वे दोनों अनुकूल प्रतीत होने

वाले भृत्य के तरह प्रतिकूल प्रतीत होने वाले भ्रातृव्य (शत्रु) के समान ज्ञान से युक्त होते हैं। **दृश्यत्वात्० इत्यादि**— कारिका के भोक्तृभावात् पद की व्याख्या करते हुए सांख्य विद्वान् कहते हैं कि देह इत्यादि दृश्य होने के कारण भोग्य वर्गान्तरगत हैं । वे द्रष्टा (भोक्ता) आत्मा से भिन्न हैं । क्योंकि द्रष्टा के अधीन ही दृश्य पदार्थ होते हैं । **अधिष्ठातुः इत्यादि**— सुख को अनुकूल रूप से जानने वाला तथा दुःख को प्रतिकूल रूप से जानने वाला द्रष्टा आत्मा को त्रैगुण्य (त्रिगुणात्मिक प्रकृति तथा प्राकृतिक) पदार्थों से रहितत्व का निर्णय पहले के ही समान करना चाहिए।

कारिका के **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च** कारिकाशं की व्याख्या करते हुए सांख्य मतावलम्बी कहते हैं **तथादेहादे इत्यादि**— अर्थात् देह से लेकर सभी जो प्रकृति के परिणाम हैं वे सबके सब त्रिगुणात्मक होने के कारण उन सबों को दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति हो नहीं सकती है, क्योंकि वे सब ज्ञान रहित हैं । कैवल्य की प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्ति तथा कैवल्य दशा की प्राप्ति तो ज्ञानवान आत्मा की ही हो सकती है । **तदर्थं च० इत्यादि**— जितने भी शास्त्र हैं उनकी तथा सभी पुरुषों की कैवल्य की प्राप्ति देखी जाती है । चूकि ज्ञानवान् आत्मा की ही कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतएव देहादि सभी प्राकृतिक विकारों से भिन्न असंहत तथा त्रैगुण्य के संस्पर्श से रहित आत्मा ही कैवल्य के लिए प्रवृत्त होता है । वही पुरुष शब्द वाच्य है ।

सांख्याभिमत आनुमानिक आत्मा का खण्डन

मूल— **अत्रापि सङ्घातपारार्थ्यादिभिर्यद्यपि परः कोऽप्यधिष्ठाता द्रष्टा सिद्धस्तथाऽपि न तस्यासंहतत्वात् त्रिगुणत्वादिभिरभिमतविशेषः शक्यनिश्चयः, तथा हि सङ्घातस्य सङ्घातान्तरार्थत्वनियमदर्शन-बलादापतन्ती परापरासङ्घातकल्पना न दोषाय कार्यतयेवानादिकारण-परम्परापरिकल्पना, न चाप्रयोजकत्वमपि असङ्घातस्यासङ्गस्याशेष-विक्रियाशून्यस्यानाधेयातिशयकूटस्थचितिमात्रवपुषः पुरुषस्य सङ्घातं प्रति परत्वानुपपत्तः तद्धि तस्य शेषीभवति तच्च तदर्थं यद्येनोपक्रियते**

क्रियते वा यच्चोपकरोति करोति वा न च तथा सांख्यपुरुष इति कथं तस्य सङ्घातं प्रति परत्वं कथन्तरां च सङ्घातस्य तादर्थ्यम् । अनुपकार्योऽप्युपकार्यतया आत्मानं मन्यत इति चेत् कामं मन्यतां किमायातमुपकार्यत्वस्य, न खलु बालास्तमलिनतादिमत्तया गगनमभिमन्यन्त इति तस्य तथात्वं भवति ।

तत्त्वप्रकाशिका— सांख्यों ने भी यह जो कहा है कि जो सङ्घात स्वरूप होता है, वह अपने से भिन्न अपने भोक्ता आत्मा के लिए होता है । अतएव इन संङ्घात स्वरूप प्रकृति तथा प्रकृति सभी विकारों का अधिष्ठाता इन सबों से भिन्न तथा असंहत सिद्धि होता है । वही द्रष्टा होने के कारण आत्मा है । **तथापि० इत्यादि**— फिर भी जिसे सांख्यमतावलम्बी आत्मा कहते हैं, उस आत्मा के असंहतत्व तथा त्रिगुण रहितत्व गुण जो सांख्य मतावलम्बियों को अभिप्रेत हैं उन सबों का निर्णय नहीं किया जा सकता है । **तथाहि० इत्यादि**— एक सङ्घात दूसरे सङ्घात के लिए होता है, इस तरह का नियम देखा जाता है । जैसे संहत रथादि संहत शरीरादि के लिए होता है यह देखा जाता है । इस तरह उत्तरोत्तर होने वाली सङ्घात की कल्पना दोष वह नहीं हो सकती है । **कार्यतयैव० इत्यादि**— क्योंकि कार्य को देखकर उसके कारण का अनुमान किया जाता है । कारण भी कादाचित्क ही होता है, जैसे पञ्चमहाभूतों का कारण तामस अहङ्कार महान का कार्य है, उसी तरह । अतएव जिस तरह कार्य को देखकर उसके कारण की कल्पना की जाती है, उसी तरह उस कदाचित्क कारण को देखकर उसके भी कारण की कल्पना की जा सकती है, तथा उसके भी कारण की कल्पना की जा सकती है । **न चा प्रयो० इत्यादि**— यदि सांख्यमतावलम्बी यह कहें कि सधातत्व परत्व (शेषत्व) का प्रयोजक नहीं हो सकता है, तो सांख्यों का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सांख्यों का जो पुरुष है वह असंहत है । वह असङ्ग है । वह समस्त विकारों से रहित उसमें किसी भी प्रकार की विशेषता का आधान भी नहीं हो सकता है वह कूटस्थ है तथा ज्ञान मात्र है । इस प्रकार का संख्याभिमत पुरुष सङ्घात

स्वरूप प्राकृतिककारों के प्रति पर (भोक्ता) नहीं हो सकता है । **द्यैतद्धि०** **इत्यादि**— शेषी वही होता है तथा उसका ही होता है, जो जिसके द्वारा उपकृत होता है अथवा किया जाता है उसी को प्रधान कहते हैं तथा उसी को अङ्गी कहते हैं तथा शेष वह होता है जो अपने शेषी का उपकार करता है, उसी के लिए सभी कार्यों को करता है । **न च तथा० इत्यादि**— किन्तु सांख्याभिमत पुरुष वैसा नहीं है, क्योंकि वह अतिशायाधान के योग्य है ही नहीं । अतएव उसका कोई उपकारक या कारक कैसे हो सकता है ? फलत: साङ्गत स्वरूप समस्त प्राकृतिक विकार के उस पुरुष के लिए कैसे हो सकते हैं ?।

अनुपकार्योऽपि— अर्थात् यदि सांख्यमतावलम्बी कहें कि यद्यपि यह आत्मा अनुपकार्य है फिर भी वह अपने को उपकार्य रूप से मान लेता है । **कामम्० इत्यादि**— तो सांख्याभिमत अपने को उपकार्य मान ले किन्तु उसमें उपकार्यत्व तो आ नहीं सकता है । **न खलु० इत्यादि**— मूर्ख व्यक्ति भी नीले आकाश को देखकर यह नहीं मानता है कि आकाश मैला है उसी तरह से अपने को उपकार्य मान लेने मात्र से सांख्य पुरुष उपकार्य नहीं हो सकता है ।

मूल— **अपि च तथाविधभ्रमोऽपि कस्य कथमुदयत इति विवेचनीयम्, न तावच्चिच्छक्तेःसर्वविक्रियाशून्यतया अतिविशुद्धाया-मशुभशतनिदानभूतभ्रम— परिणामासंभवात्, अन्तः करणं तु बुद्धिपरपरिभाषाभिधानमचेतनतया तनुरिव न भ्राम्यति, अचिदपि स्वच्छतया चितिच्छायामापन्नं चेतनायत इति चेन्न नीरूपायाश्चितेर्बुद्धेश्च छायातद्ग्रहणानुपपत्तेः, छायेव छायेति चेत् कः खल्विवार्थः चितिसरूपत्वमिति चेत् हन्तैवमशेषविकाररहितचितिसरूप-ताऽऽपत्तावन्तःकरणमिति प्रत्यस्तमितसमस्तवृत्तिकमापद्यत इति दुरुपपादतरोऽयं भ्रमसुखदुःखादिविकारयोगः प्रत्यात्मसिद्धः, चेतनत्वेन स्वरूपत्वमिति चेन्न चितिरेव हि ते पुरुषो न चेतयिता यथाऽऽह तत्र भगवान् पतञ्जलिः यदा चितिरेव पुरुषः किमत्र**

केन व्यपदिश्यते इति अजड़ायमानत्वमिवार्थ इति चेत् अजड़त्वमिति न ज्ञातृत्वातिरिक्तं किंचिदित्युक्तमेव, तेनैव तद्विवरणमिति च न किंचिदेतत् । अपि च चितिसन्निधानाधानां बुद्धिसिद्धिमभिदधानः कथमिव तदजड़ि मानं प्रतिजानीयात् । न च चितिस्वान्तयोः विम्बप्रतिविम्बाधाराभिमतयोरन्यतरस्मिन्नप्य— विद्यमानस्य विषयविशेषोपरक्तज्ञातृत्वलक्षणधर्मभेदस्य प्रतिबिम्बेसंभवः प्रत्युक्तश्चायं प्रतिबिम्बवादः प्रच्छन्न वाह्यमतप्रत्यादेशे ।

यदुच्यते निर्विकारायापि पुंसे तत्सान्निधिमहिमसमुत्थापितप्रमाणविपर्यया— दिविचित्रवृत्तिभेदं स्वान्तमेव स्ववृत्तिं विषयविशेषाँश्चोपदर्शयति समान्तचक्रमिव पराक्रमीयः प्रतिबलविलोलनादिवृत्तिस्वामिने ततः साक्षी भोक्ता चापदिश्यते राजेति विक्रमी विजयी चेति, तदनुपपन्नं द्रष्ट्रेहि दर्शनीयं दृश्यते न च दृशिमात्रात्मवादिनां सांख्यानां तदुपजीविनां च प्रच्छन्नानां द्रष्टृत्वं वास्तवमस्ति, न च काल्पनिकेन शेषित्वसंभवः कल्पनानि न संभवतीत्युक्तमेव, राजा तु सामान्यतो विशेषतो वा तेषु कर्मस्वमात्यान्नियुञ्जानस्तत्फलमैश्वर्यादि चाश्नुवानः स्वस्वामिभावहेतुक्रयप्रतिग्रहजननादिव्यापारयोगी न निष्क्रियस्यानाधेयातिशयस्य पुंसो निदर्शनमिति यत्किंचिदेतत् ।

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि उपकार्यत्व का भ्रम किसको होता है, किञ्च उपकार्यत्व का भ्रम किसमें तथा कैसे उत्पन्न होता है ? **न तवादित्यादि—** ज्ञान शक्ति स्वरूप पुरुष को तो वह भ्रम नहीं हो सकता है क्योंकि वह सम्पूर्ण विकारों से रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है । अतएव असंख्य दोषों के कारण भूत उस पुरुष में भ्रम जैसा परिणाम नहीं हो सकता है । **अन्तःकरणम्० इत्यादि—** अन्तःकरण में भी उपकार्यत्व का भ्रम नहीं हो सकता है क्योंकि उस अन्तःकरण को ही बुद्धि कहते हैं । वह प्रकृति का विकार होने के कारण अचेतन है । अतएव जिस तरह से अचेतन शरीर को

भ्रम नहीं होता है उसी तरह से अचेतन बुद्धि में भ्रम नहीं हो सकता है। **अचिदपि० इत्यादि**— यदि सांख्य विद्वान् कहें कि यद्यपि बुद्धि अचेतन है, किन्तु वह स्वयम्प्रकाश है । अतएव जब वह ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती है चेतन के समान लगने लगती है । **न नीरूपाया० इत्यादि**— तो सांख्यों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि और ज्ञान दोनों रूप रहित है छाया तो रूपवानों की होती है अतएव न तो बुद्धि की छाया ज्ञान में पड़ सकती है और न ज्ञान की छाया बुद्धि में पड़ सकती है । अतएव छायापति का ग्रहण असम्भव है । **छायेव० इत्यादि**— यदि कहें कि छाया का अर्थ कान्ति नहीं है, अपितु सादृश्य है । अर्थात् चित् सादृश्यापत्ति को चेतना मानता कहते हैं । तो सिद्धान्ती पूछते हैं **कः खलुः० इत्यादि**— अर्थात् वह सादृश्य किस आकार से है । यदि सांख्य कहे कि चूकि ज्ञान मात्र पुरुष में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है अतएव उसका रूप ज्ञान के समान हो जाता है यह उसका सादृश्य है । इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं **हन्तैवम्० इत्यादि**— अर्थात् सांख्यों की आत्मा सभी विकारों से रहित है । उसका चिति सरूपतापत्ति मानन पर अन्त:करण जो समस्त वृत्तियों से रहित है । अतएव उसमें भ्रम हो नहीं सकता है । फलत: सांख्याभिमत आत्मा में भ्रम का सुख दु:ख आदि का प्रतिपादन अत्यन्त कठिन है । यदि सांख्यमतावलम्बी कहें कि ज्ञाता रूप से सदृशता होती है तो वे यह इसलिए नहीं कह सकते हैं कि सांख्याभिमत पुरुष (आत्मा) ज्ञान मात्र ही है ज्ञाता नहीं है। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है **यदाचितिरेव इत्यादि**— अर्थात् यदि ज्ञान ही आत्मा है तो फिर किसके द्वारा क्या कहा जाता है । यदि सांख्य कहें कि अजडायमानता ही इवार्थक है तो यह भी वे नहीं कह सकते हैं क्योंकि **अजडत्वमपि० इत्यादि**— ज्ञातृत्व से भिन्न अजडत्व नामक कुछ भी नहीं हो सकता है, इस बात को हम कह चुके हैं । **तेनैव० इत्यादि**— ज्ञाता रूप से उसका विवेचन किसी अर्थ का साधक नहीं हो सकता है । **अपि च० इत्यादि**— किञ्च सांख्य विद्वान् ज्ञान का सन्निधान होने पर ही बुद्धि की सिद्धि (प्रकाश) मानते हैं अतएव वे

यह कैसे कह सकते हैं कि चिति (ज्ञान में) पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को ही ज्ञाता है । **न च चिति० इत्यादि**— किञ्च ज्ञान तथा अन्तःकरण परस्पर में बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब के आधार रूप से सांख्यों को अभिमत है । किन्तु दोनों में से किसी में भी विषय विशेष से उपरञ्जित रूपी ज्ञातृत्व धर्म रूप भेद प्रतिबिम्ब में सम्भव नहीं है । **प्रत्युक्तश्च० इत्यादि**— इस प्रतिबिम्बवाद का खण्डन अद्वैतियों तथा वेद वाह्यों के मत के खण्डन के प्रसङ्ग में कर चुका हूँ ।

यदुच्यते० इत्यादि— सांख्यमतावलम्बियों ने यह जो कहा है कि, यद्यपि आत्मा (पुरुष) निर्विकार है फिर भी जब उसका निति शक्ति से सन्निधान होता है तो उसी के कारण अन्तःकरण में प्रत्यक्षादि प्रमाण ज्ञान स्वरूप भ्रम रूपी भेद उत्पन्न होते हैं । चिति की ही प्रधानता होने के कारण उन वृत्तियों में साक्षित्व और भोक्तृत्व हो जाता है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह किसी सार्वभौम के अत्यन्त पराक्रम सम्पन्न सामन्त चक्र (सामन्त समुदाय) के द्वारा शत्रु की सेना का मर्दन आदि कर्म उस निश्चेष्ट सार्वभौम राजा के लिए किए जाते हैं और राजा को पराक्रमी और विप्रयी कहा जाता है, इसीतरह निश्चेष्ट चिति के साक्षित्व और भोक्तृत्व आदि का व्यपदेश किया जाता है । तो सांख्यों का यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है । **द्रष्ट्रे हि० इत्यादि**— चैतन्य मात्र को साक्षित्व नहीं कहा जाता है अपितु साक्षात् द्रष्टा को ही साक्षी कहते हैं। सांख्य विद्वान् चिति में द्रष्ट्रत्व मानते नहीं है सांख्य मतावलम्बी तथा अद्वैती विद्वान् दोनों ही यह मानते हैं कि ज्ञान मात्र आत्मा में ज्ञातृत्व वास्त्विक नहीं है । उसको वे काल्पनिक मानते हैं । किन्तु काल्पनिक भोक्तृत्व के द्वारा ज्ञान मात्र आत्मा शेषी नहीं हो सकती है । **राजा तु० इत्यादि**— सांख्यों में सार्वभौम का उदाहरण दिया है किन्तु सार्वभौम राजा चिति के समान निश्चेष्ट नहीं होता है; वह अपने सामन्तों का भरण पोषण करता है । इसीलिए वह अपने सामन्तों का स्वामी है और सामन्तों के द्वारा किए जाने वाले कर्म उस सार्वभौम राजा का माना जाता है वह विजयी और पराक्रमी माना जाता है । वह अपने आमात्यों को तत्-तत्

कर्मों में नियुक्त करता है । वह चिति के समान निश्चेष्ट नहीं है । अतएव सभी विशेषणों से रहित पुरुष का उदाहरण राजा नहीं हो सकता है ।

सबों से विलक्षण आत्मा में केवल शास्त्र ही प्रमाण है

मूल— **स्थूलोऽहं गच्छाम्यहमित्यादिप्रत्यक्षमृदितविषयतया प्रसिद्धैवातीतकालता व्यतिरेकानुमानभेदानामित्यानुमानिकीमप्यात्मसिद्धिम श्रद्दधानाः श्रौतीमेव तां श्रोतियाः सङ्गिरन्ते ।**

श्रुतयो हि साक्षादेवात्मनः शरीरादिव्यतिरेकमादर्शयन्ति 'स एष नेति नेति', आकायमब्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुन्ये, न जायते म्रियते वा कदाचित्, 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते', 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः, इत्याद्याः कालान्तरभाविस्वर्गादिसाधनविधयश्चाक्षिपन्ति देहादिव्यतिरिक्तं नित्यं चेतनमिति श्रुतितदनुपपत्तिप्रमाणकोऽयं प्रत्यगात्मेति।

तत्त्वप्रकाशिका— सांख्यमतावलम्बी आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा मानते हैं, किन्तु उस आनुमानि की सिद्धि का बाध 'मैं' स्थूल हूँ, मैं जा रहा हूँ इत्यादि रूप से होने वाली प्रतीतियों के द्वारा ही हो जाता है । इन प्रतीतियों में मैं शब्द के वाच्य रूप से स्थूल तथा होने तथा जाने की क्रियाओं को करने वाले रूप से आत्मा की प्रतीति होती हैं । अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधि होने के कारण सांख्यों के व्यतिरेक अनुमान कालातीत सिद्ध होते हैं । इस तरह आत्मा की आत्मानि की सिद्धि में श्रद्धा नहीं रखने वाले श्रोत्रिय विद्वान् आत्मा की श्रुति प्रमाणों के ही द्वारा सिद्धि को बतलाते हैं ।

श्रुतयोहि० इत्यादि— श्रुतियाँ भी आत्मा का देह आदि से भिन्न रूप से आत्मा को साक्षात् बतलाती हैं । **स एषः इत्यादि**— श्रुति बतलाती है कि शरीर आदि आत्मा नहीं हैं । **अकायम्० इत्यादि**— श्रुति बतलाती है कि आत्मा शरीर के धर्मों से रहित होने के कारण अकाय हे, वह व्रण तथा स्नायुओं से रहित है । वह शरीरादि के दोषों

से रहित होने के कारण शुद्ध है तथा कर्म के सम्बन्धों से रहित है। **योनिमन्ये० इत्यादि**— दूसरे जीव शरीर से युक्त होने के लिए विभिन्न योनियों में चले जाते हैं। उन जीवों से भिन्न जीव स्थाणुत्व को प्राप्त हो जाते है। यह श्रुति भी आत्मा को शरीर से भिन्न बतलाती है। **न जायते० इत्यादि**— श्रुति बतलाती है कि आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। **जीवापेतम्० इत्यादि**— श्रुति कहती है कि जब आत्मा निकल जाता है तो यह शरीर विनष्ट हो जाता है। **नह वै० इत्यादि**— श्रुति बतलाती है कि जब शरीर का शरीर का सम्बन्ध रहता है तब तक सुख दुख आदि की निवृत्ति नहीं होती है जब मुक्तावस्था में जीव शरीर सम्बन्ध से रहित हो जाते हैं तो फिर उनका स्पर्श सुख दुःख इत्यादि नहीं कर पाते हैं। ये सभी श्रुतियाँ आत्मा को शरीरादि से भिन्न बतलाती हैं। **कालान्तरभावि० इत्यादि**— कालान्तर में होने वाली स्वर्गादि की प्राप्ति का विधान करने वाली श्रुतियाँ भी इस बात को बतलाती हैं कि आत्मा नित्य तथा चेतन है, वह शरीरादि से भिन्न है। इस अर्थ का प्रतिपादन श्रुतियाँ तथा उनकी विधियों की अन्यथानुपपत्ति से किया गया है।

मीमांसक मतानुसार आत्मा के प्रत्यक्षत्व का प्रतिपादन

मूल— **ननु हिताहितप्राप्तिपरिहारमात्रपरस्याम्नायस्य शिरसि किमिति महानयं भारः प्रक्षिप्यते अनुमानागमाद्यशेषप्रमाणमूलभूतेन प्रत्यक्षेणैव ह्येनं प्रतिपद्यामहे ममेदं शरीरम् इदमहं जानामीति घटादिदृश्येभ्य इवायं द्रष्टा देहादपि पृथग्भूतः प्रत्यक्षं परिस्फुरति।**

तत्त्वप्रकाशिका— हिताहितप्राप्ति० इत्यादि— शास्त्र शास्त्र प्रतिपादि कल्याण की प्राप्ति के साधन का उपदेश करता है तथा अकल्याण को दूर करने के साधनों को बतलाता है। उसके ऊपर तत्त्व एवं परतत्त्व का उपदेश करे यह महान भार श्रोत्रिय विद्वान् क्यों डालते हैं। **अनुमानागम० इत्यादि**— अनुमान तथा आगम आदि समस्त प्रमाणों के मूलभूत प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाती है।

ममेदं इत्यादि— यह मेरा शरीर है । इस वाक्य में मेरा शब्द शब्द से कहे जाने वाला आत्मा का इदं शब्द से निर्दिष्ट शरीर से भिन्नता स्पष्ट रूप से प्रत्यक्षतः प्रतीत होती है । इसी तरह मैं इसको जानता हूँ इस प्रतीति में भी मैं शब्द से कहे जाने वाला आत्मा इदम शब्द से निर्देशित शरीरादि से उसी तरह से भिन्न सिद्ध होता है जिस तरह इदम् शब्द से कहे जाने वाले घटादि से आत्मा भिन्न है । जिस तरह से घटादि दृश्य है उसी तरह से शरीर भी दृश्य है । मैं शब्द से कहा जाने वाला द्रष्टा आत्मा शरीरादि से प्रत्यक्षतः ही भिन्न सिद्ध होता है ।

मीमांसकों के उक्त मत का निरास

मूल— **मैवं वोचः इन्द्रिवार्थसंनिकर्षजं हि विज्ञानं प्रत्यक्षं, न चेन्द्रियाणि रूपादिव्यतिरेकिणि निरतिशयसूक्ष्मे प्रतीचि परागर्थ इव सन्निकर्षेण ज्ञानं जनयितुमर्हन्ति यथाऽऽम्नायते पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः इति ।**

अचित्त्वप्रतिबद्धश्च सर्वोऽपीन्द्रियगोचरः ।
तेन नैन्द्रियकं ज्ञानमात्मानं स्प्रष्टुमर्हति ॥१७॥

तत्त्वप्रकाशिकाः— मीमांसकों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए श्रोत्रिय विद्वान् कहते हैं **मैवं वोचः इत्यादि—** अर्थात् मीमांसक उपर्युक्त प्रकार की बातें नहीं कर सकते हैं । इन्द्रियों तथा विषयों के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं । **न चेन्द्रियाणि इत्यादि—** इन्द्रियाँ जिस तरह जड़ पदार्थों का सन्निकर्ष प्राप्त करके उनके रूप आदि का ज्ञान उत्पन्न करते हैं, उसी तरह से वे स्वयम्प्रकाश आत्मा का ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकते हैं । क्योंकि आत्मा तो रूप तथा स्पर्श से रहित है और ज्ञानेन्द्रियाँ तो रूपवान तथा स्पर्श युक्त ही वस्तु का ज्ञान कराती हैं । अतएव अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता है । **यथाआम्नायते० इत्यादि—** श्रुति भी आत्मा को इन्द्रिया ग्राह्य बतलाते हुए कहती है— **'पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'** अर्थात् परमात्मा ने परागर्थ मात्र का ग्रहण करने वाली इन्द्रियों

को उत्पन्न किया । अतएव **अचित्त्व० इत्यादि**— इन्द्रिय ग्राह्य जितने भी विषय हैं वे सब-के-सब जड़ हैं । अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान आत्मा को अपना विषय नहीं बना सकता है ॥१७॥

आत्मा के अप्रत्यक्षत्व की शङ्का

मूल— **स्यान्मतंभौतिकत्वाद्बहिरिन्द्रियाणि मा नामात्मनि प्रवर्तिषत मनस्तु प्रवर्तिध्यते अभौतिकत्वादिति तन्न तस्यापीन्द्रियत्वे भौतिकत्वस्यापरिहार्यत्वात् यथाऽऽम्नायते अन्नमयं हि सोम्य मन इति, प्रपञ्चितं चैतन्निरूपणे ।**

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्म० इत्यादि— मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि चूकि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, क्योंकि भूतों के गुण गन्ध इत्यादि का ग्रहण करती हैं अत: वे भले ही आत्मा को अपना विषय नहीं बना सके किन्तु मन तो आत्मा को अपना विषय बना ही सकता हैं, क्योंकि मन तो अभौतिक है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है । **तस्यापि० इत्यादि**— क्योंकि जिस तरह गन्धादि का ग्राहक होने के कारण बहिरिन्द्रियाँ भौतिक हैं उसी तरह मन भी इन्द्रिय होने के ही कारण वह भी भौतिक ही है । मन भी बहिन्द्रियों द्वारा रूपादि के ग्रहण में सहकारी होता ही है । श्रुति भी कहती हैं **अन्नमयं हि सोम्य! मनः** अर्थात् हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य मन पार्थिव ही है । इस बात का विस्तार से निरूपण मन के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है ।

भाट्ट मीमांसकों द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष का प्रतिपादन

मूल— **अथोच्येत अस्ति तावदहमित्यपराक्षावभासः प्रत्ययः न चैन्द्रियकत्वमन्तरेणासौ संभवति क्लृप्तं च बहिरिन्द्रियागोचरेऽपि सुखादौ स्वान्तस्वातन्त्र्यमिति तन्निमित्त एवायमहंप्रत्यया युक्तः, प्रयोगाश्च भवति आत्मा मानसप्रत्यक्षग्राह्यः वहिरिन्द्रियायाग्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वात् सुखादिवदिति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि भाट्ट मीमांसक यह कहें कि आत्मा का 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रत्यक्ष तो होता ही है। **नहि० इत्यादि**— इस तरह होने वाला ऐन्द्रियिक ही होगा क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान ऐन्द्रियिक ही होता है। **क्लृप्तं च० इत्यादि**— यद्यपि सुखादि का ग्रहण बहिरिन्द्रियों द्वारा नहीं होता है फिर भी सुखादि के ग्रहण में अन्तःकरण मन स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है। **तन्निमित्त० इत्यादि**— अतएव 'मैं' 'मैं' इस रूप से होने वाला आत्मा का मन से प्रत्यक्ष ही मानना उचित है। **प्रयोगश्च० इत्यादि**— यहाँ पर इस प्रकार का अनुमान अपेक्षित है। आत्मा मानस प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्राह्य है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य नहीं है फिर भी उसका सुखादि के समान प्रत्यक्ष होता है। अतएव जिस तरह सुखादि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह आत्मा का भी मानस प्रत्यक्ष होता है।

गुरु मतानुयायी मीमांसक द्वारा आत्मा के मानस प्रत्यक्षत्व के अनुमान का खण्डन

मूल— **तन्नसंवेदनेन व्यभिचारात, न च तदप्रत्यक्षं जानामीत्यनन्योपाधिकतया प्रतिभानात् अप्रत्यक्षत्वं च संवेदनस्यासिद्धिरेव स्यादित्युक्तमेव। न च तदपि मानसप्रत्यक्षतया सपक्षे निक्षेपमर्हति विमर्दासहत्वात् यदा खलु कुतश्चिदात्ममनः संयोगाद्विषयसंविदुदयमासादयति तदैव किं तत एव तद्गोचरमपि वेदनं जन्यते उतान्यदान्येनेति वाच्यम् न च युगपदुभयजननं संभाव्यते तथा हि सति परापरतत्तद्गोचरनिरवधिकधीनिकुरुम्बजन्मतत्कालमेवापद्येत। न च तदस्ति युगपदुत्पत्तौ विषयविषयित्वनियमश्च निर्निबन्धनः असमसमयजन्मना ज्ञानेन वेद्यत्वेन प्रत्यक्षत्वं क्षणिकत्वेनाग्रमज्ञानस्याग्राहकज्ञानोदयमव स्थानाभावाद्, भावे च सर्वज्ञानानां सर्वदाऽवस्थानप्रसङ्गात् कार्यविरोधित्वे चानन्तरमेव संस्कारोदयान्न कालान्तरे स्थितिरिति संविदो न मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वं, न चाप्रत्यक्षा संविदिति स्फुटो व्यभिचारः ऐन्द्रियकत्वस्यानात्मत्वप्रतिबद्धत्वादिरुद्धता च,**

साध्यविकलश्च दृष्टान्तः सुखदुःखयोः प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात्, अनभ्युपगमश्च इन्द्रियपौष्कल्यनाशयोरेव सुखदुःखत्वात्, न हि तस्मिन्नप्रत्यक्षे तत्पौष्कल्यं वैकल्यं वा प्रत्यक्षं भवति इन्द्रिय स्वरूप इव अभ्यासपाटवात्तयोरपरोक्षत्वाभिमानः मनोऽवस्थाभेदेष्विव चानुमेय मनोवादिनाम् यस्तु ।

तत्त्वप्रकाशिका— तन्नः संवेदनने इत्यादि— अर्थात् भट्ट मीमांसक आत्मा का मानस प्रत्यक्ष के रूप में अनुमान नहीं कर सकते हैं । क्योंकि उस अनुमान का ज्ञान के साथ व्यभिचार होता है । **न च० इत्यादि—** आत्मा के होने वाले ज्ञान को अप्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आत्मा का मैं जानता हूँ इस तरह से लिङ्ग पद ज्ञानादि कारण निरपेक्ष रूप से प्रतीति होती है । यदि भाट मीमांसक कहें कि ज्ञातता के ही द्वारा ज्ञान का अनुमान किया जाता है, इस तरह से उसके अनन्योपाधिकत्व सिद्ध होता है । इस पर गुरु मतानुयायी मीमांसक कहते हैं । **अप्रत्यक्षत्वे० इत्यादि—** ज्ञान आत्मा के ज्ञान का प्रत्यक्ष मानें अपितु उसके प्रत्यक्ष का अनुमान मानें तो ऐसा नहीं हो सकता है । क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञातता नामक लिङ्ग के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है । यदि वह ज्ञातता होगी तो भी उसके अतीन्द्रिय होने के कारण ज्ञान का उसके साथ अविनाभाव रूप सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतएव उस ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है, इस बात को पहले ही कहा जा चुका है । **न च तदपि० इत्यादि—** यदि भाट्टमीमांसक उसको भी मानस प्रत्यक्ष के रूप में सपक्ष कोटि में सन्निविष्ट करना चाहें तो ऐसा नहीं हो सकता है । ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष को विकल्पासह बतलाते हुए गुरुमतानुयायी कहते हैं । विमर्दासि हत्वत् अर्थात् जब हम विकल्प करेंगे तो वह हमारे विकल्प को सह नहीं पायेगा । **यदाखलु० इत्यादि—** जब आत्मा मनः संयोग के द्वारा कहीं भी विषयों का ज्ञान होता है उसी समय आत्मा मनः संयोग के द्वरा ही उसके विषय में ज्ञान उत्पन्न होता है ? अथवा दूसरे समय में दूसरे साधन के द्वारा वह ज्ञान उत्पन्न होता है ? यह तो सम्भव नहीं है कि दोनों ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न हों।

क्योंकि विषय ज्ञान के समय ही तद्विषयक ज्ञान की आत्ममनः संयोग के कारण पूर्व ज्ञान तथा उत्तर ज्ञान विषयक अनेक ज्ञानों के समुदाय की एक ही समय में उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है । **युगपदुत्पत्तौ० इत्यादि**— किञ्च एक ही समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति मानने पर विषय कौन है तथा विषयी कौन इस बात का कोई नियम नहीं रह जायेगा । विषय विषयीभाव तो ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति मानने पर ही सम्भव है । ज्ञानों की क्रमशः उत्पत्ति मानने पर प्रत्यक्ष का कारण विषय होता है । इसी तरह पूर्व ज्ञान से उत्पन्न अनुव्यवसाय रूप उत्तर ज्ञान पूर्व ज्ञान विषयक होता है । किन्तु एक ही समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति मानने पर यह व्यवस्था नहीं बन सकती है । यदि कहें कि तो फिर क्रमशः ही विषय ज्ञान और उसके अनुव्यवसाय को क्रमशः ही मान लिया जाय तो इस पर गुरुमतानुयायी कहते हैं **असमसमय० इत्यादि**— समकाल में नहीं उत्पन्न होने वाले ज्ञान के द्वारा आत्मा को वेद्य मानने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । क्योंकि ज्ञान तो क्षणिक होता है, अतएव जब तक ग्राहक अग्रिम ज्ञान की उत्पत्ति काल तक पूर्वज्ञान रह नहीं सकता है । **भावे च० इत्यादि**— यदि कहें कि अग्रिम ज्ञान की उत्पत्ति काल तक पूर्वज्ञान रहता है तो ऐसी स्थिति में सभी ज्ञानों के सभी कालों में बने रहने का प्रसङ्ग होगा । यदि यह कहें कि ज्ञान न तो क्षणिक और न तो स्थिर है अपितु ज्ञान की उत्पत्ति होते ही पूर्व ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । तो इसका उत्तर है **कार्यविरोधित्वे० इत्यादि**— यदि कार्य को ही नाश का रूप विरोधिव माना जाय तो फिर उसके बाद ही संस्कार की उत्पत्ति होने पर उसकी कालान्तर में स्थिति नहीं हो सकती है । अतएव ज्ञान मानस प्रत्यक्ष वेद्य नहीं हो सकता है । **न चाप्रत्यक्षा० इत्यादि**— और संवित् का प्रत्यक्ष न होता तो ऐसी बात भी नहीं है । अतएव स्पष्ट रूप से व्यभिचार होगा।

ऐन्द्रियकत्वस्य० इत्यादि— अर्थात् जो-जो इन्द्रिय ग्राह्य होता है, वह-वह अनात्मा होता है । अतएव यदि आत्मा का भी ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष होगा तो उसके भी अनात्मा होने का प्रसङ्ग होगा । अतएव उसकी

इन्द्रिय ग्राह्यता साध्य के विरुद्ध हेतु है । **साध्यविकराश्च० इत्यादि**— किञ्च दृष्टान्तर भूत सुखादि साध्य विकल होंगे । यद्यपि दृष्टान्त साधन विकल भी है किन्तु सिद्धान्त में सुखादि को स्वयम्प्रकाश माना जाता है, इस दृष्टि से यहाँ पर साध्यविकलता ही बतलाती गयी है । साध्य विकलता का अभिप्राय है कि सुख तथा दु:ख का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है । अब प्रश्न होता है कि यदि सुख तथा दु:ख का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उन दोनों की प्रत्यक्ष के समान प्रतीति कैसे होती है ? तो इसका उत्तर है **अनभ्युपगमश्च० इत्यादि**— अर्थात् जिस तरह इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने पर भी यह मेरी चक्षुरिन्द्रिय हैं । इत्यादि से प्रत्यक्ष की प्रतीति सी होती है उसी तरह इन्द्रियों की अवस्था रूप ही सुख तथा दु:ख हैं । और उनकी प्रत्यक्ष के समान प्रतीति भी अभ्यास बाहुलय के कारण होती है । सुखादि के प्रत्यक्ष न होने पर भी इन्द्रियों की पुष्कलता या विकलता का प्रत्यक्ष नहीं होता है । **इन्द्रिय स्वरूप० इत्यादि**— इन्द्रियों के स्वरूप के प्रत्यक्ष की प्रतीति जिस तरह अभ्यास के बाहुल्य के कारण होता है उसी तरह सुख तथा दु:ख के प्रत्यक्ष की प्रतीति अभ्यास बाहुल्य के कारण होता है । **मनोऽवस्था० इत्यादि**— यह उसी तरह से होता है जैसे बुद्धि से भिन्न मन का अनुमान करने वालों को मन की अवस्थाओं के प्रत्यक्ष का अवभास होता है ।

सुख, दु:ख, राग, द्वेष, शोक तथा भय भी ज्ञान की अवस्था विशेष हैं

मूल— **सुगतमतावलम्बी विज्ञानाभिन्न हेतुजतया तयोरपि तदन्तर्भाहमभिमन्यते कणभक्षपक्षाश्रयणेन वा तयोरात्मशिेषगुणात्वं ताभ्यां सुखदुःखादिकरणं व्याचक्षीत स्वतःसुखीत्येतद्विमश वाऽत्रत्यम्। रागद्वेषादयस्तु चैतन्यस्यैवावस्थाविशेषास्तद्वदेव प्रत्यक्षीभवन्तीति न तन्निदर्शनिनानुमानोदयः सुखप्रयुक्तविषयीकारचैतन्यं रागः तद्विरोधप्रयुक्तविषयीकारं तदेव द्वेषः भूतदुःखज्ञानेन तच्चलनं शोकः, आगामितज्ज्ञानेन चेतश्चलनं भयम् इत्यादि लक्षणग्रन्थादेवावगन्तव्यमित्यलं विस्तरेण ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यस्तु० इत्यादि— बौद्धमतावलम्बी सुख तथा दु:ख को क्षणिक विज्ञानात्मा से अभिन्न मानते हैं तथा वैशेषिक सुख दु:ख को आत्मा का आगन्तुक धर्म मानकर उन दोनों को आत्मान्तर्गत ही मानते हैं । उन दोनों के द्वारा आत्मा को सुख दु:ख का आश्रय माना जाता है । इन सारी बातों को स्वत: सुखी आत्मा के विचार के समय विचार करना चाहिए । **रागद्वेषादय: इत्यादि—** यदि यह कहा जाय कि सुख दु:ख का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि उन दोनों के प्रत्यक्ष के विषय में विवाद है कि आत्मा के गुण राग द्वेष का तो प्रत्यक्ष होता ही है । अतएव राग और द्वेष को ही दृष्टान्तर मान लेना चाहिए तो ऐसी बात नहीं है । राग और द्वेष आदि भी तो ज्ञान की अवस्था विशेष हैं । अतएव उनके भी प्रत्यक्ष की प्रतीति अभ्यास बाहुल्य के ही कारण होती है । अतएव राग द्वेष को दृष्टान्त मानकर आत्मा के मानस प्रत्यक्ष का अनुमान नहीं किया जा सकता है । **सुख प्रयुक्त० इत्यादि—** सुखानुभव के कारण होने वाले ज्ञान को राग कहते हैं । उसी तरह दु:खानुभव को अपना विषय बनाने वाले चैतन्य को द्वेष कहते हैं । भूतकालिक हुए दु:ख के ज्ञान के कारण चित्त की चञ्चलता को शोक कहते हैं तथा होने वाले दु:ख के ज्ञान के कारण जो चित्त में चञ्चलता आती है, उसे भय कहते हैं इन सारी बातों को लक्षण ग्रन्थों के ही माध्यम से जान लेना चाहिए अतएव इसके विषय में और अधिक विस्तार करना आवश्यक नहीं है ।

आत्मा में ग्राह्य ग्राहक भाव को नहीं स्वीकारा जा सकता है

मूल— **एकस्यचात्मनो निरंकुशस्य न स्वापेक्षया ग्राह्यग्राहकभाव: विरोधादित्यप्युक्तमेव अंशभेदाश्रयणे तत्सिद्धये चांशान्तरमाश्रयितव्यं तथा तत्र तत्रेत्यनवस्था, सङ्घाततत्वं चात्मन: ।**

तत्त्वप्रकाशिका— एकस्यैव० इत्यादि— आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में होने वाले विरोध का प्रतिपादन करते हुए कहतें हैं आत्मा एक है, वह निरंश है, अतएव उसमें ग्राह्य ग्राहक भाव की कल्पना विरोध के

कारण ही नहीं की जा सकती है । इस बात को भी कहा जा चुका है। एक ही क्रिया में एक ही वस्तु ग्राह्य तथा ग्राहक रूप कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती है । यदि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष के लिए अंश भेद को स्वीकार किया जाय तो उसके लिए भी अंशान्तर की कल्पना करनी होगी इस तरह से अनवस्था नामक दोष होगा किञ्च अंशों को स्वीकार करने पर आत्मा के अंश समूह रूप होने के कारण वह सङ्घात स्वरूप भी होगा ।

उपयुक्त प्राभाकर मत का भाट्टमीमांस द्वारा खण्डन

मूल— **ननु च ग्राहकावभासश्रुत्या स्वसिद्धान्तश्रद्धा विप्रलब्धबुद्धिभिरभिहित इन्द्रियादिप्रत्यासन्नतत्तत्पदार्थमात्रस्फुरणात् तादृशोऽपि क्वचिदस्तु नाम प्रत्ययः सत्वागन्तुकात्मप्रतियोगिकप्राकट्यप्रकाशादिपदाभिधेयार्थधर्मानुमित ज्ञानविशिष्टमानसप्रत्यक्षसिद्धात्मनिबन्धनः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि ग्राहकावभास की प्रतीति श्रुति के द्वारा ही होती है । किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है । इस तरह की बात तो वे ही लोग कहते हैं जिन लोगों की अपने-अपने सिद्धान्त में श्रद्धातिरेक के कारण बुद्धि भ्रान्त हो गयी है ग्राहकावभास श्रुति प्रतिपादित नहीं है । सभी ज्ञानों में आत्मा का आश्रय रूप से स्फुरित होने के ही ग्राहकावभास कहते हैं । **इन्द्रियादि० इत्यादि**— ग्राहकावभास अनुभव विरुद्ध है । अनुभव विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन श्रुति नहीं करती है । लोक में देखा जाता है कि जिस विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है उसका प्रकाश होता है यदि कहें कि ग्राहकावभास के बिना मैं घट को जानता हूँ इस तरह का अनुभव कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है कि **तादृशोऽपि० इत्यादि**— जिसको जिस विषय का ज्ञान होता है । उसी व्यक्ति को वह विषय प्रकाशित होता है । उसका कारण है कि विषय का ज्ञान होने पर उस विषय में प्रकटता नामक धर्म उत्पन्न हो जाता है । उस प्राकट्य नामक लिङ्ग के

द्वारा ज्ञान का अनुमान होता है । उसके पश्चात अनुमित ज्ञान के उपरक्त आत्मा मानस रूपी उपर्युक्त प्रकार का जो अनुभव होता है वह कादाचित्क होता है । **सत्त्वागन्तुक० इत्यादि—** उस आगन्तुक आत्म प्रतियोगिक प्राकट्य या प्रकाश शब्द से कहा जाने वाला विषय के धर्म के द्वारा अनुमित ज्ञान से विशिष्ट आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है ।

प्रभाकर मीमांसकों द्वारा अपने मत का समर्थन

मूल— **उच्यते अहो खलु स्वानुभव एव विभ्रमः परीक्षकाणाम् यद्विषयानुभवसमये पूर्वावस्थातो न किंचिद्विशेषमयमात्मनोऽवबुध्यत इति उक्तं ह्येतत् ईदृश एवायमर्थः ज्ञायते न वेति न विद्मः मम वा प्रतिभासते परस्य वेत्यपि न विद्म इति न जातुचिदेव प्रतीतिरस्ति ज्ञानज्ञात्रोरनवभासे तादृश्यमपि प्रतीतिरापद्येतेति सोऽयं परसंचेतिता-त्स्वसंचेतितस्यातिशयः सर्वत्र परिस्फुरन् असति ग्राहकावभासे नोपपद्येत अनुमितज्ञानावलम्बनत्वे चाज्ञासिषमित्येव प्रतिभासः स्यात् न जानामीति ज्ञानजन्यार्थातिशयदर्शनतद्व्याप्त्यनुसंधानानुमानोदयसमये अनुमित्सितज्ञानस्यातिवृत्तत्वात् ज्ञानानुमानासंभवः पूर्वमेवोक्तः, मानसप्रत्यक्षत्वं चात्मग्राह्यधीनिरस्तं तथा सति हि स्वपरवेद्ययोर-नतिशयः स्यात् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— इस पर प्रभाकर मतावलम्बी कहते हैं **उच्यते० इत्यादि—** अरे यह तो परीक्षक भाट्टमीमांसकों का अपने अनुभव के ही विषय में भ्रम है कि विषयों का अनुभव होते समय आत्मा में पहले की अवस्था की अपेक्षा कोई भी विशेषता नहीं प्रतीत होती है । **उक्तम्० इत्यादि—** अर्थात् विषय के ज्ञान के समय में यदि ज्ञाता को ज्ञान का अवभास न हो तो पूर्वोक्त दोष होगा । उसका स्वरूप यह है कि यदि ज्ञान की प्रतीति न होने वाले को इस प्रकार का संशय होने लगेगा कि मैं इसे जानता हूँ कि नहीं । वह सोचेगा कि मैं इसको जानता हूँ कि नहीं कि यह इस प्रकार का विषय है । वह यह भी सोचेगा कि यह प्रतीति मुझको हो रही है या दूसरे को हो रही है, इस बात को भी मैं

नहीं जानता हूँ। किन्तु इस प्रकार की प्रतीति किसी को भी कभी भी नहीं होती है। ज्ञान तथा ज्ञाता का अवभाव नहीं होने पर इस प्रकार की भी प्रतीति होनी चाहिये। **सोयम्० इत्यादि**— यह वही है इस प्रकार से दूसरे के द्वारा ज्ञात वस्तु का अपने से ज्ञात वस्तु की सर्वत्र होने वाली भिन्नता प्रतीत होती है। ग्राहकावभास के बिना यह भिन्नता भी नहीं प्रतीति हो सकती है। **अनुमित० इत्यादि**— मैं जातना हूँ इस प्रकार से होने वाली प्रतीति का विषय यदि प्राकट्य लिङ्ग के द्वारा अनुमित ज्ञान होता तो जानामि इस तरह की प्रतीति न होकर मैंने जाना (आज्ञासिषम्) इस प्रकार से ही प्रतीति होती है। **ज्ञानजन्य० इत्यादि**— ज्ञान के जन्य विषय में प्राकट्य को देखकर उसकी व्याप्ति अनुसन्धान (ज्ञान) का जिस समय अनुमान होगा उस समय तो वह ज्ञान विनष्ट हो गया रहेगा। क्योंकि ज्ञान तो क्षणिक होता है। अतएव मैं यह पहले कह चुका हूँ कि ज्ञान का अनुमान सम्भव नहीं है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष का व्यभिचार होने के कारण पहले ही खण्डित किया जा चुका है। **तथा सति० इत्यादि**— इस तरह से ग्राह्य तथा ग्राहक की प्रतीति के अभाव में अपने लिए प्रकाशित होने वाले आत्मा तथा अपने शेषी के लिए प्रकाशित होने वाले विषय में भिन्नता की प्रतीति ही नहीं होंगी।

भाट्ट मीमांसकों के द्वारा प्राभाकर मत का खण्डन

मूल— **ननु कथमिव ग्राहकानवभासे स्वपरवेद्ययोरनतिशयप्रसङ्गः, न हि ग्राहकसिद्धि नबन्धनः स्वपरवेद्यविशेषः स्वसमवेतविषयबोधजन्मना परसमवेतबोधजन्मना च तद्विशेषोपपत्तेः स्वपरसंबन्धिबोधविशेषोदयव्यवस्थाऽपि स्वीयपरकीयेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिज्ञानहेतुसामग्रीभेदनिबन्धना। न चात्मसिद्धिरपि तत्सामग्र्यनुप्रवेशमर्हति इन्द्रियादेरिवानवभासमानस्यैव हेतुत्वसंभवात् न च विषयबोध एवात्मबोध इति सांप्रतम्, न ह्यर्थान्तरसिद्धिर- र्थान्तरस्य सिद्धिर्भवति अतिप्रसङ्गात्, अपि च यदधीना भावानां रूपभेदव्यवस्था तदपि हि संवेदनं तदानीं निलीनरूपमेव इन्द्रियादिवत् कुतस्तु**

पुनस्तदाश्रयस्यात्मनः प्रतिभासप्रसक्तियदाहुः इदमहं जानामीति त्रितयाऽवभासः, सार्वत्रिक इति, तदप्यनुभवानारूढ़मेवानन्तरमेव प्रतिक्षिप्तमिति ।

तत्त्वप्रकाशिका— प्रभाकर मतावलम्बियों से भाट्टमतावलम्बी पूछते हें कि विषयों के ज्ञान में ग्राहक की प्रतीति नहीं होने पर अपने लिए प्रकाशित होने वाले आत्मा तथा दूसरे के लिए प्रकाशित होने वाले विषय में भिन्नता की प्रतीति कैसे नहीं हो सकती है ? **नहि० इत्यादि**— स्ववेद्य तथा परवेद्य में होने वाली भिन्नता की प्रतीति ग्राहक प्रतीति के अधीन नहीं होती है । अपने में समवाय सम्बन्ध से होने वाले विषय ज्ञान के द्वारा तथा दूसरे में समवाय सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान के द्वारी स्व संवेद्य तथा पर संवेद्य की भिन्नता की प्रतीति हो ही जायेगी । **स्वपर संबन्धि० इत्यादि**— अपने में तथा दूसरे में होने वाले ज्ञान विशेष की उत्पत्ति की व्यवस्था भी इस प्रकार से अपनी इन्द्रियों का विषय के साथ होने वाले सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अपने से संबद्ध ज्ञान कहते हैं । तथा दूसरे की इन्द्रियों का विषय के साथ होने वाले सन्निकर्ष के कारण जो ज्ञान होता है वह दूसरे से सम्बद्ध ज्ञान होता है । अतएव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूपी हेतु तथा सामग्री की भिन्नता के कारण दोनों ज्ञानों में भिन्नता की सिद्धि हो जाती है । **न चात्मसिद्धि इत्यादि**— आत्मा में होने वाले ज्ञान में आत्मा का प्रकाश उस सामग्री के अन्तर्गत नहीं हो सकता है क्योंकि जिस तरह इन्द्रियों तथा विषयों की प्रतीति होती है, उसी तरह से आत्मा प्रकाशित नहीं होता है । **न च विषय० इत्यादि**— यह कहना उचित नहीं है कि विषयों के ज्ञान को ही आत्मबोध कहते हैं । **नह्यर्थान्तर० इत्यादि०**— दूसरे विषय का ज्ञान उससे भिन्न विषय का ज्ञान नहीं हो यदि दूसरे विषय के ज्ञान को दूसरे विषय का ज्ञान मान लें तो फिर अति प्रसङ्ग होगा अर्थात् पट बोध की सामग्री से ही घट के बोध का प्रसङ्ग होगा । **अपि च० इत्यादि**— जिसके द्वारा पदार्थों की जाति, गुण आदि विशेषों की व्यवस्था होती है उस ज्ञान का भी विषयों के प्रकाश के समय स्वरूप भी इन्द्रियादि के समान अप्रकाशित

ही रहता है । जिस तरह से स्वरूप का ज्ञान होने से ही विषय विशेष की सिद्धि होती है उसी तरह स्वरूप के ज्ञाता के द्वारा ही अपने वेद्य विषय की विशेषता की सिद्धि (प्रकाश) होती है । **कुतस्तु० इत्यादि**— विषय प्रकाश की बेला में विषयों के ज्ञाता आत्मा का प्रतिभास कैसे हो सकता है । **यदाहुः इत्यादि**— प्रभाकर मीमांसको ने यह जो कहा है कि होने वाले सभी ज्ञानों में मैं इसे जानता हूँ । इस तरह से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों की प्रतीति होती है, वह कथन अनुभव के विरुद्ध हैं, इस तरह से उसका खण्डन किया जा चुका है ।

प्रभाकर मीमांसकों द्वारा पुनः अपने मत की स्थापना

मूल— **अस्तुतर्हि ग्राहकतयैव सर्वार्थग्रहणसमयेष्वात्मसिद्धिः अभ्युपगन्तव्या हि संविदः स्वतः सिद्धिः सर्वप्रकारसाधनान्तर-निराकरणात् सत्याश्च तस्याः कदाचिदनवभासादर्शनाच्च, यथा च संविदः प्रकाशाव्यभिचारस्तथा प्रपञ्चितं प्रथमाधिकरण इति नात्रोपक्षिप्य प्रतिक्षेप्तव्यम् । सतोऽपि प्रमेयजातस्य स्वापादिसमये अनुपलब्धेरभ्युपगतं तावत्संविदस्तत्साधकत्वम् अतः क्लृप्तार्था-न्तरसाधनभावया तयैवात्मनोऽपि सिद्धिरभ्युपगन्तुं न्याय्या ।**

तत्त्वप्रकाशिका— प्रभाकर मीमांसक कहते हैं कि तो फिर यह मान लेना चाहिए कि सभी विषयों के ज्ञान के समय आत्मा की ज्ञाता रूप से ही प्रतीति होती है इस तरह से आत्मा की सिद्धि हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि विषयों के ज्ञान की सामग्री के द्वारा विषय का ही ज्ञान होता है । वह ज्ञान अपने सामर्थ्य से ही अविष्य भूत अपने को तथा अपने ज्ञाता को भी प्रकाशित कर देता है । **अभ्युपगन्तव्या० इत्यादि**— ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व को तो स्वीकार करना ही चाहिए वह मानस प्रत्यक्ष के ज्ञातता नामक लिङ्ग का अनुमान का भी निराकरण करता है । **सत्याश्च० इत्यादि**— ऐसा कभी नहीं होता है कि ज्ञान रहे और उसकी प्रतीति न हो । **यथा च० इत्यादि**— ज्ञान अपने वर्ततान काल में प्रकाशित होता ही है, इस बात का मैंने विस्तार के साथ वर्णन

न्यायतत्त्वशास्त्र के प्रथमाधिकरण में किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर उसको उद्धृत करके निराकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। **सतोऽपि० इत्यादि—** विषय के रहने पर भी स्वाप काल में उसकी उपलब्धि इसलिए नहीं होती है कि स्वाप काल में ज्ञान नहीं रहता है। इससे सिद्ध होता है कि विषयों का प्रकाशक ज्ञान ही है। अतएव सन्निकृष्ट दूसरे विषयों को सिद्ध करने वाले ज्ञान के ही द्वारा आत्मा के भी प्रकाश को स्वीकार करना चाहिए।

विषयों के ज्ञान के समय ही आत्मा की प्रतीति होती हैं, इस तरह से गुरुमतानुसार प्रतिपादन

मूल— **यत्तु विषयवित्त्युपरमेऽपि स्वापसमये अयमात्मा प्रकाशत इति तदुपपत्तिभिरुपपद्यमानमपि यथाप्रतीति व्यवहरतां न चित्तमनुरञ्जयति।**

अपवृत्तस्य तु ज्ञानं हेत्वभावान्न संभवि।
नित्यत्वे नित्यमुक्तिः स्यादर्थवादास्तथोक्तयः ॥१८॥

तत्त्वप्रकाशिका— स्वापकाल में होने वाले आत्म ज्ञान का निषेध करके मुक्तावस्था में भी आत्मा का प्रकाश नहीं होता हैं; इस अर्थ की सिद्धि करते हुए गुरुमतानुयायी कहते हैं **अपवृक्तस्य० इत्यादि—** मुक्त जीव को अपनी आत्मा का ज्ञान इसलिए नहीं हो सकता है, कि वह ज्ञान का कोई हेतु नहीं है। यदि कहें कि मुक्त जीवों का ज्ञान नित्य होता है तो ऐसा मानने पर नित्य ही मुक्ति का तथा संसरणाभाव का प्रसङ्ग होगा। यदि कोई यह कहे कि मुक्त जीवों की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का निर्वाह कैसे होगा ? तो इसका उत्तर है कि वे श्रुतियाँ अर्थ वाद मात्र है अर्थात् उन श्रुतियों का तात्पर्य मोक्ष के साधन का ही प्रशंसा में हैं।

उपयुक्त कारिका का स्पष्टीकरण

मूल— **निर्धूतनिखिलकरणकलेवरज्ञानकर्मवासनानुबन्धस्याप-वृत्तस्य न खलु स्वपरसंवेदनोदयनिबन्धनं किंचित्संभाव्यते, न च मनसो नित्येन्द्रियत्वेन तत्संयोगादेव तदा ज्ञानं जन्यत इति युक्तम् स्वरूपतो गगनवन्नित्यस्यापि सतस्तस्येन्द्रियभावेन ज्ञानोत्पादकत्वस्य धर्माधर्मावरोधनिबन्धनत्वात् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई कहे कि जिन जीवों की देह, इन्द्रिय, कर्म, वासना तथा ज्ञान वासना रूपी बन्धन समाप्त हो गया है, उन मुक्त जीवों की स्ववेद्य तथा परवेद्य सम्बन्धी ज्ञान के उदय का कोई बाधक नहीं होगा । **न च मनसः इत्यादि**— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मन तो नित्य इन्द्रिय है । अतएव उस मुक्तावस्था में भी उसका संयोग बना रहेगा ही । उस नित्येन्द्रिय के द्वारा ही मुक्तावस्था में भी ज्ञान उत्पन्न होता है । तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि मन के आकाश के समान नित्य इन्द्रिय होने पर भी वह धर्म और अधर्म के बिना ज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकता है ।

उपर्युक्त अर्थ का उपपादन

मूल— **धर्माधर्मावरुद्धं सन्मनोज्ञानस्य साधनम् ।**
सति नित्येन्द्रियत्वेऽपि श्रोत्रवत्करणत्वतः ॥१९॥

तत्त्वप्रकाशिका— धर्म तथा अधर्म रूपी अदृष्ट के कारण ही मन ज्ञान को उत्पन्न करता है । धर्म तथा अधर्म रूपी अदृष्ट के अभाव में वह नित्येन्द्रिय होने पर भी उसी तरह से ज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकता है जिस तरह धर्म तथा अधर्म रूपी सहकारी के अभाव में शब्द ग्रहण ज्ञान को श्रोत्रेन्द्रिय नहीं उत्पन्न कर पाता है ।

मूल— **न च योगजधर्मानुगृहीततत्संयोगस्य साधनत्वं, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः इत्यादि-शुक्लेतरसकलकर्मप्रक्षयश्रुतिविरोधात् धर्मफलत्वे चापवर्गस्य**

पुनरावृत्तिप्रसङ्गः नास्त्यकृतः कृतेन, तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते इत्यादिश्रवणाच्च, न चात्मसत्तयैव तदानीं तज्ज्ञाननिमित्तमिति वाच्यम्, क्लृप्तत्यागात्क्लृप्त-कल्पनप्रसक्तेः तन्मात्रनिमित्तत्वे च सर्वदा आत्मनि स्वरूपवत् तदपि विद्यत इति संसारानवतारप्रसङ्गात् बन्धमोक्षावस्थयोरविशेषापत्तेश्च। न च देहेन्द्रियादिप्रतिबद्धतयेदानीं तदभाव इति वाच्यं तत्खलु प्रतिबन्धकं यत्सति पुष्कलकारणे कार्योदयं निरुणद्धि न चाद्याप्या-त्मनस्तत्पुष्कलकारणत्वं सिद्धं शरीरेन्द्रियवतामेव ज्ञानदर्शनात्, क्लृप्तज्ञानकारणभावस्य तस्यैव तद्बन्धकत्ववचनमुन्मत्तवचः अतो नास्त्यपवर्गदशायां ज्ञानं, तात्कालिकज्ञानसुखादिवादास्त्वात्मज्ञान-विधिशेषतया गुणवादेन नेतव्याः, अतो विषयवित्तिसमय एवात्मसिद्धिनियमाद्यथोक्तनीत्या अर्थवित्तिषु वेदितृतयैवात्मसिद्धिरिति।

तत्त्वप्रकाशिका— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा का मन के साथ संयोग योग जन्य धर्म की सहायता से होता है । अतएव मुक्तावस्था में भी उसका इन्द्रिय भाव बना ही रहता है । अतएव उस अवस्था में भी मानस ज्ञान होता है तो ऐसा मानने पर श्रुतियों का विरोध होगा । **श्रीयन्ते चास्य कर्माणि** श्रुति बतलाती है कि मुक्तावस्था में जीव के सभी कर्मों का नाश हो जाता है । दूसरी श्रुति भी कहती हैं **तदा विद्वान् इत्यादि**— अर्थात् आत्मज्ञ पुरुष अपने पुण्य पाप रूपी कर्मों को विनष्ट करके निर्लेप हो जाता हे । ये श्रुतियाँ मुक्तजीव के सभी कर्मों का नाश का प्रतिपादन करती हैं । **धर्म फलत्वे० इत्यादि**— कर्मों के फल पुण्य पाप के मुक्ति में रहने पर तो मुक्त जीवों के भी संसार में आने का प्रसङ्ग होगा । श्रुति कहती है अर्थात् किए हुए कर्मों के द्वारा मुक्ति प्राप्ति नहीं होती हैं । दूसरी श्रुति कहती है जिस प्रकार से इस लोक में कर्मों के द्वारा अर्जित धन धान्यादि का क्षय होता है, उसी तरह पर लोक में पुण्यार्जित स्वर्गादि लोकों का क्षय होता है । यह श्रुति कर्म के फलों की अनित्यता का प्रतिपादन करती है । **न चात्मसत्तयैव**

इत्यादि— यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मुक्तावस्था में आत्मा ही ज्ञान का कारण है । तो ऐसा कहने पर **क्लृप्तत्याग० इत्यादि**— सभी लोग यह मानते हैं कि ज्ञान का साधकतम इन्द्रियाँ ही उसको त्यागकर अनभिमत और अप्रसिद्ध आत्मा को ज्ञान के साधन रूप से कल्पना करने का प्रसङ्ग होगा । **तन्मात्रनिमित्तत्त्वे० इत्यान**— आत्मा की सत्ता मात्र को ही ज्ञान का कारण मानने पर मुक्ति काल में होने वाले ज्ञान की सदा सत्ता बने रहने के कारण अतएव संसार में जीव के आने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं होगा । क्योंकि जिस तरह आत्मा नित्य है, उसी तरह ज्ञान भी नित्य होगा । फलत: बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थाओं में किसी प्रकार का अन्तर भी नहीं होगा । **न च० इत्यादि**— यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि संसारावस्था में देह तथा इन्द्रिय आदि रूपी प्रतिबन्धकों के कारण संसार में मुक्ति कालीन ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है। तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि **तत्खलु० इत्यादि**— प्रतिबन्धक उसको कहते हैं जो कारण के पुष्कल मात्रा में रहने पर कार्य को नहीं होने देता है । **न चाद्यापि० इत्यादि**— आज तक यह नहीं सिद्ध हो पाया हैं कि आत्मा ज्ञान का पुष्कल कारण है । लोक में यह लोक में यही देखा जाता है कि जो शरीर तथा इन्द्रियों से युक्त होता है उसी को ज्ञान होता है । अतएव शरीर तथा इन्द्रियों को ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता है । **क्लृप्तज्ञान० इत्यादि**— ज्ञान के कारण रूप से प्रसिद्ध देह तथा इन्द्रियों को ज्ञान का प्रतिबन्धक तो कोई उन्मत्त व्यक्ति ही कह सकता है । **अतो० इत्यादि**— इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो गया कि मुक्तावस्था ज्ञान नहीं रहता है । **तात्कालिक० इत्यादि**— मुक्ति काल में आत्मा के सुख तथा ज्ञानादि का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों को अर्थवाद वाक्य मानना चाहिए । मुक्ति में सुख का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का दुःख की निवृत्ति में तात्पर्य है ज्ञान का सद्भाव बतलाने वाली श्रुतियों का तात्पर्य ज्ञान के प्रागभाव के अभाव का प्रतिपादन करने में है । **अतो विषयवित्ति० इत्यादि**— अतएव विषयों के ज्ञान के समय में ही आत्मा की सिद्धि का नियम होने के

कारण विषयों का प्रकाश करने वाला ज्ञान को अपने अभय आत्मा का प्रकाशव्य मानना उचित है ।

सिद्धान्ती के द्वारा प्रभाकर मत का खण्डन

मूल— **इदमप्यात्मतत्त्वापरिज्ञानोल्लसितपरिमितमति विकल्प-जल्पितमिति न रोचयन्ते त्र्यन्तविदः, विषयवित्तिर्हि विषयवित्तिरेव, न हि तया आत्मवित्तिः स्वरूपं वा सेद्धुमर्हति अतद्विषयत्वात् यो हि यत्संविद्विषयो न भवति नासौ तया सिध्यति रूपसंविदेव रसः, अविषयौ च विषयवित्तेर्बुद्धिबोद्धराविति तावपि न तया सिध्यतः।**

तत्त्वप्रकाशिका— प्रभाकर मीमांसकों का यह भी कथन आत्म तत्त्व का अज्ञान होने के कारण अज्ञान से युक्त छोटी बुद्धि जन्य विकल्पों से हैं । अतएव वेदान्त पुरुष प्राभाकरों के इस कथन का समादर नहीं करते हैं । क्योंकि **विषयवित्ति० इत्यादि**— विषयों का ज्ञान तो विषयों का ज्ञान मात्र है, उस ज्ञान के द्वारा आत्मा के धर्मभूत ज्ञान अथवा आत्मा के स्वरूप की सिद्धि (प्रकाश) नहीं हो सकता है । क्योंकि आत्मा का धर्मभूत ज्ञान या आत्मा का विषय ज्ञान का विषय नहीं है । **योहि यतसंवि० इत्यादि**— जो जिस ज्ञान का विषय नहीं होता है वह उस ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह रूप विषयक ज्ञान रस को नहीं प्रकाशित करता है । **अविषयौ च० इत्यादि**— धर्मभूत ज्ञान तथा ज्ञाता दोनों ही विषय ज्ञान के विषय नहीं है अतएव वे दोनों विषय ज्ञान के द्वारा नहीं प्रकाशित होते हैं ।

प्रभाकर मीमांसक द्वारा ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व की सिद्धि

मूल— **ननु वेद्यस्वभावोऽयं यत्स्वविषयसंविदा सिध्यतीति वित्तिस्तु वित्तिरेव वेदिता च वेदितैवति कुतस्तयोर्वेद्यस्वभावानुप्रवेशः, उक्तंहि तयोर्मानसप्रत्यक्षागोचरत्वमनुमेयत्वासंभवश्च, कुतस्तर्हि वित्तिसिद्धिः स्वतन्त्रैव स्वयंप्रकाशा हि संवित् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— ननु० इत्यादि— यदि गुरुमतानुयायी यह कहें

कि वेद्य पदार्थों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने को विषय बनाने वाले ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते हैं । **वित्तिस्तु० इत्यादि**— ज्ञान तो ज्ञान मात्र है वह ज्ञान का विषय नहीं है और ज्ञाता भी ज्ञाता मात्र है अतएव ज्ञान तथा ज्ञाता ये दोनों किसी भी हालत में ज्ञेय नहीं हो सकते हैं । **उक्तं हि० इत्यादि**— यह पहले कहा जा चुका है कि ज्ञाता तथा ज्ञान दोनों मानस प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं तथा उनका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है । **कुतस्तर्हि० इत्यादि**— यदि कोई पूछे कि तो फिर ज्ञान का प्रकाश कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है कि वह स्वतः प्रकाशित होता है । वह स्वयम्प्रकाश है अतः वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है ।

सिद्धान्ती द्वारा प्राभाकरोक्त ज्ञान स्वयम्प्रकाशत्व का निरास

मूल— **मैवं सापि हि विषयवदेवान्यस्यैव प्रकाशमानतया न स्वतःसिध्यति, स्वतःसिध्यन्ती च सा किमिति कंचिदेव प्रति चकास्ति, न सर्वान्प्रति, तत्समवायादिति चेत् यत्समवायिनी हि या संवित् तस्यैव सा चकास्ति नेतरस्य तदसमवायादिति यद्येवमाश्रितस्तर्हि आत्मसंबन्धनिबन्धन एव संविदः प्रकाशः तत्स्वभावाभावानुविधानात्, यदुच्येत प्रकाशस्वभावाया एव सत्याः प्रतियोगिविशेषावच्छेद्यैव तदपेक्षा न स्वरूपसिद्धये इति कुतः खल्वयं निश्चयः, यदि हि प्रतियोगिनिरपेक्षैव कदाचिदात्मस्वरूपमिव संवित्प्रकाशेत तत एव मध्यवस्थेमापि न च तथाऽस्ति आश्रयप्रतियोगिसापेक्षैव संयोगपुत्रत्वादेरिव तस्याः स्वरूपसत्तेति न पृथक्सिद्धयुत्प्रेक्षाबकाशस्तयाः संविदः प्रकाशव्यभिचाराभावात् स्वरूपप्रयुक्तः प्रकाश इति चेत् सत्याः कि तस्याः आत्मसंबन्ध-व्यभिचारोऽस्ति अपि चैवं सुखदुःखादयोऽपि त्वन्मते स्वतः सिद्धाः स्युः न हि तेऽपि सन्तो न प्रकाशन्ते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— मैवम्० इत्यादि— प्राभाकर मीमांसक उपर्युक्त बातें नहीं कह सकते हैं **साऽपि० इत्यादि**— जिस तरह विषय अपने

से भिन्न ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है । वह अपने से भिन्न ज्ञाता अहमर्थ के ही प्रकाश से प्रकाशित होता है । ज्ञान स्वम्प्रकाश नहीं है । **स्वतः सिध्यति० इत्यादि**— अपने से प्रकाशित होने वाला ज्ञान अपने से भिन्न किसी के ही प्रति क्या है ? इस प्रकार से प्रकाशित होती है, सबों के प्रति नहीं यदि प्रभाकर मीमांसक कहें कि **तत्समवाया० इत्यादि**— आत्मा में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान रहता है । **यत्समवायिनी० इत्यादि** जिसमें समवाय सम्बन्ध से जो ज्ञान रहता है वह उसके लिए ही प्रकाशित होता है । दूसरे के प्रति वह इसलिए नहीं प्रकाशित होता है वह उन सबों में समवय सम्बन्ध से नहीं रहता है । **यद्येवम् इत्यादि यादोवम्० इत्यादि**— यदि ऐसी बात है तथा ज्ञान का प्रकाश आत्म संबन्ध के कारण होने के कारण ज्ञान आत्माश्रित सिद्ध हुआ । **तद्भावा० इत्यादि**— क्योंकि जब ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध होगा तो ज्ञान का प्रकाश होगा और सम्बन्ध होने पर ज्ञान का प्रकाश नहीं होगा ।

यद्युच्येत० इत्यादि— यदि प्रभाकर मीमांसक कहें कि प्रकाश स्वभाव वाले ही ज्ञान को विषय आत्मा के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा विषय के प्रकाश के लिए ही होता है अपने स्वरूप के प्रकाश के लिए नहीं । तो प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का निश्चय कैसे किया जा सकता है ? **यदि हि० इत्यादि**— यदि ज्ञान प्रतियोगी निरपेक्ष (विषय निरपेक्ष) होकर जिस तरह आत्मा स्वरूपतः प्रकाशित होता है, उस तरह से कभी प्रकाशित होता तब तो इस तरह का भी निश्चय किया जा सकता था, किन्तु वह कभी भी विषय निरपेक्ष होकर स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता है । अतएव जान की सत्ता अपने आश्रय भूत आत्म सम्बन्ध सापेक्ष ही होता है । यह ठीक उसी तरह से होता है जिस तरह संयोग तथा पुत्रत्व इत्यादि भूतल तथा पिता के सम्बन्ध की अपेक्षा रखते है । जिस तरह पिता के बिना पुत्र नहीं होता है तथा पृथवी के बिना घट का उससे सम्बन्ध नहीं होता है उसी तरह अतएव उसका सत्ता मात्र से प्रकाश नहीं स्वीकार किया जा सकता है । **सत्या० इत्यादि**— यदि कहें कि जब ज्ञान रहता है तो उसका प्रकाश होता ही है अतएव उसका स्वरूपतः प्रकाश मानना

चाहिए तो यह भी नहीं कहा जा सकता है तो प्रश्न होता है कि **सत्याः किम् इत्यादि**— जिस समय ज्ञान रहता है उस समय कभी ऐसा भी होता है क्या उसका आत्मा से सम्बन्ध हो ? **अपिचैवमित्यमित्यादि**— दूसरी बात यह है कि आपके अनुसार तो सुख दुःख भी आपके मतानुसार स्वयं प्रकाश होंगे, क्योंकि सुख दुःख भी जब रहते हैं तब उनका प्रकाश प्रकाश होता ही है ।

मूल— **अथार्थान्तरसाधकतया सर्ववादिसंमतायाः संविद एव परं स्वयंप्रकाशत्वमाश्रितम् तथैव तथाभूतया तदितरवाह्याभ्यन्तरसकलपदार्थसिद्ध्युपपत्तेः किमनेकस्वयंप्रकाशभावाभ्युपगमेनेति भावः तथा सति ।**

सर्वस्यार्थस्य तद्वित्तेः साक्षी सर्वत्र संमतः ।
आत्मैवास्तु स्वतःसिद्धः किमनेकैस्तथाविधैः ॥२०॥

किञ्च—

यो यस्य साक्षी तेनैव तस्य सिद्धिर्न लौकिकी ।
अर्थस्यैवार्थवित्तेरप्यात्मा साक्षी हि लक्ष्यते ॥२१॥

सन्तु नामार्थवित्तयः स्वतःसिद्धाः तथाऽपि न ताभिरयमात्मा प्रत्यक्षीभवति तत्साक्षित्वात् यत्साक्षी खल्वयं पुरुषः न तेनासौ प्रत्यक्षः घटसाक्षात्कारीव घटेन, अर्थसंविदां च साक्षात्कारी चेतन इति सोऽपि न ताभिरपरोक्षाभवति ।

तत्त्वप्रकाशिका— अथेत्यादि— यदि प्रभकर मतानुयायी कहें कि सभी दार्शनिक मानते हैं कि सभी विषयों का प्रकाश ज्ञान के द्वारा ही होता है अतएव सवित् (ज्ञान) को ही स्वयं प्रकाश मानना चाहिए । **तयैव० इत्यादि**— स्वयं प्रकाश संवित् के ही द्वारा उससे भिन्न सभी वाह्य आभ्यन्तर सभी विषयों का प्रकाश सिद्ध हो जाता है, अनेक स्वयं प्रकाश वस्तुओं को स्वीकार करने से कौन सा लाभ है ? कहने का अभिप्राय है कि जिस तरह ज्ञान के प्रकाश का हेतु विषयों का सम्बन्ध होता है उसी तरह से आत्मा के सम्बन्ध को भी ज्ञान के प्रकाश का हेतु

मान लेना चाहिए । ऐसा होने पर भी ज्ञान का स्वयम्प्रकाशत्व अक्षुण बना रहता है । क्योंकि ज्ञान अपने प्रकाश के लिए अपने सजातीय किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है । अतएव आत्मा को स्वयम्प्रकाश नहीं मानना चाहिए । अपितु जिस तरह से बाह्य विषयों के प्रकाश ज्ञान ही है उसी तरह से ज्ञान ही आत्मा प्रकाशक है यह मान लेना चाहिए।

गुरुमतानुयायी के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **तथा सति० इत्यादि**— अर्थात् गुरुमतावलम्बी का अभिप्राय है कि अनेक स्वयम्प्रकाश वस्तुओं को मानने पर गौरव दोष होगा तो यह क्यों न मान लिया जाय कि सभी विषयों के साक्षी रूप से सर्व सम्मत है, अतएव आत्मा ही स्वयम्प्रकाश उससे भिन्न अनेक पदार्थों को स्वयम्प्रकाश मानने से कौन सा लाभ है ? उससे भिन्न ज्ञान इत्यादि सबों को आत्माधीन प्रकाश वाला मान लेना चाहिए ॥२०॥

किञ्च इत्यादि— दूसरी बात यह है कि जो जिसका साक्षी होता है उसी के द्वारा उसका प्रकाश अनुभव सिद्ध नहीं है । लोक में देखा जाता है कि आत्मा जिस तरह विषयों का साक्षी (द्रष्टा) होता है उस तरह से वह विषयों के ज्ञान का भी साक्षी होता है । कहने का अभिप्राय है कि ज्ञान का भी प्रकाश आत्मा के अधीन ही होता है अतएव ज्ञान का स्वयम्प्रकाशत्व मुख्य नहीं हैं । चूकि ज्ञान अपने प्रकाश के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं करता है अतएव उसका भी किसी तरह स्वयम्प्रकाशत्व हो सकता है । फिर भी यह निश्चित है कि आत्मा का प्रकाश ज्ञान के अधीन नहीं होता है ॥२१॥

सनु नाम० इत्यादि— विषयों का ज्ञान स्वय प्रकाश रहे फिर भी उस ज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रकाश नहीं होता है । क्योंकि आत्मा उस ज्ञान का साक्षी (द्रष्टा) है **यत्साक्षी० इत्यादि**— यह आत्मा जिसका साक्षी है उसके द्वारा आत्मा का प्रकाश उसी तरह से नहीं होता है जिस तरह घट का साक्षात्कार करने वाला घट के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है । विषयों के ज्ञानों का साक्षात्कार ज्ञानवान आत्मा ही करता है अतएव वह उन ज्ञानों के द्वारा नहीं प्रकाशित होता है ।

सिद्धान्ती के द्वारा आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व का समर्थन

मूल— **सजातीयवसाध्यार्थनिरपेक्षात्म-सिद्धयः ।**
सर्वे पदार्थास्तेनात्मा निरपेक्षस्वसिद्धिकः ॥२२॥

न हि कश्चित्पदार्थः स्वप्रकाशायासाधारणसजातीयार्थान्तरापेक्षो दृष्टः न खलु घटः स्वसिद्धये घटान्तरमपेक्षते, अपेक्षते तु विजातीयमालोकादि, एवमालोकोऽपि प्रकाशमाना नालोकान्तरमपेक्षते नापि स्वापेक्षप्रकाशं घटादिकमपेक्षते, अपेक्षते तु विजातीयमिन्द्रियम् एवमिन्द्रियमपि नेन्द्रियान्तरं स्वापेक्षप्रकाशम् आलोकादि घटं वापेक्षते, अपेक्षते तु विजातीयं संवेदनमेवं संवेदनमपि संविदन्तरं स्वाधीनसिद्धिकमिन्द्रियादिकं वा नापेक्षते स्वसिद्धौ, अपेक्षते तु विजातीयं स्वाश्रयभूतं स्वतन्त्रमात्मानम्, एवमात्माऽप्यात्मान्तरं स्वाधीनसिद्धि संविदिन्द्रायादिकमपि स्वापरोक्षे नापेक्षते इत्यनन्यापेक्षा ह्यात्मस्वरूपसिद्धिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— जितने भी स्वाधीन प्रकाश पदार्थ होते हैं अपने अधीन प्रकाश वाले विषयों की अपेक्षा किए बिना ही प्रकाशित होते हैं। आत्मा भी स्वयम्प्रकाश पदार्थ है अतएव वह अपने प्रकाश के लिए ज्ञानादि निरपेक्ष होकर ही प्रकाशित होता है ॥२२॥

नहि कश्चित्० इत्यादि— लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता है जो अपने प्रकाश के लिए अपने अत्यन्त सजातीय पदार्थ की अपेक्षा करे । **न खलुः इत्यादि**— देखा जाता है कि घट अपने प्रकाश के लिए अपने अत्यन्त सजातीय दूसरे घट की अपेक्षा नहीं रखता है । अपितु वह अपने विसजातीय प्रकाश इत्यादि की ही अपने प्रकाश के लिए अपेक्षा रखता है । तथा वह अपने प्रकाश के लिए आलोक की अपेक्षा रखने वाले घटादि की भी अपेक्षा नहीं रखता है । अपितु वह अपने विसजातीय इन्द्रिय इत्यादि की अपेक्षा रखता है । **एवम० इत्यादि**— इसी तरह इन्द्रिय भी अपने प्रकाश के लिए न तो किसी दूसरी इन्द्रिय की अपेक्षा करती है और न तो घटादि की अपेक्षा रखती है अपितु वह

अपने विसजातीय ज्ञान की अपेक्षा रखती है । **एवं सवेदनमथि०**— इसीतरह ज्ञान भी अपने प्रकाश के लिए न तो किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखता है और न तो अपने अधीन प्रकाशित होने वाली इन्द्रियों आदि की अपेक्षा रखता है, अपितु वह अपने विसजातीय तथा अपने आश्रयभूत स्वतन्त्र आत्मा की अपेक्षा रखता है । **एवमात्मा० इत्यादि**— इसी तरह आत्मा भी अपने अधीन प्रकाशित होने वाले किसी ज्ञान या इन्द्रिय आदि की अपने प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षा नहीं रखता है, अतएव आत्मा के स्वरूप का प्रकाश अनन्यापेक्ष है । इस तरह आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि होती है ।

आत्मा के धर्मभूत के नित्यत्व की सिद्धि

मूल—

तदेवं चित्स्वभावस्य पुंसः स्वाभाविकी चितिः ।
नानापदार्थ संसर्गात्तत्त-च्चित्तत्वमश्नुते ।।२२।।

यथैव खलु सूर्यालोकस्तेन तेनार्थभेदेन संसर्गात्तत्तत्प्रकाशो भवति घटप्रकाशः पटप्रकाश इति एवमात्मनः प्रकारभूतं चैतन्यमर्थविशेष-संसर्गाद्घट संवित्पटसंविदित्यादिप्रख्योपाख्येप्रतिपद्यते ते च चैतन्यस्य दशाविशेषाश्चेतयितुरात्मनोधर्मविशेषत्वादेव तस्यापरोक्षा भवन्ति कादाचित्कबोधवादिनामिव बोधस्य विषयभेदावच्छेदादयः ।

तत्त्वप्रकाशिका— तदेवमित्यादिः— इस तरह स्वयं प्रकाश आत्मा का ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) स्वाभाविक है । इन्द्रियों के माध्यम से अनेक विषयों से संयुक्त होकर ज्ञान ही विभिन्न प्रकार का ज्ञान कहलाता है । चूकि ज्ञान का विषयों से सम्बन्ध आगन्तुक होता है अतएव ही विभिन्न ज्ञानों की उत्पत्ति तथा विनाश इत्यादि की प्रतीति तथा उनका व्यवहार भी होता है ।।२२।।

यथैव खलु० इत्यादि— सूर्य के आलोक का विभिन्न प्रकार के विषय के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसका घट का प्रकाश, पट का प्रकाश इत्यादि रूप से व्यवहार होता है, इसी तरह आत्मा का प्रकार

भूत ज्ञान का भी विभिन्न विषयों के संयोग के कारण घट का ज्ञान, पट का ज्ञान इस तरह से ज्ञान की प्रतीति तथा व्यवहार होते हैं । **ते च चैतन्यस्य० इत्यादि**— वे सभी ज्ञान की दशा विशेष ज्ञाता आत्मा के धर्म विशेष होने के कारण आत्मा को साक्षात्कार होते हैं । जो लोग आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को अनित्य मानने वालों के विषय भेद के समान हैं ।

आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को अनित्य मानने वालों के मत का उपपादन

मूल— **ननु आत्मनश्चैतन्यमागन्तुकमिति न्यायवैशेषिकविद-स्तन्मतोपजीविनश्चाभिनवमीमांसका; अर्थेन्द्रियसन्निकर्षाद्यन्वयव्यतिरे-कानुविधानाद् गच्छाम्यागच्छामीत्यादिवज्जानामि अज्ञासिषमित्यादि-कालावच्छेदप्रतीतेः स्वापतुरीयादिदशासु च बोधाधारत्वे सुप्तप्रबुद्ध-बद्धमुक्तादिव्यवस्थाऽभावप्रसङ्गाच्च, नित्यस्य च ज्ञानस्यात्म-समवायिनः प्रतिकर्मव्यवस्थाऽपि दुरुपपादैव तदा हि प्रकाशन-शीलतया तस्या एकस्यां संविदि सर्वमेव प्रकाशेत न वा किंचिद विशेषात् अन्यदा तु यदर्थसन्निकर्षजुषा इन्द्रियलिंगादिना या धीर्जन्यते तदीयेव सेति व्यवस्था युक्तिमती ।**

तत्त्वप्रकाशिका— ननु इत्यादि— नैयायिक तथा वैशेषिक विद्वान् कहते हैं कि आत्मा का चैतन्य नामक गुण आगन्तुक है । **तन्मत० इत्यादि**— उन्हीं के मत को मानने वाले अभिनव मीमांसक (भाट्टमतानुयायी मिश्र इत्यादि) हैं । **अर्थेन्द्रिय० इत्यादि**— ज्ञान का आगन्तुकत्व विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष के अन्वय तथा व्यतिरिक्त के द्वारा ज्ञात होता है । जिस तरह जा रहा हूँ, आ रहा हूँ इत्यादि क्रियाएँ काल विशेषा वच्छिन्न रूप से होती हैं, उसी तरह ज्ञान भी मैं जानता हूँ, मैंने जाना इत्यादि ज्ञान काल विशेषावच्छिन्न रूप से होता है । काल विशेषावच्छिन्न रूप से होने के ही कारण ज्ञान को अनित्य मानना चाहिए । **स्वापतुरीय० इत्यादि**— यदि आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को नित्य माना जाय तो वह ज्ञान स्वाप

काल तथा तुरीय आदि दशा में भी ज्ञान के रहने के कारण सोना, जगना तथा बद्ध एवं मुक्त इत्यादि की व्यवस्था नहीं बन पायेगी । मनुष्य की सुप्तावस्था में यदि ज्ञान रहेगा तो उसकी जागरावस्था से भिन्न कैसे होगी । इसी तरह से जीव बद्धावस्था में अज्ञानी रहता है तथा मुक्तावस्था में वह सर्वज्ञ हो जाता है । ये सारी व्यवस्थाएँ तब ही बन सकती हैं जब कि ज्ञान को अनित्य माना जाय । **नित्यस्य० इत्यादि**— आत्मा में समवाय संबन्ध से रहने वाले ज्ञान को नित्य मानने पर भिन्न-भिन्न ज्ञान में होने वाले ज्ञान के भेद का भी होना मुश्किल होगा । अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता है कि यह ज्ञान घट विषयक है, पट विषयक नहीं है । **तदाहि० इत्यादि**— ज्ञान को नित्य मानने पर चूकि ज्ञान स्वभाव है कि वह प्रकाशित ही होता रहता है, अतएव वह एक ही समय में सभी विषयों का प्रकाशन करने लगेगा और यदि वह नहीं प्रकाशित करने का स्वभाव वाला होगा तो वह किसी वस्तु का भी प्रकाशन नहीं करेगा । ऐसी स्थिति में वह किसी भी वस्तु को किसी काल विशेष में ही प्रकाशित करने का काम नहीं करेगा । **अन्यदातु० इत्यादि**— यदि ज्ञान को अनित्य माना जाय तब तो जिस इन्द्रिय का जिस विषय का सन्निकर्ष जब होगा उसी समय उस समय उत्पन्न होने वाला ज्ञान उस विषयक होगा । इस तरह से सारी व्यवस्था भी उपपन्न हो जायेगी अतएव आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को अनित्य ही मानना चाहिए नित्य नहीं ।

धर्मभूत ज्ञान को नित्य मानने पर ज्ञान तथा विषय सन्निकर्ष की अनुपपत्ति का प्रतिपादन

मूल— **स्यान्मतम् इन्द्रियादिप्रणाडिकया चैतन्यमेव तेनतेनार्थेनानुरज्यमानं तत्प्रकाशतया तदीयत्वेन व्यवतिष्ठते, अनुरागस्य चागन्तुकतया इन्द्रियाद्यनुविधानं कालावच्छेदस्वापादिव्यवस्था चोपपद्यत इति तदसत् अर्थान्तरसन्निकर्षे अर्थान्तरस्यानुरागासंभवात् चैतन्यमपि तथा निष्क्रम्य सन्निकृष्यत इति चेन्न अमूर्तस्याकाशस्येव निष्क्रमणप्रवेशाद्यनुपपत्तेः, गुणश्च चैतन्यं गुणिनमपहाय कथमन्यतो**

यास्यति, न चार्थोऽन्तः प्रविशति स हि वहिर्देशसंबद्धः सर्वलोक-प्रत्यक्षः । जात्यादिषु चानुपपत्तिस्तुल्यैव ।

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्मतम्० इत्यादि— यदि सिद्धान्ती यह कहें कि इन्द्रिय आदि प्रणाडिका (नाली) के द्वारा ज्ञान ही विभिन्न विषयों से संबद्ध होकर विषयों का प्रकाशक होने के कारण उस विषय विषयक रूप से प्रत्येक वाक्यों के द्वारा व्यवस्थित होता है । **अनुरागस्य० इत्यादि—** विषयों के साथ होने वाला सम्बन्ध चूकि कादाचित्क होता है इन्द्रियों का विषयों के साथ होने वाले अन्वयव्यतिरेक विधि से अनुविधान ज्ञान का विषय के साथ होने वाले सम्बन्ध के निष्पादन में ही उपक्षीण हो जाता है उसी को मैं जानता हूँ, मैंने जाना इस तरह से ज्ञान की काल विशेषावच्छेद रूप से व्यवस्था होती है तथा सुप्त प्रबुद्ध इत्यादि की व्यवस्था हो जाती है । जिस समय ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से विषय के साथ सम्पृक्त नहीं होता है, उस समय सुप्तत्व की प्रतीति होती है और जिस समय वह सम्पृक्त होता है, उस समय प्रबुद्धत्व की प्रतीत तथा व्यवहार होते हैं । अतएव ज्ञान को नित्य मानने पर भी सारी व्यवस्था उपपन्न ही हो जाता है । **तदसत्० इत्यादि—** सिद्धान्ती के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए प्रभाकर मीमांसक कहते हैं **तदसत्० इत्यादि—** सिद्धान्ती का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है । **अर्थान्तर० इत्यादि—** प्रसरण के द्वारा इन्द्रिस का विषय के साथ संबद्ध होने पर भी ज्ञान का विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता है । **चैतन्यमपि० इत्यादि—** यदि कहें कि ज्ञान भी इन्द्रिय के द्वारा निकलकर विषय के साथ सन्निकृष्ट होता है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है । **अमूर्तस्य० इत्यादि—** जिस तरह अमूर्त (स्पर्श रहित) आकाश का न तो निष्क्रमण होता है और न प्रवेश होता है, उसी तरह अमूर्त ज्ञान का भी निष्क्रमण और प्रवेश नहीं हो सकता है । **गुणश्च० इत्यादि—** ज्ञान आत्मा का गुण है वह अपने आश्रय गुणी आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कैसे जा सकता है । यदि कहें कि किसी गौ की मृत्यु हो जाने पर उसमें रहने वाला गोत्वादि जाति उसको छोड़कर दूसरी गौ में चली जाती है, उसी

तरह धर्म भूतज्ञान भी इन्द्रियों के साथ निकलकर विषय के साथ संपृक्त हो जाती है । तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है वह ज्ञान विषय के भीतर भी नहीं प्रवेश करता है अपितु वह विषय के बाहर ही रहता है यह सब लोग देखते हैं । **जात्यादिषु० इत्यादि**— जाति आदि के भी प्रसरण के विषय में ऐसी अनुपपत्ति है । जिस तरह गन्धवान् वस्तु के बिना गन्ध अन्यत्र नहीं जाता है, उसी तरह जाति का भी अपने आश्रय के बिना अन्यत्र जाना असम्भव है ।

ज्ञान आत्मा से भिन्न स्थान में भी रहता है,
इस मत में दोष की उद्भावना

मूल— **अथोच्येत द्वेधा खल्वयं प्रत्यगर्थोऽवतिष्ठते बहलो विरलश्च तत्र बहलः तत्र वहलः प्रत्यकचेतनक्षेत्रज्ञादिपदपर्याय आत्मा विरलस्तु चैतन्यज्ञानादिपदाभिधेयः प्रत्यगर्थतन्त्रतया गुण इत्युपचर्यते तेजोवत्, यथा वहलस्तेजः प्रदीपोऽग्निरिति विरलं तु प्रभा ज्योतिरिति अतो विरलात्मप्रदेशतया चैतन्यस्यालोकस्येव गमनं संयोगादिकमुपपद्यतइति इदमनुपपन्नम् निरवयवस्यामूर्तस्यासङ्गस्यात्मनो वहलविरलादिधर्मानुपपत्तेः, यदि हि सावयवत्वमूर्तत्वानित्यत्वसंसर्गित्वादिकमपि धर्मजातमात्मन्यनुमन्वीमहि तत एवमङ्गीकुर्वीमहि, न च तदनुमन्तुमुचितमचेतनत्वापातादित्यलमनेनार्हतमतानुकार दूषितेनात्मवादेन ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह कहे कि आत्मा दो प्रकार से रहता है बहुल रूप से तथा विरभ रूप से । आत्मा का बहुल रूप वह है जब कि वह शरीर के प्रत्येक अवयवों के साथ संश्लिष्ट होता है । आत्मा का विरल रूप वह है जबकी शरीर के किसी अवयव से उसका संश्लेष होता है और किसी अवयव के साथ संश्लेष नहीं होता है । **तत्र बहुल० इत्यादि**— उसका बहुल आत्मा, प्रत्यक् चेतन, क्षेत्रज्ञ आदि पदों का पर्याय है । **विरलस्तु० इत्यादि**— विरल आत्मा चैतन्य, तथा ज्ञान आदि पदों का पर्याय है । अर्थात् विरल आत्मा को चैतन्य या ज्ञान

आदि पदों से अभिहित किया जाता है । प्रत्यक् आत्मा के परतन्त्र होने के कारण उसके लिए गुण पद का औपचारिक प्रयोग होता है । यह तेज के समान होता है । **यथा बहुलम्० इत्यादि**— जैसे बहुल तेज को प्रदीप या अग्नि पद से कहा जाता है तथा विरल तेज को प्रभा या ज्योति शब्द से अभिहित किया जाता है । **अतोविरला० इत्यादि**— अतएव ज्ञान के विरल आत्म प्रदेश रूप होने के कारण उसका विषय प्रदेश तक गमन तथा उसके साथ इत्यादि भी उपपन्न हो जाता है । उपर्युक्त वादी के कथन का खण्डन करते हुए प्रभाकर मीमांसक कहते हैं **इदमनुपन्नम्** अर्थात् यह कहना सिद्ध नहीं हो सकता है । **निरवया इत्यादि**— क्योंकि आत्मा निरवयव है, अमूर्त है तथा सङ्ग रहित है । इस प्रकार के आत्मा के बहुलत्व तथा विरलत्व आदि धर्म नहीं हो सकते हैं । **यदि सावयत्व० इत्यादि**— यदि आत्मा के सावयव, मूर्त, अनित्य तथा ससर्ग युक्त धर्मोवाला माना जाय तब तो उसके बहुलत्व तथा विरलत्व आदि धर्मों को माना जा सकता है, अन्यथा नहीं । **न च तदनु० इत्यादि**— आत्मा में सावयत्व, मूर्तत्व इत्यादि धर्मों को मानना उचित नहीं है । क्योंकि आत्मा को सावयव इत्यादि मानने पर आत्मा सावय घटादि के ही समान अचेतन सिद्ध हो जायेगा । अतएव इस जैन मत का अनुकरण करने वाले इस मत में दोष प्रदर्शन करने से कोई लाभ नहीं है ।

नित्य तथा सर्वव्यापक ज्ञान से युक्त आत्मा को मानने वालों के मत का खण्डन

मूल— **अथ मतमात्माऽयमनवयवेन सर्वतः सर्वार्थावभासन-समर्थचैतन्यानुबन्धः सर्वव्यापी, अथ च न सर्वमस्य परिस्फुरति तमोगुणप्रतिबन्धात् सत्त्वोत्कटैस्तु करणैः स्वकस्वकपाटवानुसारेण, पाटिते तु तमसि तेतेऽर्थाः प्रतिभासन्ते अताऽन्तरेणापि ज्ञानार्थ-योर्निष्क्रमणः प्रवेशावुपपद्यते एवार्थविशेषोपरागः संविद इति, एवमप्यथर्थातिशयमात्रहेतुत्वादिन्द्रियलिंगादेर्ज्ञानस्येव ज्ञापकत्वं न**

स्याज्ज्ञानहेतुत्वाभावात्, न चाथ प्रकाशस्य ज्ञानत्वं प्रकाशमानतयाऽर्थ स्यापि ज्ञातृत्वप्रसङ्गात् यदाहुः आत्मधर्मस्य चैतन्यस्य विषयेण संयोगो ज्ञानमित्युच्यत इति, तत्रापि संयोगस्योभयनिष्ठतया स एव प्रसङ्गोऽनुभवविरोधश्च, अहमिमिदानीं जानामि नेदानीमित्यात्मसमवायिनोरेव ज्ञानभावाभावयोरनुभवात्, अविकृतप्रकाशहेतुकिरणसंहतावप्यहिममहसि प्रकाशकत्वप्रख्योपाख्यानवदुपपद्यत इति मा वोचः तव हि गभस्तीनां द्रव्यतयाऽऽकुञ्चनप्रसारणद्रव्यान्तरसंयोगविभागादेः संभवादुपपद्यते व्यवस्थोपलब्धिः चैतन्यं तु गुण इति न तथा व्यवस्थामर्हति ।

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्मतम्० इत्यादि— यदि कोई वादी यह कहे कि आत्मा निरवयव होने के कारण पूर्ण रूप से सभी विषयों का प्रकाशन करने में समर्थ ज्ञान से युक्त होने के कारण सर्वव्यापक है । ऐसा होने पर भी विषयों का सर्वदाज्ञान इसलिए नहीं प्रकाशित है कि उन सबों का ज्ञान तमोगुण से प्रतिबद्ध होता है । **सत्त्वोत्कटै० इत्यादि—** जिन इन्द्रियों का सत्त्वगुण उद्रिक्त होता है वे सब तो अपनी-अपनी पटुता के अनुसार अज्ञानान्धकार को निरस्त करके विभिन्न विषयों को प्रकाशित करती ही हैं । अतएव ज्ञान तथा विषय के बिना भी इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान का निष्क्रमण तथा प्रवेश उपपन्न हो ही जाते हैं । इस तरह विषय विशेष के साथ ज्ञान का सम्बन्ध हो जाता है । **एवमपि० इत्यादि—** ऐसा मानने पर भी इन्द्रिय रूपी हेतु उसी प्रकार से विषयो के प्रकाश स्वरूप अतिशय मात्र का हेतु होती हैं जिस तरह ज्ञान विषयो के प्रकाश का हेतु होता है । इन्द्रियाँ ज्ञान के समान ज्ञापक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि वे ज्ञान का हेतु नहीं हैं । **न चार्थ प्रकाशस्य० इत्यादि—** विषयों के प्रकाश को ज्ञान नहीं माना जा सकता है । **प्रकाशमानतया० इत्यादि—** क्योंकि प्रकाश को ज्ञान मानने पर उसके आश्रय भूत घट आदि को ही ज्ञाता मानने का प्रसङ्ग होगा । क्योंकि जो ज्ञान का आश्रय होता है उसी को ज्ञाता कहते हैं ।

यदाहुः इत्यादि— यह जो कहा गया है कि आत्मा के धर्मभूत चैतन्य के विषय के साथ होने वाले संयोग को ज्ञान कहा जाता है । **तत्रापि० इत्यादि**— वहाँ भी वही प्रसङ्ग होगा, क्योंकि संयोग द्विष्ठ होता है । अतएव चैतन्य संयोग को ज्ञान मानने पर उसके भी आश्रय घटादि को ज्ञाता मानने का प्रसङ्ग होगा । **अनुभव० इत्यादि**— मैं इसको इस समय जानता हूँ, इस समय नहीं जानता हूँ, इस तरह आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले ज्ञान के सद्भाव तथा अभाव का अनुभव होता है । **अविकृत० इत्यादि**— यदि कहें कि सर्वदा सभी विषयों के प्रकाश करने में समर्थ सूर्य के रहने पर इस समय यह प्रकाशित हो रहा है, उस समय नहीं इस तरह से जैसे कदाचित्क प्रकाशकत्व का व्यवहार तथा प्रतीति होती है उसी तरह नित्य ज्ञान वान आत्मा के भी विषय में कदाचित्क प्रकाशकत्व की प्रतीति और व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता है । **तत्र हि० इत्यादि**— सूर्य की किरणों के द्रव्य होने के कारण उनमें सङ्कोच विकास हो सकता है कि ज्ञान तो गुण है अतएव उसमें सङ्कोच विकास का होना सम्भव नहीं है अतएव उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती है ।

ज्ञान की अनित्यता का प्रतिपादन

मूल— **अथोच्यतेत द्विधा हि ज्ञानमात्मनः स्वस्मिन्नन्यत्र च तत्राद्यमुदयास्तमयरहितमात्मस्वरूपप्रयुक्तमनवरतमनुवर्तते इतरत्तु तत्तदर्थसंबन्धीन्द्रियाद्यागन्तुकहेतुभेदायत्तात्मलाभं तद्भावाभावानु-विधायितत्तदर्थप्रकाशतयोदीयते लीयते च, तदपेक्षयैव स्वापजागरा-द्यवस्थाव्यवस्थापि संगंस्यत इत्युच्यते अभ्युपगच्छेमाप्येवं यदि नित्यमात्मनि ज्ञानमस्तीत्यत्र किमपि साधनमुपलभेमहि ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अथोच्येत० इत्यादि— यदि कोई यह कहे कि आत्मा का ज्ञान दो प्रकार का होता है । एक ज्ञान तो आत्मा में ही रहता है और दूसरा ज्ञान आत्मा से भिन्न विषयों में रहता है **तत्राद्यम्० इत्यादि**— उन दोनों ज्ञानों में से पहला ज्ञान नित्य, आत्मस्वरूप मात्र

विषयक होता है । वह निरन्तर अनुवर्तित होते रहता है । **इतरत० तु इत्यादि**— दूसरा जो ज्ञान होता है वह विभिन्न विषय सम्बन्ध इन्द्रिय आदि कादाचित्क हेतुओं के अधीन ही उसकी सत्ता होती है । वह विभिन्न विषयों के सद्भाव तथा अभाव का अनुसरण करने वाला होता है । विषयों का सद्भाव रहने पर वह विषयों के प्रकाश रूप से उत्पन्न होता है तथा विषयों का अभाव होने पर वह ज्ञान विनष्ट हो जाता है । वह ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य होने के कारण होता है । जिस समय विषयों का ज्ञान नहीं होता है उस अवस्था को स्वापावस्था कहते हैं और जिस विषयों का ज्ञान रहता है उस अवस्था को जागरावस्था कहते हैं । उपर्युक्त कथन का विरोध करते हुए कहते हैं **उच्यते इत्यादि**— आपकी बात तो तब स्वीकार की जा सकती थी जबकि आत्मा में नित्य ज्ञान है, इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध होता किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है अतएव आत्मा में नित्य ज्ञान को नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

मूल— **ननु अङ्गीकृतस्तावज्जाग्रदवस्थायां सर्वदाऽऽत्मानुभवः स्वापादिषु चानुमीयत तात्कालिकस्व विषयज्ञानाभावस्योत्तरोत्तरकालं परामृश्यमानत्वात् यत्कालीनो भावः परामृश्यते तत्कालीनेन तदाश्रयस्वरूपज्ञानेनापि हि भाव्यं मध्यान्हकालपरामृश्यमान इव प्रातःसमयपरिदृष्टतटाकतीरादिवृत्तिनिकुंजराद्यभावे यत्कालीनाभावाश्रयतया यः परामृश्यते सः तत्कालीनस्वरूपानुभववान् यथा प्रारनुभूतटाकतीरादि स्वापादिकालिकार्थानुभवाभावाश्रयतया चायमात्मा परामृश्यते, अतस्तात्कालिकस्वरूपानुभववानिति, मैवम् अनैकान्त्यात् प्रातस्तत्र नाहमासमिति स्वाभावभूमितया प्रतीतेन प्रातरनवगतगिरितटाकादिना अभावप्रतिपत्तिसमये प्रतिपित्सिताभावसमकालवर्तिनस्तदाश्रयस्वरूपस्य अवगत्या विद्यमानत्वे तत्कालतयाऽवगमप्राप्तस्य प्रतियोगिनोऽनवगत्या च भवितव्यमभावज्ञानस्येत्येतावत् अन्तरेणापि स्वापकालीनमात्मानुभवमिह**

तदुभयमुपपद्यते प्रत्यभिज्ञयैव प्रबोधे स्वरूपसिद्धेः जाग्रदनुभवस्येव पटीयसः स्वापेऽपि सतोऽनुभवस्य स्मर्तव्यस्य सतस्तदानीमस्मरणाच्च।

तत्त्वप्रकाशिका— ननु० इत्यादि— यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यह स्वीकार किया जाता है कि ज्राग्रदावस्था में सर्वदा आत्मा का प्रकाश होता रहता है । **स्वापादिषु० इत्यादि—** स्वापादिशाओं में भी आत्मानुभव का अनुमान किया जाता है । किन्तु उन कालों विषयों का ज्ञान नहीं रहता है इस बात की सिद्धि स्वाप के बाद दूसरे दिन परामर्श होने के कारण होता है । **यत्कालीन० इत्यादि—** जिस काल में जल के अभाव का परामर्श किया जाता है उस समय में उसके आश्रयभूत ज्ञान को भी अवश्य होना चाहिए । प्रात:काल में देखे गये सरोवर के तट पर देखे गये हाथी आदि के अभाव रूप से अनुसंधान किए जाने वाले प्रात:काल में दृष्टतटा के तीर आदि के समान ।

इस सम्पूर्ण अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है आत्मा स्वापकाल में होने वाले स्वरूप के प्रकाश से युक्त है, क्योंकि उसका अनुसन्धान स्वाप काल में होने वाले ज्ञान के अभाव के आश्रय स्वरूप से होता है। जो जिस काल में होने वाले अभाव के आश्रय रूप से अनुसंहित होता है वह उस काल में होने वाले अनुभव का विषय होता है । जैसे प्रात: में गजादि के अभाव से युक्त अनुसंहित होने वाले प्रात:काल में देखे गये तटाक के तीर आदि । इस सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय है कि स्वाप काम में होने वाला आत्मा का प्रकाश ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है । अतएव यही मानना चाहिए कि स्वाप काल में ज्ञान आत्म विषयक ही होता है । वह ज्ञान नित्य है क्योंकि वह इन्द्रिय जन्य नहीं हैं ।

स्वापादिकालिक० इत्यादि— स्वापादि कालों में विषयों के अनुभव के अभाव के आश्रय रूप से इस आत्मा का परामर्श किया जाता है । **अतः इत्यादि—** अतएव सिद्ध होता है कि आत्मा अपने स्वरूप के अनुभव से युक्त होता है । पूर्वपक्षी के इस कथन का खण्डन करते हुए ज्ञानानित्यवादी कहता है **मैषम्० इत्यादि—** इस तरह से नहीं कहा जा

सकता है, क्योंकि उपर्युक्त कथन व्यभिचार ग्रस्त है । प्रात:काल में वहाँ नहीं था इस तरह स्वाभाविक रूप से प्रतीत होने वाले प्रात:काल में अज्ञात पर्वत तथा तयक (सरोवर) इत्यादि के द्वारा उपर्युक्त कथन का व्यभिचार होता है । यदि कोई कहे कि उस काल में होने वाले अभाव के आश्रय रूप से प्रतीति हुए बिना उस काल में अभाव के आश्रय रूप से आत्मा का अनुसन्धान कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है **अभाव प्रतिपति समपे० इत्यादि—** अर्थात् जिस समय में जिसका जिसके अभाव से युक्त रूप से अनुसन्धान होता है उसका पुनः अनुसन्धान करने के लिए उसके उस काल में रहना अपेक्षित होता है । प्रतीति का तो अभाव के समय ही होना अपेक्षित होता है और उस समय उसके वर्तमान रहना रूपरूप से प्रतीति के योग्य विषय के अभाव की प्रतीति के समय उस तरह से प्रतीति अपेक्षित होती हैं । जिस काल में होने वाले अभाव का परामर्श किया जाता है उस समय उस आश्रय की प्रतीति का होना अपेक्षित नहीं होता है । **अन्तरेणापि० इत्यादि—** स्वाप काल में आत्मा का अनुभव नहीं होने पर भी स्वाप काल में आत्मा की स्थिति का जगने पर ज्ञान तथा विषय के ज्ञान का स्वाप कालिक रूप से स्मरण ये दोनों उपपन्न हो जाते हैं । मैं सुख पूर्वक सोया इत्यादि रूप से होने वाली प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही स्वाप कालिक आत्मा के स्वरूप का जगने पर ज्ञान होता है । जाग्रत कालीन अनुभव के समान यदि स्वाप कालीन भी अनुभव स्पष्ट प्रकाश वाला होता तो जगने पर उसका भी स्मरण होता । चूकि उसका स्मरण नहीं होता है इससे स्पष्ट है कि उस समय आत्मा का प्रकाश नहीं होता । इसीलिए उसका स्मरण नहीं होता है ।

मूल— **सुखमहमस्वाप्समित्यादिवृत्तयश्च तात्कालिकदेहेन्द्रिय-लाघवपाटवादिपर्यालोचनपूर्विकाः न स्मृतयः जातिवेषसंस्थानादिष्विव तेऽपि हि परामृश्यन्ते एवंजातीयोऽहमीदृशेन वेषेणानेन संस्थानेनात्र इयन्तं कालमस्वाप्समिति । अपि च स्मृतित्वेऽपि जाग्रदवस्थायामिव निद्रालक्षणया प्रमाणविपर्ययादिवृत्त्यभावकारणतमोगुणालम्बनया**

प्रतीत्या तत्कालप्रसिद्धस्यात्मनः स्मरणं न तु सहजसंवेदनसिद्धस्य स्वप्रकाशस्य वा प्रमाणाभावात् निद्रापि प्रमाणविपर्ययादिवद्-वृत्तिविशेष इति तत्र भवान् पतंजलिः यदाह अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा इति प्रयोगश्च विमत्याक्रान्ताऽऽत्मस्वरूपसिद्धिः विषयानु-भवनिबन्धना आत्मस्वरूपसिद्धित्वात् जाग्रतस्तत्सिद्धिवत् इति तथाऽऽगन्तुकं ज्ञानम् आत्मविशेषगुणत्वात् सुखादिवत् न च सुखदुःखादयो नात्मगुणाः अप्रसिद्धाश्रयान्तरत्वे सत्यहंप्रत्यय-सामानाधिकारण्येन प्रकाशमानत्वात् ज्ञानवदिति ।

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई कहे कि यदि स्वापकाल में सुखी रूप से आत्मा की प्रतीति नहीं होती तो मैं सुख पूर्वक सोया इस तरह से उसका प्रतिसन्धान नहीं होता चूकि इस तरह से आत्मा का अनुसन्धान होता है अतएव सिद्ध होता है कि स्वापकाल में भी आत्मा का अनुभव होता है तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि **सुखमहमस्वाप्सम्० इत्यादि**— मैं सुख पूर्वक सोया इस प्रकार से होने वाली प्रतीतियाँ प्रबोध काल में देह तथा इन्द्रिय आदि के हल्कापन तथा उन सबों की पटुता आदि के पर्यालोचन स्वरूप हैं वे स्मृति स्वरूप नहीं है । **जातिवेष० इत्यादि**— जिस तरह जगने पर जाति, वेष तथा अङ्गों का परामर्श होता है उसी तरह तथा इन्द्रिय आदि का भी परामर्श होता है । जगने पर मनुष्य यह परामर्श करता है । मेरी यह जाति है, इस तरह का वेष धारण किए हुए मैं इतने समय तक सुख पूर्वक सोता रहा यह वह परामर्श करता है । **अपि च० इत्यादि**— किञ्च यदि उस प्रतीति को स्मरण भी मान लिया जाय तो भी चूकि स्वाप काल में आत्मा ज्ञान के साक्षी रूप से रहता है अतएव वह प्रतीति आत्म स्वरूप के कारण नहीं होती है अपितु स्वाप काल में जाग्रदावस्था के समान विपरीत प्रमाण में रहने वाली अभाव के कारणभूत तमोगुण को अपना आश्रय बनाने वाली निद्रा की प्रतीति के द्वारा उस समय अप्रसिद्ध आत्मा का ही स्मरण हो सकता है । वह स्वाभाविक ज्ञान से प्रकाशित होने वाले स्वयम् प्रकाश आत्मा का स्मरण नहीं हो सकता है । क्योंकि इस कथन में कोई भी

प्रमाण नहीं है । कहने का अभिप्राय यह है कि मैं सुख पूर्वक सोया; यह प्रतीति स्वाप काल में होने वाले अज्ञान विषयक अनुभव के कारण उससे आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है और न तो यही सिद्ध हो सकता है कि आत्मा में नित्य ज्ञान रहता है ।

यदि कहें कि स्वापकाल में ज्ञान विरोधी तमोगुण की स्थिति मानने पर व्यापकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि वृत्ति सामान्य के अभाव को ही स्वभाव कहते हैं । तो इस पर कहते हैं **निद्रापि० इत्यादि**— अर्थात् निद्रा भी प्रमाण विपर्यय में रहने वाली एक प्रकार की वृत्ति है। महर्षि पतञ्जलि ने योग सूत्र में कहा भी है **अभाव० इत्यादि**— अभाव ज्ञान को अपना विषय बनाने वाले वृत्ति का नाम निद्रा है । अत: चूकि तमोगुण में रहने वाली वृत्ति को ही निद्रा कहा जाता है अतएव आत्मा में रहने वाले तमोगुण से भिन्न ही विषयों के ज्ञान के अभाव को स्वाप कहना चाहिए । यहाँ पर इस प्रकार का अनुमान अभिप्रेत है विवादास्पद आत्मा के स्वरूप का ज्ञान विषय ज्ञान पूर्वक ही होता है, क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है; जाग्रत काल में होने वाले आत्मा के स्वरूप की प्रतीति के समान । **तथा आगन्तुम्० इत्यादि**— आत्मा का ज्ञान आगन्तुक (कादाचित्क) है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है, सुख के समान । सुख दु:ख आत्मा के गुण नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सुख दु:खादि का कोई भी दूसरा आश्रय प्रसिद्ध नहीं है तथा सुख दुखादि की 'मैं' 'मैं' इस तरह से प्रतीत होने वाले आत्मा के समानाधिकरण्य रूप से प्रतीति होती है ज्ञान के समान ।

इस तरह स्पष्ट हो गया कि आत्मा का धर्मभूत ज्ञान अनित्य है ।

सिद्धान्ती द्वारा आत्मा और उसके ज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन

मूल—

अत्राहुरात्मतत्त्वज्ञाः स्वतश्चैतन्यमात्मनः ।
स्वरूपापाधिधर्मत्वात्प्रकाश इव तेजसः ॥२४॥
चैतन्याश्रयतां मुत्तवा स्वरूपं नान्यदात्मनः ।
यद्धि चैतन्यरहितं न तदात्मा घटादिवत् ॥२५॥

चितिशक्तया न चात्मत्वमुक्तौ नाशप्रसङ्गतः ।
बोधेनैवान्यतो भेदे व्यर्था तच्छक्तिकल्पना ॥२६॥

तत्त्वप्रकाशिका— पूर्वपक्षी द्वारा आत्मा के धर्मभूत ज्ञान के अनित्यत्व का प्रतिपादन किए जाने पर सिद्धान्ती कहते हैं **अत्राहु० इत्यादि**— आत्म तत्त्व के जानकार पुरुषों ने कहा है । आत्मा का ज्ञान स्वरूप प्रयुक्त है । आत्मा चूकि नित्य है अतएव आत्मा का ज्ञान भी नित्य है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप निरूपक धर्म है अतएव ज्ञान के बिना आत्मा का स्वरूप उसी तरह से नहीं व्यवस्थित हो सकता है जिस तरह प्रकाश के बिना कभी तेज नहीं रहता है ॥२४॥

चैतन्याश्रयताम्० इत्यादि— चैतन्याश्रयत्व को छोड़कर आत्मा का कोई दूसरा लक्षण नहीं हो सकता है । जो-जो चैतन्य से रहित होता है, वह-वह उसी तरह से आत्मा नहीं हो सकता है जिस तरह ज्ञान रहित घट आदि आत्मा नहीं है ॥२५॥

चितिशक्त्या इत्यादि— यदि कोई यह कहे कि मुक्तिकाल में आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है अपितु उस समय उसमें ज्ञान शक्ति रहती है । तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है यदि मुक्त जीव ज्ञान शक्ति मान होता तो फिर उसको कभी ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है । किन्तु मुक्ति में कभी भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, अतएव ऐसा मानने पर यही मानना होगा कि मुक्ति में ज्ञान शक्ति भी नष्ट हो जाती है इस तरह प्रकाशान्तर से यह कल्पना आत्मा नाश की ही प्रतिज्ञा स्वरूपिणी होगी। क्योंकि स्वरूप निरूपक धर्म की निवृत्ति हो जाने पर स्वरूप की भी निवृत्ति अवश्य होगी । यदि कोई कहे कि ज्ञान अथवा ज्ञान शक्ति दोनों में से कोई भी आत्मा का स्वरूप निरूपक नहीं है अतएव आगन्तुक भी ज्ञान आत्मा का ही धर्मभूत है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आत्मा का अनात्माओं ज्ञानवत्व को ही लेकर भेद होता है अतएव आत्मा में ज्ञान की शक्ति की कल्पना निरर्थक है ॥२६॥

मूल— **बुद्धिसुखदुःखादिनिःशेष वैशेषिकात्मगुणात्यन्तिकोपरमलक्षणो हि मोक्षः कणभक्षाक्षचरणमते न चात्यन्तलुप्तकार्यं वस्तु**

तत्कार्यजननशक्तमित्यत्र किं चित्प्रमाणं क्रमते, देहादिविशिष्ट-संबन्धितया दृश्यमानसुखदुःखज्ञानादिकार्यं विशिष्टवर्तिनीमेवात्मोत्पादशक्तिं कल्पयति धूम इवार्द्रेन्धनसंबन्धिनि धूमध्वजे स्वोत्पादनसामर्थ्यं ब्रीह्यंकुर इव च सतुषतण्डुले, अपि च बोधे सत्येवात्मनो नात्मव्यवच्छेदे संभवति कृतं तच्छत्तयाश्रयणेन ।

तत्त्वप्रकाशिका— नैयायिकों तथा वैशेषिकों के मत में स्वीकार किया जाता है कि आत्मा के बुद्धि, सुख दुःख आदि समस्त विशेष गुणों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष कहलाता है । **न चात्यन्त० इत्यादि**— जिस वस्तु के कार्य का आत्यन्तिक विनाश हो गया हो फिर भी वह वस्तु कार्य उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त हों, इस तरह के कथन कोई भी प्रमाण नहीं हो सकता है । **देहादि० इत्यादि**— यह देखा जाता है कि देह आदि से विशिष्ट ही आत्मा में सुख दुःख इत्यादि कार्य उत्पन्न होते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि विशिष्ट ही आत्मा में उत्पादन की शक्ति होती है । **धूमइव० इत्यादि**— यह उसी तरह से होता है जिस तरह आर्द्रेन्धन से विशिष्ट ही अग्नि में धूम उत्पन्न होता है । तथा भूसी से युक्त ही तण्डुल में धान के अङ्कुर को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है । इसी तरह ज्ञान विशिष्टा ही आत्मा का अनात्माओं से भेद होता है। इसीलिए मुक्तावस्था में आत्मा में ज्ञान की शक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है ।

मूल— **न चैवं सति बोधएव परमात्मेति युक्तं तस्याश्रयप्रतियोगिसापेक्षस्वरूपत्वात् आत्मनश्च तद्विपरीतस्वभावत्वात् साक्षाच्च चेतयितुरहमर्थस्य स्फुरणादनुभवतर्कागमबलेन चितिमत आत्मभावस्यानन्तरमेव प्रपञ्चितत्वाच्च न च चितिमात्रात्मवादेऽपि तस्यागन्तुविषयसंबन्धे बोधत्वमध्यारोप्य बोद्धृत्वसमर्थनं साधीयः संबन्धस्योभयनिष्ठतयाऽर्थस्यापि बोद्धृत्वप्रसङ्गात न च कार्यकारणभाववद्-व्यवस्थितत्वं तत्र जनिमतोजनयितुश्च परस्परापेक्षानियमलक्षणसंबन्धः इहापि स एवेति चेन्न अपेक्षाहेत्वभावातकिमर्थमर्थश्चैतन्यमपेक्षते**

चैतन्यं वाऽर्थं, सिद्ध्यर्थमिति चेत् कः सिद्ध्यर्थः न तावदुत्पत्तिः तस्या निर्ज्ञातनिमितान्तरत्वात् घटादयो हि प्रसिद्धमृद्दण्डचक्रभ्रमणादिपर्याप्तनिमित्तान्तरशालिनो न चितिमपि निजजननेऽपेक्षन्ते निरस्तश्च विज्ञानमात्रवादः नित्यस्यात्मन उत्पत्त्यर्थमर्थापेक्षेति सुव्याहृतम् । सिद्धिः प्रकाशइति चेत् किं भोआत्मा स्वयं ज्योतिरप्यर्थाधीनप्रकाशः यदसौ तदर्थमर्थमपेक्षते महनीयमिदमात्मवेदित्वं, प्रकाशश्च न सविदतिरेकी कश्चिदर्थधर्मः संभवतीत्यावेदितं, संभवन्नप्यसौ न चितिस्वरूपमात्रनिमित्तः सर्वदा सर्वार्थप्रकाशप्रसङ्गात् न हि सदा सन्निहितसमग्रकारणं कार्यं कदाचिद्भवति आगन्तुका तशयाश्रयणे वा नामान्तरेण ज्ञानमेवांगीकृतमिति तद्वानेवात्मा आयातः ।

तत्त्वप्रकाशिका— न चैवं सति० इत्यादि— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि तब तो ज्ञान को ही आत्मा मानना ठीक है क्योंकि ज्ञान अपने आश्रय और विषय की अपेक्षा रखता है और आत्मा को अपने आश्रय की अपेक्षा नहीं होती है । वह स्वतंत्र होता है । यदि कहें कि ज्ञान को आत्मा मान लेने में लाघव है तो ऐसा बात नहीं है। जहाँ कल्पना की जाती है वहीं ही लाघव और गौर का विचार किया जाता है । स्पष्ट रूप से ज्ञाता प्रतीत होने वाले आत्मा के विषय में गौरव तथा लाघव के विचार का कोई भी अवसर नहीं है । **साक्षच्च० इत्यादि—** आत्मा की ज्ञाता रूप से साक्षात् प्रतीति होती है । **अनुभव० इत्यादि—** यदि कोई यह कहे कि मैं जानता हूँ इस रूप से होने वाली प्रतीति भ्रमात्मिका है । तो इसका उत्तर है कि इसके ठीक पश्चात् यह विचार किया जायेगा कि अनुभव तर्क तथा आगम के द्वारा यही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानवान् है । अतएव इस प्रतीति को भ्रमात्मिका नहीं कहा जा सकता है । **न च चितिमात्रा० इत्यादि—** ज्ञान मात्र को ही आत्मा मानने वालों के मत में भी जब ज्ञानात्मा का आगन्तुक विषय सम्बन्ध होने पर उसमें ज्ञानत्व का आरोप करके ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करना ही अधिक श्रेष्ठ है तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि संब जो होता है वह द्विष्ठ होता है अतएव ज्ञान मात्र को आत्मा मानने

पर ज्ञान के ही समान विषय में भी ज्ञातृत्व का प्रसङ्ग होगा । **न च कार्य० इत्यादि**— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस तरह कार्य तथा कारण में हेतु मद् रूप से दोनों का निरूपण किये जाने पर भी यह कारण है तथा यह इसका कार्य है, इस तरह हेतु हेतु मद्भाव की व्यवस्था की जाती है, उसी तरह ज्ञान तथा विषय का सम्बन्ध होने पर उस सम्बन्ध का विषय तथा विषयी रूप से निरूप्य होने पर भी ज्ञाता तथा ज्ञेय की व्यवस्था हो जायेगी । क्योंकि तथा कार्य में परस्पर में एक को दूसरे की अपेक्षा नियम रूप सम्बन्ध होता है । **इहापि० इत्यादि**— यदि कहें कि यहाँ पर भी वही स्वीकार कर लेना चाहिए तो यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि यहाँ पर ज्ञान तथा विषय सम्बन्ध में एक ही सम्बन्ध दोनों ज्ञान और विषय में समचाय सम्बन्ध से रहता है । अतएव यहाँ अपेक्षा रूपी हेतु का अभाव है । **किमर्थः इत्यादि**— यहाँ प्रश्न होता है कि विषय ज्ञान की अपेक्षा करता है ? अथवा चैतन्य किसलिए विषय की अपेक्षा करता है ? **सिद्ध्यर्थमित्यादि**— यदि कहें कि सिद्धि के लिए तो फिर प्रश्न होता है कि सिद्धि पदार्थ क्या है ? सिद्धि को उत्पत्ति इसलिए नहीं कह सकते हैं कि विषय की उत्पत्ति का कोई भी दूसरा कारण ज्ञान नहीं है । **घटादयो० इत्यादि**— देखा जाता है कि घट इत्यादि के मृत पिण्ड, दण्ड, चक्रा, चीवर तथा भ्रमण आदि पर्याप्त कारण हैं, अतएव वे अपने उत्पत्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते हैं । इस तरह स्पष्ट है कि विषय की उत्पत्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है । ज्ञानमात्र आत्मवाद का खण्डन भी किया जा चुका है । **नित्यस्य० इत्यादि**— यदि कहें कि नित्य ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए विषय की अपेक्षा रखता है तो इस तरह से कहना तो अत्यन्त व्याहत है ।

सिद्धिःप्रकाश इत्यादि— यदि कहें कि प्रकाश ही सिद्धि पदार्थ है तो प्रश्न होता है क्या आपके अभिमत स्वयम्प्रकाश आत्मा का प्रकाश विषय के द्वारा होता है ? कि वह अपने प्रकाश के लिए विषय की अपेक्षा करता है ? आपका यह आत्मज्ञान बड़ा ही अच्छा है । अर्थात्

आपको आत्मा का बिल्कुल ज्ञान नहीं है । **प्रकाशश्च० इत्यादि**— यह पहले कहा जा चुका है कि प्रकाश भी ज्ञान से भिन्न किसी विषय का धर्म नहीं हो सकता है । वास्तविकता है कि ज्ञान ही प्रकाश कहलाता हैं । यदि उसके लिए संवित की अपेक्षा मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि प्रकाश को संवित् से अतिरिक्त माने तो भी उसका कारण ज्ञान स्वरूप मात्र नहीं हो सकता है । क्योंकि विषय प्रकाश को केवल चैतन्य की अपेक्षा होने पर विषय के प्रकाशत्व भी नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा फलत: उसके सदैव सभी विषयों के प्रकाश का प्रसङ्ग होगा । **नहि इत्यादि**— कभी भी कार्य सब सभी कारणों से युक्त नहीं होता है । **आगन्तुक० इत्यादि**— यदि आगन्तुक धर्म के समान ज्ञान की अपेक्षा मानें तब तो आपने ज्ञान का ही नाम बदलकर उसे स्वीकार कर लिया। इस तरह सिद्ध होता है ज्ञानवान् ही आत्मा होता है । वह ज्ञान भी आत्मा के समान नित्य है ।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है सिद्धान्ती द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन

मूल— **तन्वेवमर्थ सिद्धिव्यवस्थापकतयाऽभ्युपगतं ज्ञानमागन्तुकं क्रियारूपमिति कथं तदात्मस्वभावः तथा हि अर्थान्तरगतत्वे सति जनकद्रव्यान्तारं प्रति कार्यत्वादि केन रूपेणासाधारणा गन्तव्यदेशाप्राप्त्यादिर्यं प्रत्यसाधारणस्तत्समवेतागन्तुकासाधार-णगमनादिक्रियाजन्यो दृष्टस्तादृशी चार्थसिद्धिर्यं पुरुषं प्रत्यसाधारणी तत्समवेततादृशक्रियाजन्येति शक्यमनुमातुम् । मैवम् अक्रियाजन्येना-भावप्राप्तक्षेत्रादिस्वत्वेन क्षेत्रिणं प्रत्यसाधारणेन क्षेत्रजब्रीह्यादिस्वत्वेन चानैकान्त्यात्, न च निर्व्यापारतया क्षेत्रिणस्तत्राजनकत्वं व्यापार-कालादिना व्यभिचारात् तद्भावभावित्वस्य चाविशेषात् तज्जीवनमेव तत्र जनकव्यापार इति चेत् ननु तच्छस्यपालनादिसाधारणमिति कथमसाधारणक्रियाजन्यत्वम् अपि चैवं सति तदेवार्थ प्रकाशेऽपि जनकव्यापारोऽस्तु किमक्लृप्तकल्पनया सत्यपि तस्मिन्नर्थो न प्रकाशत इति चेत् स्वत्वं वा किं यथोदितं सति चेतयितुरहमर्थस्य**

स्फुरणादनुभवतर्कागमबलेन चितिमत आत्मभावस्यानन्तरमेव प्रपञ्चितत्वाच्च न च चितिमात्रात्मवादेऽपि तस्यागन्तुकविषयसंबन्धे बोधत्वमध्यारोप्य बोद्धृत्वसमर्थनं साधीयः संबन्धस्योभयनिष्ठतयाऽर्थस्यापि बोद्धृत्वप्रसङ्गात् न च कार्यकारणभाववद्व्यवस्थितत्वं तत्र जनिमतोजनयितुश्च परस्परापेक्षानियमलक्षणसंबन्धः इहापि स एवेति चेन्न अपेक्षाहेत्वभावात्किमर्थमर्थश्चैतन्यमपेक्षतै चैतन्यं वाऽर्थं, सिद्ध्यर्थमिति चेत् कः सिद्ध्यर्थः न तावदुत्पत्तिः तस्या निर्ज्ञातनिमितान्तरत्वात् घटादयो हि प्रसिद्धमृद्दण्डचक्रभ्रमणादिपर्याप्तनिमित्तान्तरशालिनो न चितिमपि निजजननेऽपेक्षन्ते निरस्तश्च विज्ञानमात्रवादः नित्यस्यात्मन उत्पत्त्यर्थमर्थापेक्षेति सुव्याहृतम् । सिद्धिः प्रकाश इति चेत् कि भोआत्मा स्वयं ज्योतिरप्यर्थाधीनप्रकाशः यदसौ तदर्थमर्थमपेक्षते महनीयमिदमात्मवेदित्वं, प्रकाशश्च न संविदतिरेकी कश्चिदर्थधर्मः संभवतीत्यावेदितं, संभवन्नप्यसौ न चितिस्वरूपमात्रनिमित्तः सर्वदा सर्वार्थप्रकाशप्रसङ्गात्, न हि सदा सन्निहितसमग्रकारणं कार्यं कदाचिद्भवति आगन्तुका तशयाश्रयणे वा नामान्तरेण ज्ञानमेवाङ्गीकृतमिति तद्वानेवात्मा आयातः ।

तत्त्वप्रकाशिका— यहाँ पर कोई यह शङ्का कर सकता है कि इस तरह तो आत्मा के ज्ञान स्वरूपत्व तथा ज्ञान स्वभावत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अनित्यज्ञान नित्य आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता है । ज्ञान को अनित्य इसलिए मानना चाहिए कि विषयों के प्रकाश की कादाचित्कता की सिद्धि हो सके । इसी का प्रतिपादन करते हुए पूर्वपक्षी शङ्का करता है । **नन्वेवम्० इत्यादि**— अर्थात् इस प्रकार से विषय के प्रकाश के प्रकाशक रूप से स्वीकृत ज्ञान को आगन्तुक (अनित्य) तथा कार्य रूप मानना चाहिए । अतएव वह नित्य आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है ? ज्ञान के आगन्तुकत्व तथा क्रिया रूपत्व की सिद्धि के लिए कहते हैं । **तथाहि इत्यादि**— लोक में यह देखा जाता है कि ग्रामादि में होने वाले गमन करने वाले के प्रति कार्य रूप

से असाधारण गन्तव्य ग्रामादि की प्राप्ति होती है । वे जिसके प्रति असाधारण होते हैं उसमें समवाय सम्बन्ध से आगन्तुक तथा असाधारण क्रिया जन्य होते हैं । उस प्रकार का विषय का प्रकाश जिस पुरुष के प्रति असाधारण रूप से होता है, वह उस पुरुष में समवाय सम्बन्ध से होने वाली उस प्रकार की क्रिया से उत्पन्न होती है, इस प्रकार से अनुमान किया जा सकता है । अर्थात् ज्ञेय विषय में होने वाला प्रकाश विभिन्न पुरुषों के प्रति आसाधारण उन पुरुषों की आगन्तुक ज्ञान क्रिया जन्य ही होती है । तो इसका खण्डन करते हुए कहा जाता है । **मैवम्** अर्थात् ऐसा नहीं कहा जा सकता है । **अक्रियाजन्य० इत्यादि**— कुल परम्परा से प्राप्त क्षेत्र आदि में जिसको जन्म से ही स्वत्व प्राप्त हैं वहाँ पर देखा जाता है कि उस स्वामी का उस क्षेत्र के स्वत्व में उस स्वामी की क्रिया जन्यता नहीं होती है जाति उक्त व्यक्ति व्यभिचरित है । इसी तरह से किसी दूसरे का बीज यदि दूसरे के खेत में पड़कर बढ़ जाता है, तो उस क्षेत्र में जो, अन्न उत्पन्न होता है उसके स्वत्व में उस क्षेत्रपति का कोई भी स्वासाधारण क्रिया जन्यत्व नहीं देखा जाता है । अतएव उपर्युक्त व्याप्ति व्यभिचरित है । **न च निर्व्यापार० इत्यादि**— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि चूकि क्षेत्रपति का कोई व्यापार नहीं होता है अतएव उस अन्न की उत्पत्ति में उसकी जनकता नहीं है । **व्यापारकाल० इत्यादि**— क्योंकि देखा जाता है कि निर्व्यापार भी व्यापारी का कारणत्व देखा जाता है । क्योंकि वह व्यापार उस व्यापारी के सद्भाव ही चलता है । **तज्जीवनमेव० इत्यादि**— यदि पूर्वपक्षी कहे कि क्षेत्री का जीवन ही व्यापार का जनक है, अतएव क्षेत्री को र्निव्यापार नहीं कहा जा सकता है । **ननु० इत्यादि**— क्षेत्र का जीवन तो जिस तरह से स्वत्व के प्रति कारण है, उसी तरह से सस्य की रक्षा आदि के प्रति भी कारण है, अतएव वह साधारण व्यापार है, असाधारण क्रिया जनकता उसकी नहीं स्वीकार की जा सकती है । **अपिचैवमित्यादि**— दूसरी बात यह है कि ऐसा मानने पर तो ज्ञाता का जीवन का ही विषय प्रकाश में जनकत्व व्यापार स्वीकार कर लेना चाहिए । आगन्तुक ज्ञान की कल्पना

करने से क्या लाभ है ? **सत्यतितस्मिन्० इत्यादि**— यदि कहें कि ज्ञाता का जीवन रहने पर भी विषयों का प्रकाश नहीं होता है तो प्रश्न होता है कि क्या क्षेत्री के जीवन मात्र से क्षेत्री का अन्नादि के प्रति स्वत्व हो जाता है ? यदि कहें कि क्षेत्री के अन्न के प्रतिस्वत्व के लिए धान इत्यादि की सत्ता होना चाहिए तो इसी तरह विषयों के प्रकाश के लिए इन्द्रियों के सन्निकर्ष भी होना चाहिए । अतएव जिसके प्रति असाधारण उपर्युक्त धर्म होता है वही उसका ही असाधारण उस क्रिया का कारण होता है यही मानना चाहिए । आत्मा का वह असाधारण धर्म ज्ञान ही है । वह आत्मा का उसी तरह से असाधारण धर्म है जिस तरह सूर्य का असाधारण धर्म सूर्य की तेजस्विता है ।

मूल— **न च हेतुभेदानविधायितया जानाम्यज्ञासिषमित्यादि-कालावच्छेदप्रतीतेर्गमनादेरिव ज्ञानस्यागन्तुकत्वमनुमेयम् आदित्य-प्रकाशेनानैकान्त्यात् अस्ति हि तत्रापीमं देशमादित्यः प्रकाशयति प्राचीकशत्प्रकाशयिष्यतीति प्रतीतिः स्वारसिकत्वेऽप्यादित्यप्रकाशस्य प्रकाश्यदेशसंबन्धकादाचित्कतया अवच्छेदप्रतीतिरुपपद्यत इति चेत् इहापि तर्हीन्द्रियादिप्रत्यासत्तिसमासादितयोग्यभावोऽनुभाव्य भेदस्वा-भाविकमातमनश्चैतन्यगुणमवच्छिनत्तीति तदपेक्षयैवेन्द्रियाद्यनुविधा-नमतीतानाग-तप्रत्युत्पन्नत्वप्रत्ययप्रयोगौ चोपपद्येते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— न च इत्यादि— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जानामि, अज्ञासिषम् इत्यादि भिन्न-भिन्न कालावच्छिन्न रूप से इसलिए होती हैं, क्योंकि उन दोनों प्रकार की होने वाली प्रतीति का कारण हेतुओं की भिन्नता है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह से भिन्न गमनादि क्रियाओं की प्रतीतियाँ हेतु भेद के कारण कालावच्छिन्न रूप से होती हैं । इसी तरह से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूपी कारण का जब आत्मा सम्बन्ध होता है तो ज्ञान उत्पन्न होता है और जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं होता है तब ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है । इस तरह से ज्ञान के आगन्तुकत्व का अनुमान करना चाहिए । तो इस कथन का व्यभिचार सूर्य के प्रकाश से व्यभिचरित होता है । अर्थात् सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक

है, अतएव प्रकाशविशिष्ट विषयक होने वाली कालपरिच्छिन्नत्व प्रतीति प्रकाश के कादाचित्कत्व की साधिका नहीं है । **अस्ति हि० इत्यादि**— यदि कहें कि सूर्य के विषय में भी प्रतीति होती है कि इस समय सूर्य इस देश को प्रकाशित कर रहे हैं, इस देश को वे प्रकाशित कर चुके हैं और दूसरे देश को प्रकाशित करेंगे । इस तरह से सूर्य का भी प्रकाश कादाचित्क सिद्ध होता है । **स्वारसिकत्वेऽपि० इत्यादि**— सूर्य के प्रकाश को स्वाभाविक भी मानने पर प्रकाश्य प्रदेश के साथ सम्बन्ध के कादाचित्क होने के कारण उसकी कालावच्छेद रूप से प्रतीति होती ही है । इस तरह भी प्रकाश की अनित्यता की सिद्धि हो जाती है । **इहापि० इत्यादि**— आत्मा के स्वरूप में भी इन्द्रियों आदि के सन्निधान के कारण अनुभाव्य विषय प्रकाश की योग्यता को प्राप्त करके आत्मा के स्वाभाविक गुण चैतन्य को अपने सम्बन्ध से कालावच्छिन्न रूप से विशेषित कर देता है । **तदपेक्षयैव० इत्यादि**— विषय सम्बन्ध की अपेक्षा से ही इन्द्रियों आदि के होने वाला सम्बन्ध के ही अतीतत्व तथा अनागत इत्यादि रूप से ज्ञान तथा व्यवहार दोनों उपपन्न होते हैं ।

ज्ञान की कालपरिच्छिन्न रूप से प्रतीति औपाधिक है

मूल— **कथं पुनरत्र निर्णयः द्युमणिमणिप्रकाशादेरिवौपाधिकोऽयं भेदः न तु गमनपचनादेरिव स्वाभाविक इति ताद्रूप्येणैव प्रत्यक्षत्वात् न हि जातुचिदचिद्रू पोऽयमात्मा लोष्टादिवददृष्टचरः, यश्च यद्गुणतयैव साक्षाद्भवति स तत्स्वभावः मरुदिव स्पर्शगुणतयैबाध्यक्ष्यमाणः यो यत्स्वभावा न भवति स तद्विरहेणापि स्वरूपत उपलभ्यते गमनादिरहिततयेव देवदत्तादिः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कहें कि कालावच्छेद इत्यादि की तो औपाधिकता तथा स्वाभाविकता स्थान-स्थान पर देखी जाती है किन्तु ज्ञान में किस तरह से कालावच्छेद इत्यादि की औपाधिकता का निश्चय कैसे होता है ? इस तरह से शङ्का करते हुए पूर्वपक्षी कहता है **कथं पुनरत्र० इत्यादि**— यह कैसे निश्चय होता है कि ज्ञान का भी भेद उसी

तरह से औपाधिक होता है जिस तरह मणि, द्युमणि (सूर्य) इत्यादि के प्रकाश का भेद औपाधिक होता है और उसकी कालादि परिच्छिन्न रूप से प्रतीति गमन तथा पचनादि क्रियाओं के समान स्वाभाविक नहीं है तो इसका उत्तर है । **ताद्रूप्येणैव० इत्यादि**— अर्थात् ज्ञान नित्य आत्मा का स्वभाव है, इसीलिए वह आत्मा के ही समान नित्य है । फलत: उसकी तत्-तत् कालावच्छिन्न रूप से होने वाली प्रतीति औपाधिक है, इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए । **नहि जातुचित्० इत्यादि**— आत्मा कभी भी अचित् लोष्ठ (ढेले) आदि के समान अचेतन नहीं पाया जाता है जिसका जिसके गुण रूप से साक्षात्कार होता है, वह उसका स्वभाव होता है । जैसे वायु का साक्षात्कार स्पर्श गुणवान् रूप से होता है अतएव स्पर्श वायु का स्वभाव है । जो जिसका स्वभाव नहीं होता है वह उसके बिना ही स्वरूपत: उपलब्ध होता है जैसे गमनादि क्रिया चूकि देवदत्तादि का स्वभाव नहीं है अतएव देवदत्तादि की कभी गमनादि क्रिया रहित रूप से उपलब्धि होती है ।

मूल— **शरीरवदिति चेन्नासिद्धत्वात्, स्यादेतत् यथैव खल्वस्वभावभूतेनापि शरीरेण सध्रीचीन एवायं चेतनश्चकास्ति तथा चैतन्येनापीति तन्नैवम् असिद्धत्वात्, न हि तनुविशिष्टतयैवायं चेतनः परिस्फुरति योगिनां प्रणिहितमनसामुपरतवहिरिन्द्रियाणां च देहानुसंधानविरहेणाप्यहमिति स्फुटमनुभवात् जानामीति प्रत्ययः शरीरवर्णसन्निवेशनिर्भासशून्यतया तत्त्वान्तरगोचर इति च प्रागेवावोचं कर्मानुगुण्येन सुरमनुजादिजातीयतया भिद्यमानास्वागमापायिनीषु तनुषु मनस इवैकस्य वर्ष्मणः स्वभावानुबन्धित्वेनाश्रयितुमशक्यत्वात् लिङ्गस्य पुनरनुवृत्तावप्यप्रत्यक्षत्वान्न व्यभिचारित्वम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— शरीरवदित्यादि— यदि कहे कि जो जिसके साथ उपलब्ध होता है, वह उसका स्वभाव हो यह कोई आवश्यक नहीं है । शरीर आत्मा के साथ ही उपलब्ध होता है फिर भी वह आत्मा का स्वभाव नहीं है अतएव उपर्युक्त सिद्धान्ती का कथन सिद्ध नहीं हो सकता हे । **स्यादेतत्० इत्यादि**— यदि यह कहें कि जैसे अस्वभावभूत शरीर

के साथ ही यह आत्मा प्रकाशित होता है उसी तरह वह ज्ञान के भी साथ ही वह प्रकाशित होता है तो पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकतें हैं क्योंकि **नहि तनुविशिष्टत० इत्यादि**— आत्मा सदा शरीर विशिष्ट रूप से ही प्रकाशित हो ऐसी बात नहीं है । योगिजन जब अपने मन को समाहित करके आत्मा का चिन्तन करते हैं उस समय उनकी सारी बहिरिन्द्रियाँ उपरत हो जाती है । उस समय योगियों का आत्मा देह रहित रूप से 'मैं' 'मैं' इस रूप से स्पष्ट प्रकाशित होता है । इस प्रकार से होने वाला ज्ञान शरीर, वर्ण आदि के सन्निवेश के प्रतीति से रहित किसी दूसरे तत्त्व को ही अपना विषय बनाता है । **कर्मानुगुणयेन० इत्यादि**— जिस जीव का जैसा कर्म होता है उसी के अनुसार उसको देव, मनुष्य इत्यादि जातीयक शरीर मिलता है । इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार के आगमापयी शरीर उसी तरह से आत्मा का सम्बन्धी नहीं हो सकता है जिस तरह एक ही मन मुक्तावस्था में भी आत्मा के साथ रहता है फिर भी वह आत्मा का स्वभाव नहीं है । **लिङ्गस्य० इत्यादि**— यदि कहें कि यद्यपि मुक्तावस्था में स्थूल शरीर तो नहीं रहता है किन्तु लिङ्ग शरीर तो रहता ही है तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि लिङ्ग शरीर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । अतएव उपर्युक्त नियम किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं है । फलतः ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानना ही चाहिए ।

ज्ञान के आत्मा के स्वभावत्व विषयक आक्षेपों का खण्डन

मूल— **बोधस्वाभाव्ये पुंसः स्वापमूर्छयोः प्रकाशप्रसङ्ग इति चेन्न विकल्पासहत्वात् तथा हि प्रकाश इति पदार्थमात्रसाधारणं बोधजन्यम् प्रकटतादि पदपर्यायधर्ममभिप्रेत्यवायं प्रसङ्गः । अथ बोधमेव तद्विप्रकर्षं वा आद्ये तदभादेव न प्रसङ्गः अभावश्च प्रकटित एव संवित्स्वतः सिद्धिसमर्थनसमये भावेऽपि तमःप्रतिबन्धादप्यनुदयः सम्भवी इतरयोरभितमेवापादितमित्यदोषोदभावनम् । बोधस्वाभाव्ये हि पुरुषस्य स्वापादिदशासु च तथाभावोऽभिमत एवेति, न हि तदापादनं दोषाय ।**

तत्त्वप्रकाशिका— बोधस्वाभाव्ये० इत्यादि— यदि आत्मा का स्वभाव नित्य बोध को माना जायेगा तो फिर स्वाप काल में तथा मूर्छा आदि के समय में भी उसके प्रकाशक प्रसङ्ग होगा । तो यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि पूर्वपक्षी का यह कथन विकल्पासह है । उन विकल्पों का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं । **तथाहि० इत्यादि—** क्या प्रकाश सभी प्रकाशों (ज्ञानों) में रहने वाले ज्ञान जन्य प्रकटता आदि पदों का पर्याय भूत धर्म है, जिसके कारण उपर्युक्त प्रसङ्ग होगा ? अथवा वह ज्ञान ही है ? या उसका सन्निधान है ? आधे इत्यादि प्रथम पक्ष को इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि प्रकटता है ही नहीं अतएव उपर्युक्त प्रसङ्ग नहीं हो सकता है । प्रकटता के अभाव का प्रतिपादन ज्ञान से स्वयम्प्रकाशत्व समर्थन के अवसर में किया जा चुका है । यदि प्रकाश का सद्भाव मान भी लेंते तो स्वापादि काल में वह तमोगुण के द्वारा अभिभूत होने के कारण उद्भूत नहीं हो सकता है । **इतरयोः** प्रकाश को यदि ज्ञान ही मान ले अथवा उसका सन्निधान ही मान लें तो ये दोनों पक्ष हमको अभिमत ही है । अतएव विषय में दोष की उद्भावना नहीं की जा सकती है । आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है अतएव स्वाभादि काल में उसका रहना सिद्धान्त में अभिमत ही है । अतएव उसका प्रतिपादन दोष वह नहीं है ।

मूल— **अथ मतं स्वापादावपि स्वानुभवसद्भावे जागर इव व्यवहारप्रसङ्ग इति मैवं व्यवहारागोचरत्वात् कः खल्वात्मनि व्यवहारः न ह्यसावादातुं हातुमुपेक्षितुं वा शक्यः व्यवहारः प्रसज्यत इति चेत् किमङ्ग निर्विकल्पकबालमूकादिवेदनविषयो व्याह्रियत एव करणपाटवव्यवजिहोर्षादिसहकारिविरहात्तत्र व्याहारानुदय इति चेत् समानोऽयं विधिरितरत्रापीति निरनुयोज्यानुयोगः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अथमतम्० इत्यादि— यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यदि स्वापादि काल में भी अपने अनुभव का सद्भाव रहे ता जिस तरह जागरावस्था में आत्मा का व्यवहार होता है, उसी तरह के व्यवहार का प्रसङ्ग स्वापादि काल में भी होगा । तो ऐसा नहीं कहा जा सकता

है । क्योंकि वह व्यवहार का विषय है ही नहीं व्यवहार दो प्रकार का होता है कायिक तथा वाचिक । कायिक व्यवहार तो हो नहीं सकता है। **कः खलु० इत्यादि**— आत्मा में कौन व्यवहार हो सकता है । वह हान, उपादान या उपेक्षा करने के योग्य है ही नहीं क्योंकि आत्मा का स्वरूप नित्य प्राप्त है । **व्याहार० इत्यादि**— यदि कहें कि उसका व्यवहार (वाचिक व्यवहार) तो हो ही सकता है ? तो इसका परिहार है **किमङ्ग इत्यादि**— मित्र ! वह बालक, मूक (गूङ्गा) आदि के ज्ञान को विषय बनाने वाला निर्विकल्पक ज्ञान है उसके रहने पर भी उसका व्यवहार नहीं देखा जाता है । **करणपाटव० इत्यादि**— यदि कहें कि वालकों तथा मूकों के ज्ञान का व्यवहार इसलिए नहीं होता है कि व्यवहार के सहकारी करण पाटव, तथा व्यवहार करने की इच्छा का अभाव है तो इसका उत्तर है कि **समानोऽयंविधि० इत्यादि**— अर्थात् यहाँ आत्मा में भी ज्ञान की स्वविषयक व्यवहार की व्याप्ति नहीं है । अतएव आपका यह प्रसङ्गापादन अनुचित है ।

मूल— **स्मृतिप्रसङ्ग इति चेन्नावृत्तित्वात् यद्युच्येत मूर्च्छादावात्मानु भवाभ्युपगमे अर्थान्तरानुभव इव एवमहमन्वभूवमिति परस्तात्स्मृतिः प्रसज्यत इति तन्न अवृत्तित्वात् न हि मूर्च्छा प्रस्वापो वा बुद्धिवृत्तिविशेष; दर्शनस्पर्शनादिवत् येन स्मृतिबीजं संस्कारमादधीयाताम् । किं तूदभूतेन तमसा उपरतव्यापारेषु करणेषु निर्वृत्तिकसांसिद्धिकबोधस्वरूपेणावस्थानमात्रमात्मनः, न च बोधस्वभावत्वादेवास्य संस्काराधायकत्वम् अनवरतोपचीयमानसंस्कारतयाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, अनुभवे च स्वानुरूपसंस्काराधाननिरुद्धे सदृशसंबन्धिदर्शनादिसमुद्बोधितनिजवीजानुसारेण स्मरणमुपजायते न चेहात्मस्वरूपबोधस्य जातुचिन्निरोधो जन्मवानित्यात्मसत्ताप्रयुक्तत्वात् निमित्तान्तराभावश्चानन्तरमेव व्याकरिष्यते तदेवमनुवर्तमान एवानुभवे कथं स्मृतिरुद्रयमासादयेत् य एवाहं पूर्वेद्युरासं स एवाहमद्यापीति स्मृतिसंभिन्नप्रत्ययोऽपि कालावच्छिन्नस्वरूपगोचरः, न स्वरूपमात्रे**

अविशदश्च स्वापादौ स्वानुभवः निर्विकल्पश्च पटीयसा सविकल्पकेनावगमेन स्मृतिबीजमाधीयत इति कुतस्तत्प्रसङ्गः साम्याचच्यानुभवाभिमानः शरीरतद्धारणप्रयत्नाननुसंधानवत् ।

तत्त्वप्रकाशिका— स्मृति० इत्यादि— स्वापकाल में यदि आत्मा में ज्ञान को स्वीकार किया जाय तो जागरावस्था में उसके स्मरण का प्रसङ्ग होगा । तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि स्वाप काल में ज्ञान की कोई वृत्ति नहीं होती । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्तियों से उपरत हो जाती हैं । **यद्युच्येत० इत्यादि—** यदि आप कहें कि मूर्छा आदि के समय ज्ञान को स्वीकार करने पर दूसरे विषयों के ज्ञान के समान मैंने ऐसा अनुभव किया इस तरह से जगने के बाद स्मरण का प्रसङ्ग होगा ही तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि उस समय ज्ञान की कोई भी वृत्ति नहीं होती है । स्वाप काल में होने वाला ज्ञान स्वभाव स्वरूप हैं, वह धर्मभूत ज्ञान की अवस्था विशेष रूप नहीं है । **नहि मूर्च्छा० इत्यादि—** मूर्च्छा अथवा प्रस्वाप देखना अथवा स्पर्श करने के समान नहीं को ज्ञान की वृत्ति विशेष नहीं हैं कि उसके द्वारा स्मृति के कारण भूत संस्कार का उसके द्वारा आधान होगा और उसके द्वारा उसकी स्मृति होगी । **किन्तु० इत्यादि—** किन्तु मूर्च्छा अथवा स्वाप काल में तमोगुण का उद्रेक हो जाने के कारण सारी वृत्तियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं । उस समय आत्मा वृत्तियों से रहित अपने स्वाभाविक ज्ञान रूप से विद्यमान रहता है ।

न च बोध स्वभावादेव० इत्यादि— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा का स्वभाव ही है कि वह ज्ञान उत्पन्न करें अतएव उन अनुभवों का संस्कार तो पड़ेगा ही क्योंकि वैसा मानने पर संस्कार के निरन्तर पड़े रहने पर वह संस्कार सदा बढ़ता रहेगा फलतः मोक्षाभाव का प्रसङ्ग होगा कि मोक्ष की अवस्था में तो जीव एक आत्मा अपहतपाप्मा इत्यादि रूप से श्रुति वर्णित रूप से क्लेश कर्म आदि से रहित हो जाता है । उस समय अनुभव को स्वीकार करने पर अनुभवों के अनुरूप संस्कार के आधान के बन्द हो जाने पर उसके सदृश विषय को देखने

पर संस्कार का उन्मेष हो जायेगा और उसके कारण स्मरण उत्पन्न होगा। **न चेह० इत्यादि**— और आत्मा के स्वरूप भूत ज्ञान का न तो कभी निरोध होता है और न जन्म होता है क्योंकि आत्मा स्वरूप विषयक ज्ञान का कारण तो नित्य आत्मा की सत्ता है । इसके पश्चात् ही हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि स्मृति का कोई दूसरा कारण भी नहीं है । **तदेवमित्यादि**— इस तरह स्पष्ट हो गया कि जब ज्ञान सदा अनुवर्तित होता रहता है तो उसके स्मरण कैसे हो सकता है । यदि यह कहे कि आत्मा विषयक भी स्मरण होता है तो इसका उत्तर है कि **य एवाहम्० इत्यादि**— जो मैं पहले दिन था वह मैं आज भी हूँ इस तरह से होने वाला स्मृति मिश्रित ज्ञान भी तत् तत् काल वछिन्न स्वरूप विषयक है वह स्वरूप मात्र विषयक नहीं हैं । **अविशदशश्च० इत्यादि**— तमोगुण के कारण अभिभूत होने के कारण आत्मा का अनुभव अविशद (अस्पष्ट) और निर्विकल्पक होता है । **पटीयसा० इत्यादि**— जो अनभिभूत तथा सविकल्पक ज्ञान होता है उसी ज्ञान का संस्कार पड़ता है अतएव आत्मानुभव के संस्कार का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है । यदि कोई कहे कि आत्मानुभव सर्वदा होता है, यह नहीं सिद्ध हो सकता है क्योंकि जिस समय विषयों का अनुभव होता है उसी समय मैं सुखी हूँ इत्यादि रूप से अहमर्थ का अनुभव देखा जाता है । तो इसका उत्तर है कि **साम्याच्च० इत्यादि**— अर्थात् स्वापादि काल में आत्मा का अनुभव एक ही आकार से होता है । उन अनुभवों के समान आकार वाला होने के कारण अनुभव के अभाव का भ्रम होता है । **शरीर० इत्यादि**— जैसे जागरावस्था में हाथ पैर आदि के समूह स्वरूप शरीर का किसी ज्ञान विशेष के ही समय में विशेष रूप से स्फुरण होता है उसका सदैव अनुभव नहीं होता हैं । शरीर के धारण के प्रयत्न का भी सदा अनुभव नहीं होता है ।

मूल— **न चाविकृतस्वाभाविकबोधमात्रेणावस्थाने स्वापमोक्षयोरविशेषापत्तिः क्लेशवासनानां गुणाभिभवस्य चैकत्र भावात् इतरत्र तदत्यन्तनिवृत्तेः संप्रज्ञातसमाधावपि परमवैराग्यशालिना पटुतरनिरोधसंस्कारेण चरिताधिकारिणा अपवर्गिणा विशेषः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— न च विकृत० इत्यादि— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि स्वापादि काल में अविकृत स्वाभाविक ज्ञान मात्र की स्थिति मानने पर स्वाप काल तथा मोक्ष में कोई अन्तर नहीं हो पायेगा क्योंकि स्वाप काल में अविद्या इत्यादि क्लेश तथा तमोगुण के द्वारा ज्ञान का अत्यन्त अभिभव तथा सङ्कोच हो जाता है । अतएव उस समय ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा का भी प्रकाश नहीं होता है । **इतरत्र० इत्यादि—** मुक्ति तथा समाधि काल में तो न तो तमोगुण रहता है और न तो अविद्या इत्यादि क्लेश रहते हैं । इन आवरणों का नाश हो जाने पर मुक्ति में तो नित्य तथा असङ्कुचित ज्ञान सर्वविषयक ज्ञान रहता है अतएव दोनों में अन्तर स्पष्ट है । **असम्प्रज्ञात० इत्यादि—** समाधि की भी अवस्था में जीव के संसार से परम वैराग्य के कारण संस्कार की स्पष्टता के कारण उस जीव का मन आत्मा मात्र में ही लगा रहता है अतएव उस समय स्वापदशा से अत्यन्त भिन्नता होती है । उस समय मन कृतकृत तथा अपवर्ग सम्बन्धी होता है ।

निद्रा कोई वृत्ति नहीं है

मूल— **कथं पुनार्निद्राया अवृत्तित्त्वे प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शाः सुखमहमस्वाप्समित्याद्याः न ह्यननुभूतगोचराः स्मृतयः संभवन्ति, सत्त्वसचिवसमुल्लसिततमोगुणानुभवभावितभावनायोनिः खलु सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः लघूनि मे गात्राणीति प्रत्यवमर्शः रजस्तमः समुद्रे के तु दुःखमहमस्वाप्सं भ्रमत्यनवस्थितं मे चित्तमिति सत्त्वरजसी त्वभिभूय नितान्तमुद्भूते तमसि गाढ़ं मूढ़ं सुप्तोऽस्मि गुरूणि मे गात्राणि मूषितमिव मनोमीलितमिवेति सत्यमेवम् दत्तोत्तरं ह्येतत् नैवामी वासनायोनयः प्रत्ययाः अपि तु तात्कालिकशरीरेन्द्रियमनोऽवस्थाविशेषपर्यालोचननिमित्ता आनुमानिका इति, एवंरूपा हिमे यतः प्रसन्नं मे मनः सम्यगाहारपरिणामवशाल्लघुनि चाङ्गानि अतः सुखमहमस्वाप्समिति स्वापावस्थायां वेन्द्रियोपरमतारतम्यवशाद विशदतात्कालिकतत्तदनुकूलप्रतिकूलविषयानुसंधाननिबन्धनतयाऽपि**

स्मरणमुपपद्यत इति न वृत्त्यन्तरत्वं निद्रायाः, कथं तर्हि पारमर्ष सूत्रम् अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा इति निरोधपरत्वात् प्रकरणस्य न वृत्तिस्वरूपे तात्पर्यं विपर्ययवत्, न ह्यतद्रू पप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानं किंचिदस्ति सर्वसंविदामर्थाव्यभिचारात् स चाधिकरणसिद्धः साधयिष्यते चोपरिष्टात् कैवल्यभागि यच्चितु प्रत्यनीकतया निद्रादेर्निरोध्यत्वेनोपदेशः ।

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि निद्रा वृत्ति नहीं है तो फिर जगने पर यह प्रत्यवमश्र केसे होता है कि मैं सुख पूव्रक सोया इत्यादि ? जिन विषयों का अनुभव नहीं होता है, उन विषयों की स्मृति नहीं होती है । **सत्त्वसचिव० इत्यादि**— स्वापकाल में अल्पमात्रा में उद्बुद्ध सत्त्वगुण के द्वारा सहकृत तमोगुण का अनुभव करने के कारण जगाने पर यह अनुभव होता है कि मैं सूख पूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, मेरा शरीर हल्का हो गया है । ये सभी सत्त्वगुण के कार्य हैं । **रजस्तमः इत्यादि**— जब रजोगुण तथा तमोगुण का उद्रेक होता है तो जगने पर ऐसा अनुभव होता है कि मैं बड़े ही कष्ट पूर्वक सोया, मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है तथा स्थिर नहीं है । **सत्त्वरजसी० इत्यादि**— जब स्वाप काल में रजोगुण तथा सत्त्वगुण दोनों का दबाकर केवल ही उद्भूत हो जाता है तब तो जगने पर मनुष्य अनुभव करता है कि सोते समय मुझको कुछ भी ज्ञान नहीं रहा, मेरा शरीर भारी बना हुआ है । मैं किं कर्तव्य विमूढ हो गया हूँ मेरे नेत्र बन्द हो रहे है, अतएव निद्रा को वृत्ति मानना चाहिए । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **सत्यमेवम्० इत्यादि**— आपकी यह बात हम मानते हैं कि स्वाप तमोगुण लम्बन वृत्ति रूप होता है किन्तु उसको हम स्मृति रूप नहीं मानते हैं यह मैं इसका उत्तर दे चुका हूँ । ये सभी प्रतीतियाँ वासना जन्य नही हैं । **अपितु० इत्यादि**— अपितु ये स्वापकाल में होने वाली शरीर, इन्द्रिय तथा मन की अवस्था विशेष के पर्यालोचन जन्य है । अतएव आनुमानिक है । अर्थात् वृत्ति सामान्य का अभाव ही स्वाप कहलाता है । स्वाप काल में वृत्ति के अभाव का अनुमान होता है । **एवंरूपा० इत्यादि**— इन प्रतीतियों का

स्वरूप इस प्रकार है चूकि मेरा मन प्रसन्न है अच्छी तरह से भोजन के पच जाने के कारण मेरे अङ्ग भी हल्के प्रतीत होते हैं । अतएव मैं सुख पूर्वक सोया । **स्वापावस्थायाम्० इत्यादि**— अथवा स्वापावस्था में इन्द्रियों के उपरम के तारतम्य के कारण उस समय में होने वाले अविशद तथा अनुकूल या प्रतिकूल विषयों के अनुसन्धान के कारण भी स्मरण उपपन्न हो जाता है । अतएव निद्रा को वृत्ति विशेष नहीं मानना चाहिए । **कथंतर्हि० इत्यादि**— इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि तो फिर महर्षि पतञ्जलि के **अभावप्रत्यालम्बना वृत्तिनिद्रा** इस सूत्र में निद्रा को वृत्ति क्यों कहा गया है ? तो इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं चूकि निरोध का प्रकरण है, अत: परमर्षि का निद्रा को वृत्ति बतलाने में तात्पर्य नहीं है । अपितु वृत्ति सामान्य ही निद्रा है । निद्रा में वृत्तित्व का उपचार इसलिए होता है कि निद्रा भी वृत्ति के ही समान निरोधत्व सामान्य रूप है । **विपर्ययवत्० इत्यादि**— अन्यथा ख्याति का अभाव होने के कारण भ्रम स्थल में भेद के अग्रहण को ही विपर्यय कहा जाता है । उस विपर्यय को निरोद्धव्य के तात्पर्य से जैसे वृत्ति कहा जाता है उसी तरह निद्रा में भी वृत्तित्व का उपचार होता है । **नहयतद्रप० इत्यादि**— प्रतीयमान रूप से नहीं होने वाला भ्रम स्थल में ज्ञान मिथ्या इसलिए नहीं है कि सभी ज्ञानों का कोई-न-कोई विषय अवश्य होता है । **सथाधि० इत्यादि**— इस अर्थ का प्रतिपादन न्यायतत्व नामक शास्त्र के अधिकरण में सिद्ध किया गया है । इस अर्थ का प्रतिपादन हम आगे करेंगे । **कैवल्यमती० इत्यादि**— मोक्षाधिकृत आत्मस्वरूप के अनुकूल साधन की सिद्धि का विधातक होने के कारण ही निद्रा इत्यादि को पतञ्जलि महर्षि ने निरोधयितव्य बतलाया है ।

ज्ञानवान् आत्मा के नित्यस्व प्रकाशतव का समर्थन

मूल— **अस्तु वा पूर्वोक्तप्रमाणादिवृत्त्यभावकारणभूतप्रचित-तमतमोगुणावलम्बना वृत्तिरेव निद्रा सन्तु च प्रबुद्धप्रत्यवमर्शाश्च स्मरणानि तथा सत्यनवरतानुवृत्तबोधतया स्थितमेव पुंसोबोधस्वभा-**

वत्वम् आह बोधकारणानुवृत्त्याऽपि बोधानुवृत्तिरुपपद्यत इति, कथं तथा स्वाभाव्यनिश्चयः इत्थम् ।

यतः स्वतः सतोबोधादृते पुंसो यथोदितम् ।
तमःस्वापादिकालीनं न सिध्येद्धेत्वसिद्धितः ॥२७॥

उपरतानि हि प्रस्वापकाले सर्वाण्येवेन्द्रियाणि सह मनसा, संस्कारस्य च न स्मृतेरन्यत्र सामर्थ्यम्, न च स्वप्रकाशं तमः अर्थान्तरवर्तिनोऽप्यनिशं प्रकाशप्रसङ्गात् क्लृप्तश्च सर्वार्थसाधनतया बोध इति तेनैव करणविरहिणा सता स्वभावभूतेनोद्नोदभूतवृत्ते-स्तमसोऽन्यस्य वाऽऽत्मवर्तिना गुणस्य स्फुरणमिति बलादभ्युप-गमनीयं ।

तत्त्वप्रकाशिका— अस्तुवा० इत्यादि— अथवा पूर्वोक्त प्रमाण आदि वृत्ति के अभाव के कारण स्वरूप उद्रिक्त तमोगुण को अपना आश्रय बनाने वाली वृत्ति को ही निद्रा मान लिया जाय तथा जगे हुए व्यक्ति को जो सुख पूर्वक मैंने सोया इत्यादि प्रत्यय ज्ञान होते हैं, उसको उसके प्रतिसंधान रूप ही मान लिया जाय, तथा **सत्यापि० इत्यादि—** तो ऐसा मान लेने पर भी आत्मा के ज्ञान स्वभाव होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती क्योंकि उसका ज्ञान हमेशा अनुवर्तित ही होता रहता है । तो इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है **आह० इत्यादि—** ज्ञान रूपी कारण की अनुवृत्ति होते रहने पर भी ज्ञान की अनुवृत्ति तथा आत्म के ज्ञान स्वभावत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि वृत्ति तो कारण जन्य होती है । तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **इत्थम्० इत्यादि यतः इत्यादि—** चूकि आत्मा के उपर्युक्त ज्ञान के बिना स्वापादि काल में विद्यमान भी तमोगुण कारण के अभाव में अपने आप प्रकाशित नहीं हो सकता है ॥२०॥

उपरतानि० इत्यादि— स्वापकाल में मन तथा सभी इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं, वे अपना काम करना बन्द कर देती हैं । स्मरण के अभाव में संस्कार का भी उनके प्रकाशन में सामर्थ्य नहीं हो सकता है । **न च**

तमः इत्यादि— तमोगुण भी स्वयम्प्रकाश नहीं है । यदि तमोगुण को स्वयम्प्रकाश माना जाय तो जब वह दूसरी भी वस्तु में रहेगा तो भी उसके निरन्तर प्रकाशित होते रहने का प्रसङ्ग होगा । **क्लृप्तश्च० इत्यादि**— ज्ञान का सभी वस्तुओं का प्रकाश स्वाभावत्व प्रसिद्ध है । अतएव इन्द्रियों से रहित ज्ञान ही अपने स्वाभाविक प्रकाशिका वृत्ति के द्वारा तमोगुण तथा आत्मा में विद्यमान सुख आदि का प्रकाशन करता है, इस बात को अन्ततः मानना ही होगा ।

मूल— **नित्यप्रकाशश्चात्मा प्रमातृत्वात्, अप्रमातृत्वव्यापकबद्धं ह्यनित्यप्रकाशत्वं व्यापकविरुद्धप्रमातृत्वभागिन्यात्मनि नात्मानं लभते, स्वतःसिद्धप्रकाशत्वमप्यस्य ज्ञातृभावः अज्ञातृत्वेन हि व्याप्ता परायत्तप्रकाशता ।**

तत्त्वप्रकाशिका— आत्मा नित्य ही प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है । क्योंकि वह प्रमाता (ज्ञाता) है । जो अनित्य प्रकाश वाला होता है, वह प्रमाता नहीं होता है । अतएव अपने व्यापक अप्रमातृत्व के विरुद्ध प्रमातृत्व गुण सम्पन्न आत्मा में नहीं हो सकता है ।

स्वतः सिद्ध० इत्यादि— आत्मा स्वयम्प्रकाश है, क्योंकि वह ज्ञाता है जो ज्ञाता नहीं होता है, वही पराधीन प्रकाश वाला होता है । इस तरह सिद्ध होता है ज्ञान स्वभाव वाला आत्मा नित्य ही स्वयम्प्रकाश है ॥२८॥

आत्मा के ज्ञानश्रयत्व और विषयत्व पक्ष में दोष की उद्भावना

मूल— **कः पुनरयं प्रकाशो योऽस्य नित्योऽभ्युपेयेत स्वाभाविकश्च कश्चास्यात्मना सम्बन्धः, यदि ज्ञानमेव संबन्धश्चाश्रयाश्रयित्वं ततो हेत्वभावेन साध्याभावस्य व्याप्तिमुपदर्शयितुं निदर्शनतया घटाद्युपादातव्यं यदनित्यप्रकाशमन्याधीनप्रकाशं वा तदप्रमातृ यथा घटादीति, तत्र च विशेषनिषेधस्य सामान्याभ्यनुज्ञाऽऽक्षेपकत्वादागन्तुकं ज्ञानं घटादावनुमतमापद्येत । अथ तन्माभूदिति विषयविषयिभाव एव सम्बन्धः संगीयेत ततोनित्यवज्ज्ञानविषयत्वमात्मनः प्रसज्येत ज्ञानविषयीकारश्च साधनविशेषायत्तत्वेन नियत इति न**

स्वाभाविकत्वसंभवः अचेतनगोचर एव तथा नियम इति चेन्न चेतनान्तरविषयीकारेऽपि तथाभावदर्शनात्, न चानात्मगोचर एव साधनसापेक्षत्वनियम इति वाच्यम् आत्मनोऽप्यानुमानिकागमिक-योगज्ञानविषयीकारे तत्सापेक्षत्वदर्शनात् विरुद्धे चैकस्यैकक्रियायां कर्मकर्तृत्वे सूच्यग्रस्येवात्मनि वेध्यवेधकत्वे, नित्यत्वनिरतिशय सूक्ष्मत्वव्यापित्वचित्स्वाभाव्यादिरूपेण प्रत्यगर्थस्यौपदेशिक-त्वमानुमानिकत्वं वा न स्वरूपतः स्वरूपापेक्षयैव स्वतःसिद्धिरभ्युपेयत इत्यंसमाधेयो विरोधः रूपभेदेन गम्यगमकत्वाङ्गीकारपक्षे पक्षस्येव शब्दादेर्नस्वतः सिद्धत्वम् ।

तत्त्वप्रकाशिका— कः पुनरयम्० इत्यादि— अब प्रश्न उठता है कि यह प्रकाश पदार्थ क्या है ? जिसके सिद्धान्ती नित्य एवं आत्मा का स्वाभाविक गुण मानते हैं ? इस प्रकाश का आत्मा के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? **यदिज्ञानमेव० इत्यादि—** यदि ज्ञान को ही प्रकाश कहा जाता है तथा उसका आत्मा के साथ आश्रयाश्रयी भावरूप सम्बन्ध माना जाता है **ततो हेत्वभावेन० इत्यादि—** तो फिर हेतु का अभाव होने के कारण साध्याभाव की व्याप्ति को प्रदर्शित करने के लिए, दृष्टान्त रूप से घटादि को उपन्यस्त करना चाहिए । **यदनित्यप्रकाश० इत्यादि—** जो अनित्य प्रकाश वाला तथा अनित्य प्रकाश वाला होता है या अन्याधीन प्रकाश वाला होता है । वह प्रमाता नहीं होता है जैसे घटादि । **तत्र च० इत्यादि—** तो व्यतिरेकी उदाहरण वाक्य में नित्य प्रकाश रूप विशेष का प्रकाश सामान्य के अभ्युपगम में पर्यवासन होने के कारण घटादि में अनित्य आगन्तुक ज्ञान को स्वीकार करना चाहिए । **अथ० इत्यादि—** यदि कहें कि घटादि में ज्ञानवत्त्व नहीं देखा जाता है । तो फिर चूकि आत्मा में नित्य प्रकाशवत्व होने के कारण उसको सार्वकालिक ज्ञान का विषय होने का प्रसङ्ग होगा । **ज्ञानविषयीकार० इत्यादि—** ज्ञान अपना विषय का प्रकाशन चूकि इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है अतएव इतरानपेक्ष तथा नित्य ज्ञान का विषय आत्मा का होना कठिन है । **अचेतन गोचर० इत्यादि—** यदि कहें कि इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान

अचेतन पदार्थों को ही अपना विषय बनाता है चेतनों को नहीं तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि दूसरे चेतनों को भी ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही अपना विषय बनाता है यह देखा जाता है । **न चानात्मगोचर० इत्यादि—** यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से अपनी आत्मा से भिन्न वस्तुओं को ही अपना विषय बनाता है **आत्मनोऽपि० इत्यादि—** ज्ञान आत्मा को भी अनुमान, आगम तथा योग ज्ञान का जब विषय बनाता है तो वह शब्द तथा लिङ्गादि इन्द्रियों के माध्यम से ही अपना विषय बनाता है यह देखा जाता है । अतएव ज्ञान के इन्द्रिय सापेक्ष विषयीकरणत्व नियम में सङ्कोच नहीं किया जा सकता है । यदि कहें कि नित्य ज्ञान स्वरूप मात्र विषयक होता है । आत्मा के स्वरूप को अपना विषय बनाने में ज्ञान को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है तो इसका उत्तर है **विरुद्धे० इत्यादि—** स्वरूप मात्र को ज्ञान का विषय मानने पर स्वरूप मात्र को कर्ता और कर्म दोनों मानना पड़ेगा और एक ही क्रिया में एक ही वस्तु का कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों परस्पर में उसी तरह से विरोधी होंगे जिस तरह सूई का अग्रभाग बेध्य तथा बेधक दोनों नहीं हो सकता है । **नित्यत्व० इत्यादि—** अतएव आत्मा का उपदेश विषयत्व या आनुमानिकत्व उसके नित्यत्व, अत्यन्त सूक्ष्मत्व, व्यापकत्व तथा ज्ञान स्वभावत्व के ही कारण मानना चाहिए स्वरूपतः नहीं । **स्वरूपा पेक्षयैव० इत्यादि—** सिद्धान्ती तो स्वरूपतः ही आत्मा को स्वयं प्रकाश मानते हैं अतएव इस मत मत में होने वाले विरोध का समाधान असम्भव है । **रूपभेदेन० इत्यादि—** जैसे शब्द, शब्द, शब्द शव्य होने पर भी उसको श्रोत्रग्राह्य गुण रूप से उसकी वाच्यता स्वीकार की जाती है तथा आनुपूर्वी विशेष के द्वारा उसी वाचकता भी स्वीकार की जाती है, फिर भी अपक्षभूत शब्द स्वयम्प्रकाश नहीं माना जाता है । उसी तरह से ग्राह्य ग्राहक रूप धर्म भेद के द्वारा पक्षीकृत आत्मा का स्वयम्प्रकाशत्व ही सिद्ध हो सकता है ।

भाट्ट एवं प्राभाकरभिमत प्रकाश पदार्थ में अनुपति का प्रदर्शन

मूल— **अथोच्येत न प्रकाशो ज्ञानमपि तु तन्निमित्तश्चेतनेतर-सर्वपदार्थ साधारणो धर्मः यद्वशात्प्रकाशत इति प्रख्योपाख्ये प्रतायेते सर्वपदार्थेष्वविशेषेणाश्रयाश्रयित्वलक्षणश्च सम्बन्धस्तेन सह सर्व-भावानां, स च यथोदितसाधनबलादेव सांसिद्धिको नित्यश्चात्मन इति पराकृतोऽयं पक्षः न ज्ञानातिरेकी प्रकाशो नाम यद्व्यवहारोपज-ननानुगुणं ज्ञानं तत्प्रकाशत इत्युच्यते ज्ञेयस्य ज्ञातुः स्वात्मनश्च व्यवहारानुगुणं ज्ञानमुदयत इति युक्तस्त्रिष्वप्येकप्रकारः प्रकाशत-व्यवहारः, तत्त्वान्तरप्रकाशाभ्युपगमे तत्स्वाभाव्येन च पुनः किं चैतन्याश्रयणेन, न च प्रकाश एव तदिति वाच्यम् घटादेरपि प्रकाशवत्तया चेतनत्वप्रसङ्गात्, यद्युच्येत, सति चेतनावत्त्वे पुंसः प्रकाशमानत्वमिति संविदिदानीं का वार्ता चेतनैव हि सा न चेतयते। अथ संविदस्तत्संबन्धाधीनः स धर्म इति चेत् कस्तया संबन्धः यस्तन्निबन्धनं नाश्रयाश्रयित्वं घटादेस्तदभावप्रसङ्गात्, न विषयविषयि-भावस्तस्यैवानिपणात्, अनिरूपणं च भ्रान्त्यधिकरणसिद्धान्तारम्भे संवित्सिद्धौ चानुसंधातव्यम् आत्मनस्तस्य चाप्रकाशप्रसङ्गश्च ज्ञानाधीनप्रकाशाश्रयतैव सिद्धिस्तया चानुमेयं ज्ञानमिति पक्षः प्रागेव प्रतिक्षिप्तः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अथोच्येत इत्यादि— यदि भाट्ट मीमांसक कहें कि प्रकाश शब्द वाच्य ज्ञान नहीं है अपितु वह ज्ञान का कारण भूत चेतन तथा अचेतन सभी पदार्थों में रहने वाला धर्म है । उसी को ज्ञाता या प्रकटता कहते हैं उसी के द्वारा सभी पदार्थों का समान रूप से प्रकाशित होता है, इस तरह का व्यवहार तथा व्यवहार होता है । उस प्रकटता के साथ सभी भाव पदार्थों आश्रयाश्रयी भावरूप सम्बन्ध होता है। वह उपर्युक्त साधन के द्वारा आत्मा का स्वाभाविक तथा नित्य धर्म हैं । भाट्ट मीमांसकों के इस कथन का खण्डन करते हुए प्राभाकर मीमांसक कहते हैं **पराकृतोऽयं इत्यादि—** अर्थात् भाट्टों के इस पक्ष का मैं पहले

ही खण्डन कर चुका हूँ । **न ज्ञाना० इत्यादि**— ज्ञान से भिन्न प्रकाश नामक कोई वस्तु नहीं है । **यद्व्यवहारो० इत्यादि**— जिसके व्यवहार की उत्पत्ति के अनुकूल ज्ञान होता है, वही वस्तु प्रकाशित हो रही है, यह कहा जाता है । **ज्ञेयस्य० इत्यादि**— ज्ञेय ज्ञाता अपने-अपने व्यवहार के अनुकूल ज्ञान उत्पन्न होता है यही मानना उचित है । तीनों की एकरूपता का ही प्रकाशते इस तरह से व्यवहार होता है । कहने का अभिप्राय है कि प्रकाश ही ज्ञान है, उसके द्वारा होने वाली व्यवहारानुगुणता ही सम्बन्ध है, और प्रकाशते यह आख्यातार्थ यही पक्ष ज्ञेय, ज्ञान तथा ज्ञाता में एकार्थकता कहलाता है । उसी को प्रकाशित होता है इस तरह से व्यवहार होता है । **तत्त्वान्तर० इत्यादि**— ज्ञान से भिन्न तत्त्व को प्रकाश स्वीकार करने पर तथा उसी को आत्मा का स्वभाव मानने पर ज्ञान को स्वीकार करने से कौन सा लाभ है । अर्थात् नित्य प्रकाश को आत्मा में स्वीकार करने पर जो ज्ञानव्यर्थ हो जायेगा । **न च प्रकाशएव० इत्यादि**— यह नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रकाशता ही है, क्योंकि वह प्रकाशता तो घट आदि में भी रहने के कारण घटादि के भी चेतन होने का प्रसङ्ग होगा । **यद्युच्येत० इत्यादि**— यदि कहें कि चेतना से युक्त होने के कारण ही आत्मा प्रकाशित होता है । **संविदि० इत्यादि**— ज्ञान के विषय में क्या कहना है ? संवित् ज्ञान ही है, वह ज्ञानवान् नहीं है । **अथसंविदः इत्यादि**— यदि कहें कि चैतन्य का सम्बन्ध ही प्रकाश का कारण है तो प्रश्न उठता है कि प्रकाश का चैतन्य के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? उसका जो सम्बन्ध होगा वह आश्रयाश्रयी भाव रूप सम्बन्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि घटादि के फलतः घटादि के प्रकाश का नहीं हो पायेगा । साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है । विषय विषयिभाव रूप भी सम्बन्ध नहीं हो सकता है । चैतन्य तथा प्रकाश में विषय विषयी भाव रूप सम्बन्ध का निरूपण नहीं किया जा सकता है । उसका अनिरूपण भ्रान्तयधिकरण के सिद्धान्त के आरम्भ में तथा संविटसिद्धि में देखना चाहिए । **आत्मनः इत्यादि**— अपने (ज्ञान के) तथा आत्मा प्रकाश रहितत्व का भी प्रसङ्ग होगा । **ज्ञानाधीनेतयादि**—

चूकि ज्ञान के अनुमान का निराकार किया जा चुका है अतएव ज्ञान का ज्ञान रूप से ही प्रकाशित होता है यह व्यवहार होता है। अतएव ज्ञान के अधीन प्रकाशाश्रयत्व को ही प्रकाश कहते हैं तथा उस प्रकार के द्वारा ज्ञान का अनुमान होता है भाट्टों के इस मत का पहले ही खण्डन किया जा चुका है।

मूल— **स्वप्रकाशसंविद्वादिनोऽपि व्यवहारानुकूल्ये वैरूप्यमशक्यपरिहारम्, आत्मनि समवेतं ज्ञानमसंबन्धिन्यर्थे प्रकाशं व्यवहारं वा कथं प्रसुवीतेत्यपि चिन्त्यम्। इन्द्रियलिङ्गादिस्वकारणप्रत्यासत्तिवशादिति मा वोचः न खलु लब्धात्मकं कार्यं स्वनिमित्तकारणमनुरुध्य कार्यमारभते मा भूदुदकाहरणादि घटादेः कुलालादिसमानाधिष्ठानम् न च निमित्तकारणनाशे कार्यनाशः, नश्यति चेन्द्रियसंप्रयोगादिनाशे रूपादिज्ञानम् अत इन्द्रियेण सह चैतन्यमपि निसृत्य तेनतेनार्थेन सन्निकृष्यते हस्तादिनेव त्वगिन्द्रियम्, तथा सति हि तदुपाधिकत्वात्तज्ज्ञानस्य युक्तं तद्भावानुविधायित्वम् अन्यथोपपन्नं ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षनिवृत्तो किमिति निवर्तते ज्ञानजन्यार्थधर्मप्रकाशवादिनोऽपि समानोऽयं दोषः, निमित्तकारणं हि ज्ञानं कुतस्तन्निवृत्तावर्थप्रकाशो निवर्तते कुतो वा यावत्तद्भावमवतिष्ठते।**

तत्त्वप्रकाशिका— स्वप्रकाश० इत्यादि— जिस तरह भाट्टमत में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में प्रकाशित होता है इस तरह से होने वाले व्यवहार एकरूप्य सम्भव नहीं है उसी तरह ज्ञान को स्वप्रकाश मानने वाले प्राभाकरों के भी मत में वैरूप्य का परिहार नहीं हो सकता है। **आत्मनि० इत्यादि—** आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला ज्ञान अपने से असम्बद्ध अर्थ में प्रकाश तथा व्यवहार कैसे उत्पन्न करेगा इस बात का भी विचार करना चाहिए। **इन्द्रियलिङ्ग इत्यादि—** यदि कहें कि जिस विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय तथा लिङ्ग आदि के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उस विषय में प्रकटता अथवा व्यवहारानुगुण्य को उत्पन्न करता है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। **न खलु० इत्यादि—**

अर्थात् कार्य को अपनी उत्पत्ति में निमित्त कारण की अपेक्षा उत्पन्न कार्य के अपने कार्य को उत्पन्न करने में नहीं । **माभूत० इत्यादि**— यदि उत्पन्न कार्य को भी अपने कार्य को उत्पन्न करने में निमित्त कारण की अपेक्षा मानी जाय तब तो कुलाल के सन्निकट में ही घट जलाहरणादि क्रिया को कर पायेगा अन्यत्र नहीं । निमित्त कारण का नाश हो जाने पर भी कार्य का नाश होता है । निमित्त का नाश होने से ज्ञान का नाश स्वीकार किए जाने पर भाट्टा एवं प्रभाकर दोनों मतों में वैषम्य होगा ही। **नश्यति च० इत्यादि**— देखा जाता है कि इन्द्रिया तथा विषय के सम्बन्ध का नाश हो जाने पर रूप आदि के ज्ञान का नाश हो जाता है। **अतइन्द्रियादि० इत्यादि**— अतएव इन्द्रिय आदि के माध्यम से निसृत ज्ञान इन्द्रियों आदि के साथ ही जब सन्निकर्ष को प्राप्त करता है तो ज्ञान विषयों का प्रकाश करता है तथा विषय प्रकाश के व्यवहार को उत्पन्न करता है । यह सिद्धान्ती का पक्ष है । **तथा सति० इत्यादि**— ज्ञान को इन्द्रियों साथ ही प्रवृत्ति मान मानने पर ही अपने विषय के साथ सन्निकृष्ट तथा उस विषय का प्रकाशक ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का अन्यव्यतिरेका अनुसरण करने वाला होता है तथा अन्वय व्यतिरेक की उपपत्ति होती है । **अन्यथा० इत्यादि**— इन्द्रियादि द्वार का ज्ञान विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं मानने पर इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का नाश जाने पर भी ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । **ज्ञानजन्यार्थ० इत्यादि**— भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि विषय का ज्ञान होने पर विषयों में प्रकाश नामक धर्म उत्पन्न हो जाता है, और उस प्रकाश के द्वारा अपने ज्ञान का अनुमान होता है । उनके भी मत में यह दोष बना ही रहता है । निमित्त कारण ज्ञान है । उसके विनष्ट हो जाने पर विषय का प्रकाश निवृत्त हो जाता है तथा कैसे वह अपने आश्रय के काल पर्यन्त बना रहता है ?

मूल— **न च संख्यादिनिदर्शनेनात्रप्रत्यवस्थानं युक्तम् ।**

असिद्धत्वेन नाशस्य संख्याया बुद्धिनाशतः ।
एकसंख्येव संख्यात्वादन्याप्याद्रव्यभाविनी ॥२९॥

सर्वा ह्येकाश्रया संख्या नित्यानित्यार्थवर्तिनी ।
यावदाश्रयसत्येव संमता सर्ववादिनाम् ॥३०॥
द्वित्वादिका परार्धान्ता संख्यायाऽनेकवर्तिनी ।
साऽपि संख्यात्वसामान्ये सति कम्मान्नतादृशी ॥३१॥

ननु नैकत्वं संख्या स्वरूपानतिरेकात् अतः साधनविकलमुदाहरणम्, मैवम् संख्यैव सा द्रव्यान्तरेऽप्यनुवृत्तेः, यदि हि घटादेः स्वरूपमेवैकत्वं ततो घट एकः पट एक इति सर्वद्रव्यसाधारण्यमेकत्वस्य न स्यात्, न हि घटस्वरूपस्य पटस्वरूपेण संभवति सामानाधिकरण्यं घटः पट इति अस्ति तु तदेकत्वस्य । किंच—

संख्यैकताविरुद्धत्वाद्द्विसंख्यैवान्य संख्यया ।
एकं द्वाविति न ह्यस्ति समानाधिकरण्यधीः ॥३२॥

तत्त्वप्रकाशिका— न च संख्खादि इत्यादि— यदि कोई यह कहे कि कार्य के नाश का कारण मानना चाहिए अन्यथा अपेक्षा बुद्धि का नाश होने पर दिव्य आदि संख्या के नाश की अनुपपति होगी । उसी तरह यहाँ भी निमित्त कारण का नाश होने पर ज्ञान के नाश की अनुपपत्ति होगी । तो उपर्युक्त कथन का परिहार करते हुए कहते हैं । **असिद्धत्वेन—** तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि यह सिद्ध नहीं है कि अपेक्षा बुद्धि का नाश होने पर द्वित्वादि संख्या का नाश होता है । अतएव निमित्त नाश से कार्य के नाश का उदाहरण त्वादि का नाश नहीं हो सकता है । **एकसंख्येव० इत्यादि—** जिस तरह एकत्व संख्या यावद् द्रव्य भाविनी होती है, उसी तरह द्वित्वादि संख्या भी यावद् द्रव्य भाविनी होती है, क्योंकि वह भी संख्या है, एकत्व संख्या के समान । **सर्वा ह्येकाश्रया० इत्यादि—** सभी वादी यही मानते हैं कि नित्य तथा अनित्य सभी द्रव्यों में रहने वाली संख्या एक आश्रय को अपनाकर रहती हैं तथा वे सब तब तक बनी रहती हैं जब तक उनका आश्रय रहता है । **द्वित्वादिका० इत्यादि—** द्वित्व संख्या से लेकर परार्ध पर्यन्त की सारी संख्या जो अनेक वस्तुओं में रहती है उन सबों को भी यावदाश्रय

द्रव्य मानी क्यों न माना जाय क्योंकि वे भी एकत्व संख्या के समान संख्या हैं ।

ननु० इत्यादि— यदि कोई यह कहे कि एकत्व संख्या नहीं है, अपितु वह स्वरूप ही है । अतएव एक संख्या को जो दृष्टान्त के रूप में उपन्यस्य किया गया है वह दृष्टान्त साधन विकल है, क्योंकि उसमें संख्याख्य है ही नहीं । तो ऐसा इसलिए नहीं हो सकता है कि वह भी संख्या है क्योंकि उसकी दूसरे भी द्रव्य में अनुवृत्ति होती है । **यदि घटादेः इत्यादि**— यदि एकत्व घट आदि का स्वरूप ही होता तो एक घट एक पट इस तरह से सभी द्रव्यों में उसकी अनुवृत्ति नहीं होती । चूकि होती है, अतएव उसको भी संख्या ही मानना चाहिए । **नहि घटस्वरूपस्य० इत्यादि**— घट के स्वरूप के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता है और न तो घटः पटः इस तरह का व्यवहार ही हो सकता है । किन्तु उन दोनों के एकत्व का सामान्याधिकरण होता है अतएव एकत्व को संख्या ही मानना चाहिए किञ्च दूसरी बात यह है कि जिस तरह विरुद्ध होने के कारण एक संख्या दो संख्या नहीं हो सकती है उसी तरह एक संख्या का अन्य संख्याओं से भी विरोध होने के कारण एक संख्या वे संख्या भी नहीं हो सकती है । लोक भी एक का दो के साथ सामानाधिकरण्य ज्ञान नहीं देखा जाता है । इस तरह द्वित्व इत्यादि के यावद द्रव्य भावित्व के अनुमान में दृष्टान्त में साधन विकलता का परिहार किया गया ।

मूल— **यत्तु अनेकद्रव्यवृत्तित्वे सति गुणत्वात् संयोगवदयावद्द्रव्यभाविनी द्वित्वादिसंख्या इति तन्नानात्वेऽनैकान्तिकम्, न हि सतोरेव घटपटयोस्तन्नानात्वं नश्यति न च तद्द्वित्वसंख्यैव त्रयाणां तदभावप्रसङ्गात् न च तदेकत्वाभावमात्रम् तुच्छस्यापि नानात्वापत्तेः।**

आपेक्षिकत्वाद् द्वित्वादेः प्रतियोग्यनवग्रहात् ।
बुभुत्सोपरमाच्चापि सत्या एवानवग्रहः ॥३३॥

अतश्चैतन्यस्यैवेन्द्रियद्वारा अर्थसन्निकर्ष एव तद्भावाभावानुविधानोपपत्तिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु० इत्यादि— यह जो कहा गया है कि दित्यादि संख्या यावद द्रव्य भाविनी इसलिए नहीं हो वह गुण । जिस तरह संयोग आदि गुण अनेक द्रव्य में रहते हुए गुण होने के कारण अयावद् द्रव्यभावी होते हैं उसी तरह **तन्न० इत्यादि—** अर्थात् यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि द्वित्वादि में नानात्व नहीं है । व्यासज्य वृत्ति के कारण उसमें केवल गुणत्व ही है और भेद जो होता है, वह व्यासज्य वृत्ति नहीं होता है । देखा जाता है कि घट और पट दोनों के एक साथ विद्यमान रहने पर उनके नानात्व का नाश नहीं होता है । **न चतत्० इत्यादि—** उस नानात्व को द्वित्व संख्या भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि तीन होने पर द्विव्य के नाश का प्रसङ्ग होगा भेद का एकत्वाभावमात्र भी नहीं माना जा सकता है । तुच्छ पदार्थ में भी एकत्व का अभाव होने के कारण उनके नानात्व का प्रसङ्ग होगा ।

आपेक्षिकत्वात् इत्यादि— द्वित्वादि का ग्रहण (ज्ञान) दूसरे संबन्धी का ग्रहण सापेक्ष होता है चूकि प्रतियोगी संबन्ध्यन्तर का ग्रहण नहीं होने के कारण ग्रहण होने पर भी दित्वादि के ज्ञान में सहकारी द्वित्वादि को जानने की इच्छा अपेक्षा बुद्धि का अभाव होने के कारण उसका सदैव ग्रहण नहीं होता है । फलतः निमित्त कारण के नाश से कार्य के नाश का दृष्टान्त द्वित्वादि नहीं हो सकते हैं ।।३२।।

अतएव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के होने पर ज्ञान ही तद्भावानुविधायी होता है ।

ज्ञान का विषय के साथ सन्निकर्ष का प्रतिपादन

मूल— **अन्यच्च अर्थस्य प्रकाशकं हि ज्ञानं भवताम् सर्वं च प्रकाशकं प्रकाश्यवस्तुसन्निकृष्टमेव प्रकाशकं दृष्टं दीपप्रभादि अतस्तदपि तथेति युक्तमाश्रयितुं व्योमवदमूर्तस्य न क्रियावत्त्वमिति चेत् केयममूर्तिर्नाम यद्विरहिणः क्रियाऽयोगः, यदि पारिभाषिकी, द्रव्यत्वे सति क्वाचित्कतेति इष्यत एव सा चैतन्ये, न हि तत्सर्वगतं द्रव्यं तथा सति युगपत्सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् क्वाचित्कत्वे तु तद्धि**

यदैकदैकेन्द्रियेण संप्रयुक्तं तदर्थाभिमुखं न तदेन्द्रियान्तरमधितिष्ठति, अत एव हि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः निरतिशयवेगं च तत् युगपदिवातिशीघ्रमनेकेन्द्रियाधिष्ठानदर्शनात् अतो यथोदितममूर्तत्वं सिद्धम् स्पर्शवत्ता मूर्तिस्तद्विरहान्निष्क्रियत्वमिति चेत् शब्देनानेकान्तः स खलु शङ्खमुखादेर्दबीयसोऽपि देशान्नोदनविशेषेण लोष्टदेरिव यावद्वेगं प्रतिष्ठते स्पर्शविहीनोऽपि स्पर्शरहितस्यापि मनइन्द्रियस्य क्रियावत्त्वं पदार्थवाक्यार्थविदामुभयेषामपि संमतमेव ।

तत्त्वप्रकाशिका— अन्यच्च इत्यादि— दूसरी बात यह है कि आप लोग मानते हैं कि ज्ञान ही विषयों का प्रकाशन करता है । **सर्वं च० इत्यादि**— लोक में देखा जाता है कि जितने भी प्रकाशक होते हैं वे अपने सन्निकट की वस्तु का प्रकाशन करते हैं जैसे दीपक की प्रभा सन्निकटस्थ ही घटादि का प्रकाशन करती है अतएव यही मानना चाहिए कि ज्ञान भी अपने सन्निकटस्थ विषय का प्रकाशन करता है । **व्योभषद्० इत्यादि**— यदि कहें कि जिस तरह अमूर्त आकाश में कोई क्रिया नहीं होती है उसी तरह अमूर्त ज्ञान में प्रकाश क्रिया कर्तृत्व नहीं है । अब प्रश्न है **केयम्० इत्यादि**— मूर्ति पदार्थ क्या हैं ? यदि कहें कि जिसके अभाव में क्रिया नहीं होती है, उसे मूर्ति कहते हैं । **यदि परिभाषिकी० इत्यादि**— यदि आप पारिभाषि की यह मानते हैं कि जो द्रव्य होते हुए असार्वत्रिक होता है तो इस प्रकार की क्वाचित्कता हम ज्ञान में भी मानते ही हैं । **नहितत्० इत्यादि**— सबों में रहने वाला ज्ञान द्रव्य नहीं है । क्योंकि ज्ञान को सर्वगत मानने पर एह ही समय में सभी विषयों के प्रकाश का प्रसङ्ग होगा । **क्वाचित्कत्वे० इत्यादि**— ज्ञान को क्वाचित्क मानने पर वह ज्ञान जब कियी एक इन्द्रिय से सम्पृक्त होता है तो वह उसी के विषय को प्रकाशित करता है । **नतदेन्द्रिया० इत्यादि**— अर्थात् जब वह एक इन्द्रिय को अधिष्ठित करता है वह उसी समय दूसरे इन्द्रिय से सम्पृक्त होकर उसको विषय सन्निकर्ष की क्रिया में प्रवर्तित नहीं करता है । **अतएव० इत्यादि**— यही कारण है कि एक ही समय में अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता है । अतएव अविभुद्रव्यत्व स्वरूप मूर्तव्य के

ज्ञान में रहने के कारण ज्ञान को अमूर्त नहीं कहा जा सकता है । **निरतिशय० इत्यादि—** यह ज्ञान निस्समी वेगवान् है । अतएव लगता है कि वह एक ही समय के समान वह अत्यन्त शीघ्र ही अनेक इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है । अतएव उपर्युक्त प्रकार का अमूर्तत्व मन में असिद्ध हैं ।

स्पर्शवत्ता इत्यादि— यदि कहें कि जिसका स्पर्श होता है उसे मूर्ति कहते हैं चूकि ज्ञान में स्पर्शवत्व का अभाव है अतएव वह अमूर्त है । फलतः वह निष्क्रिय है तो ऐसा इस लिए नहीं कह सकते हैं कि उसका शब्द के साथ अनैकान्तिकता है । शब्द स्पर्शवान् नहीं होने के कारण अमूर्त है फिर भी वह क्रियावान् है । **स खलु० इत्यादि—** शब्द स्पर्श रहित है फिर भी वह शङ्ख तथा मुख से दूर देश से भी प्रेरणा विशेष के द्वारा प्रेरित होकर उसी तरह से वेग पूर्वक चलता है जिस तरह किसी के द्वारा फेंका गया ढेला वेग से चलता है । यदि कहें कि शब्द में गति अपने आश्रय के द्वारा ही आती है शब्द का आश्रय वायु है और स्पर्श वान है, अतएव अमूर्त के क्रिया रहितत्व नियम में किसी भी तरह की बाधा नहीं है तो इसका उत्तर है **स्पर्श रहितस्य० इत्यादि—** तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि मन स्पर्श रहित है तो भी उसको पदार्थवेत्ता वैशेषिक तथा वाक्यार्थवेत्ता मीमांसक दोनों मानते हैं ।

मूल— **कथमतीतानागतयोरसतोश्चैतन्येन संप्रयोग इति चेत् कथं वा विषयभावः प्रकाशमानत्वं संख्यादियोगो वा तयोर्यस्तत्र निर्वाहः स एवात्रास्तु अपिचातीततयाऽऽनगततया च तावप्यद्यापि विद्येते इति तेन रूपेण बोधसन्निकर्षेकाऽनुपपत्तिः किंच यथा दवीयसि देशे सता ध्रुवशिंशुमारादिना दृक् सन्निकृष्यते तथा दवीयसि काले सता कल्पाद्यन्तवर्तिना स्वयंभुवादिनेति नालोकं किंचित् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि सन्निकृष्ट अर्थ का ही ज्ञान प्रकाशन करता है तो जो अतीत कालिक तथा अननात कालिक विषय हैं, वे तो विद्यमान नहीं रहते हैं फिर भी ज्ञान का उन सबों से कैसे सम्पृक्त होता है ? यदि

इस प्रकार की कोई शङ्का करता है तो मैं पूछता हूँ कि तो फिर वैशेषिक विद्वान् अतीत तथा अनागत विषय को वर्तमान कालिक ज्ञान का विषय कैसे स्वीकार करते है ? भाट्ट मीमांसक भी उन दोनों प्रकार के विषयों में वर्तमान ज्ञान के द्वारा प्रकाश धर्म को कैसे स्वीकार करते हैं ? इन दोनों मतों में द्वित्वादि संख्या को वर्तमान अपेक्षा बुद्धि जन्य कैसे माना जाता है ? **यस्तत्र० इत्यादि**— उन मतों में जैसे निर्वाह होता है उसी तरह हमारे यहाँ भी निर्वाह हो जाता है । उन दोनों मतावलम्बियों को न चाहकर भी यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि ज्ञान का विषय होने में अथवा ज्ञान के द्वारा प्रकाश धर्म से युक्त होने में विषय का ज्ञानाधीन वर्तमान तो अपेक्षित नहीं होता है उसी तरह हम भी मानते हैं ज्ञान विषय के साथ होने वाले सन्निकर्ष में विषय की वर्ततान कालिकता अपेक्षित नहीं होती है । **अपि च० इत्यादि**— किञ्च अतीत कालिक तथा अनागत कालिक भी विषय अतीत तथा अनागत रूप से आज भी वर्तमान अतएव उस रूप ज्ञान का विषय से सन्निकर्ष होने में कौन सी अनुपपत्ति है ? **किञ्चयथा० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि यह देखा जाता है कि दूर देश में विद्यमान ध्रुव तथा शिशुमार चक्र के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होता हैं तथा कल्पादि के अन्त में रहने वाला दूर बालस्थ भी ब्रह्मा इत्यादि के साथ ज्ञान ज्ञान का सन्निकर्ष होता है । अतएव इसमें अलौकिक कुछ भी नहीं है ।

मूल— **नातीतानागते बुद्धेर्दूरे भवितुमर्हतः ।**
बुद्ध्या प्रकाशमानत्वाद्बुद्धिबोद्धस्वरूपवत् ॥३४॥

एवं च चैतन्यस्य निरतिशयवेगितया अन्तरालदेशकालाग्रहणाभिमानोऽलातचक्रगतक्रमवद् देशभेदसंयोगविभागाग्रहणाभिमानवत्। अपि चेन्द्रियलिङ्गसंस्कारादेर्यदर्थप्रतिनियतं रूपं तेनैवोपश्लिष्य निःसरच्चैतन्यमपि तद्गोचरेणैव सन्निकृष्यते यथा गवादिपदशक्तिरेकबुद्धिसिद्धेऽपि सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यांशेनैव संबध्यते, यथा वा विधिः प्राप्तांशपरिहारेणाप्राप्तांशमेव भावनायाः स्पृशति,

अतइन्द्रियादिद्वारेण चैतन्यमपि तदर्थाभिमुखं निर्गच्छतीति न्याय्यं, यथाऽऽह भगवान् तदस्य हरति प्रज्ञांवायुर्नावमिवाम्भसि इति, मनुश्च।

इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥३५॥

इति ।

तत्त्वप्रकाशिका— नातीतानागते० इत्यादि— अतीत और अनागत वस्तु बुद्धि से दूर नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उन वस्तुओं का बुद्धि के द्वारा प्रकाश होता है । बुद्धि तथा ज्ञाता के स्वरूप के समान । **एवं च० इत्यादि—** यदि कहें कि दूरस्थ देश काल के सन्निकर्ष में मध्यवर्ती देश तथा काल के उसके अन्तर्गत ही होने के कारण मध्यवर्ती भी विषयों के ग्रहण का प्रसङ्ग होगा । तो इस पर कहते हैं **एवं च० इत्यादि—** इस तरह के ज्ञान के निःसीम वेग सम्पन्न होने के कारण बीच के देश और काल के उसी तरह से ग्रहण नहीं होता है जिस तरह वेग से घूमने वाले आलात चक्र के बीच में होने वाले क्रम के समान भिन्न-भिन्न देशों से होने वाले संयोग तथा विभाग का ग्रहण नहीं होता है । यदि कहें कि चक्षुरिन्द्रिय से निकले हुए ज्ञान का यद्यपि रसादि के साथ सन्निकर्ष होता है फिर भी वह रूप का ही प्रकाशन करता है रसादि का नहीं क्यों ? तो उसका उत्तर है **अपि च० इत्यादि—** इन्द्रिय लिङ्ग तथा संस्कार आदि का जिस विषय के ही प्रकाशन में सामर्थ्य होता है, उससे संश्लिष्ट होकर निकलने वाला ज्ञान भी उस इन्द्रिय के विषय के साथ सन्निकृष्ट होता है, इस तरह चाक्षुष ज्ञान का रसादि के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है । **यथा० इत्यादि—** जिस तरह से गौ आदि पद की शक्ति का विभिन्न व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध होने पर भी उन पदों के द्वारा दूसरी व्यक्तियों का ज्ञान नहीं होता है सामान्य अंश से सम्बन्ध होने पर तो गो आदि पद के सम्बन्ध की योग्यता सामान्य में ही मानी जाती है। इसी तरह कोई भी विधि होती है वह प्राप्तांश का परिहार करके भावना अंश में ही प्रवृत्त होती है । **अतइन्द्रिय० इत्यादि—** अतएव इन्द्रिय रूपी द्वार से निकला हुआ ज्ञान उस इन्द्रिय के ही विषय को अपना

विषय बनाता है यही मानना उचित है । श्रीभगवान् ने भी गीता में कहा है **तदस्य० इत्यादि**— मन जीव के ज्ञान को उसी प्रकार अपने अभिलषित अर्थ की ओर ले जाता है जिस तरह जल में विद्यमान नौका जिस ओर जाती है उसी ओर ले जाता है । मनु महर्षि भी कहते हैं **इन्द्रियाणां० इत्यादि**— अर्थात् सभी इन्द्रियों में जो विषयों की ओर प्रवण विषयों की ओर ले जाता है । उसके द्वारा ही आत्मा का ज्ञान उसी तरह बाहर निकल जाता है जिस तरह दृति (चमड़े के थैले) में बनी हुयी छिद्र से दृति का जल बाहर निकल जाता है ।

आत्मा के धर्मभूत ज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध का प्रतिपादन तथा शब्द के वायवीयत्व का प्रतिपादन

मूल— **यत्तु गुणश्चैतन्यगुणिनमपहाय कथमन्यतोयातीति तदयुक्तम् । प्रहाणानभ्युपगमात् अप्रहायेवात्मानमितस्ततश्चेतना इन्द्रियादिद्वारान्निश्चरति विच्छिन्नायाश्च तस्याः संधानासंभवःशास्त्र एवोक्तः दृश्यन्ते च गुणा अपि शब्दगन्धसूर्यालोकरत्नप्रभादयो गतिमन्तो धर्म्यतिवर्तिनश्च अतिसूक्ष्मो दूरगमनधर्मा भौतिको हि शब्दः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु इत्यादि— यह जो कहा गया है कि ज्ञान गुण है, वह अपने आश्रय गुणी को त्यागकर अन्यत्र कैसे जा सकता है? तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्य के द्वारा आत्मा के परित्याग को हम नहीं मानते है । **अप्रहायैव० इत्यादि**— ज्ञान आत्मा का परित्याग किए बिना ही वह इन्द्रियों के माध्यम से इधर-उधर निकलता है । यदि वह ज्ञान आत्मा से विच्छिन्न हो जायेगा तो फिर वह आत्मा के साथ जुड़ नहीं सकता है । इस बात को शास्त्रों में ही कहा गया है। **दृश्यन्ते० च० इत्यादि**— यह देखा भी जाता है कि शब्द तथा गन्ध आदि गुण सूर्य का प्रकाश तथा रत्न की प्रभा आदि गतिमान होते हैं, इधर-उधर जाते हैं किन्तु वे अपने आश्रय धर्म का परित्याग नहीं किए रहते हैं । **अतिसूक्ष्मः इत्यादि**— भौतिक ही शब्द अत्यन्त सूक्ष्म होता है और दूर-दूर तक जाता भी है ।

मूल— **ननु नभ इव विभुः शब्दः व्यंजकध्वनिवशेन प्रादेशिक इव गत्वर इव चोपलभ्यते तथा हि शब्दः सर्वव्यापी एकद्रव्यवर्तित्वे सत्याकाशगुणत्वात् तत्परिमाणवत्, मैवम् अतद्गुणत्वात् बायवीयः शब्दः तेन नियतसहोत्पत्तिकत्वात् तदीयस्पर्शवत् यश्च येन द्रव्येण नियतसहोत्पत्तिगुणः स तद्गुण एव यथा तथाविधा रूपादयः नियतसहोत्पत्तिश्च वायुना शब्दः उभयोरपि भेरीदण्डवंशदलनादि-संयोगविभागजत्वनियमात्, उत्पद्यते च शब्दः इन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वाद् गन्धादिवत्, कृतकश्च क्रियोत्तरमेवोपलभ्यत्वात् संयोगादिवत् न चाभिव्यंजकत्वं प्रयत्नादेः कल्प्यं गौरवात् तत्प्रतीतिकारण-त्वकल्पनादपि तत्कारणत्वकल्पनैव हि लध्वी अभिव्यंजकाश्च एकदेशावस्थितानेकेन्द्रियग्राह्यान् युगपदभिव्यंजन्ति यथा प्रदीपो रूप संख्यापरिमाणानि करकादींश्चैकप्रदेशवर्तिनः, न चैवं ताल्वादिसंयोग-विभागजनितपवन इति नासौ व्यंजकः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कहें कि आकाश का गुण शब्द है अतएव जिस तरह आकाश विभु है उसी तरह शब्द भी विभु है और वह व्यञ्जक ध्वनि के द्वारा प्रादेशिक (प्रदेश विशेष में वर्तमान) के समान तथा गतिमान के समान प्रतीत होता है । **तथाहि० इत्यादि**— ऐसा वादी शब्द के विभुत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं, शब्द सर्वव्यापक है, क्योंकि वह एक द्रव्य में रहते हुए आकाश का गुण हैं । अतएव वह आकाश परिमाण के ही समान व्यापक है । तो उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए कहते हैं **'मैवम्'** ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शब्द आकाश का गुण नहीं है । **जायतीयः इत्यादि**— शब्द वायु का ही गुण है । क्योंकि जहाँ वायु रहती है, वहीं शब्द उत्पन्न होता है । यदि कोई कहे कि शास्त्र बतलाता है कि शब्द आकाश का गुण अतएव आप उसका खण्डन कैसे करते हैं ? तो इस पर कहना है कि शास्त्र आकाश को व्यापक नहीं बतलाता है अतएव उसका गुण शब्द भी व्यापक नहीं हो सकता है । युक्ति के द्वारा तो शब्द केवल वायवीय ही सिद्ध होता है ।

जहाँ वायु रहती है वहीं शब्द उत्पन्न होता है, वायुहीन स्थान पर शब्द उत्पन्न हीं नहीं हो सकता है । वायु के स्पर्श के ही समान वायु का वायवीयत्व भी सिद्ध होता है । **यश्च येन० इत्यादि**— जो नियमत: जिसके साथ उत्पन्न होता है, वह उसका ही गुण होता है । जैसे रूप इत्यादि । **नियत सहोत्पत्तिश्च० इत्यादि**— शब्द नियमत: वायु के साथ ही उत्पन्न होता है । शब्द तथा वायु दोनों नियमत: भेरी दण्ड तथा नाँस के फटने के संयोग तथा वियोग से उत्पन्न होते हैं । **उत्पद्यते० इत्यादि**— मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं उनके मत का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि शब्द उत्पन्न होता है, क्योंकि वह श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होने के साथ-साथ गुण भी है । गन्ध के जिस तरह नासिकेन्द्रिय गाह्य पृथिवी गुण गन्ध उत्पन्न होता है, उसी तरह अतएव शब्द नित्य नहीं है। **कृतकश्च० इत्यादि**— शब्द कार्य भी है, क्योंकि मेरी ताडनादि क्रिया के बाद ही उसकी उपलब्धि होती है । संयोग आदि के समान ।

न च इत्यादि— यदि यह कहा जाय कि प्रयत्न इत्यादि शब्द के अभिव्यञ्जक हैं, तो इस कल्पना में गौरव नामक दोष है । प्रत्यत्न को उसकी प्रतीति के कारण रूप से कल्पना करने की अपेक्षा उसको शब्द का कारण मानने में लाघव है । अभिव्यक्ति पक्ष में होने वाले दोष को बतलाते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अभिव्यञ्जकाश्च० इत्यादि**— अभिव्यञ्जकों का यह स्वभाव होता है कि वे एक स्थान में स्थित तथा एकेन्द्रिय ग्राह्य वस्तु को एक साथ ही पूर्ण रूप से अभिव्यञ्जन कर देते हैं । **यथा० इत्यादि**— जैसे प्रदीप एक स्थान में रहने वाले करक आदि तथा उनके रूप संख्या तथा परिमाणों को एक साथ ही प्रकाश कर देता है । **न चैवमित्यादि**— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि तालु आदि उच्चांरण स्थानों के संयोग तथा विभाग से उत्पन्न है वायु वह अभिव्यञ्जक नहीं है।

मूल—

नित्यत्ववादिन: शब्दा निर्भागव्योमवर्तिन: ।
श्रावणाश्चेत्यभिव्यक्तिनियमे नास्ति कारणम् ॥३५॥

देशैक्ये ग्राहकैक्ये च व्यंजकैक्य हि दर्शितम् ।
तदभावात्प्रयत्नोत्थमारुतः कारणं ध्वनेः ॥३६॥
अत एव च नानात्वं प्रत्युच्चारणमिष्यताम् ।
कृतस्य करणायोगाद्धेतु- पौष्कल्यभेदतः ॥३७॥
किंचोदात्तानुदात्तत्वदीर्घत्व- ह्रस्वतादयः ।
गादिस्था युगपद्गांतो नि भिन्द्युः स्वाश्रयान् कथम् ॥३८॥
स्थानैक्यायातसादृश्यात्प्रत्यभिज्ञाऽपि नैक्यतः ।
प्रदीपप्रत्यभिज्ञेव ज्ञापिता भेदहेतवः ॥३९॥

तत्त्वप्रकाशिका— नित्यत्व० इत्यादि— शब्द को नित्य बतलाने वालों के मत में निरवयव आकाश में रहने वाले शब्द के अभिव्यञ्यङ्ग्यत्व में श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यत्व तथा एकाश्रयत्व कारण नहीं हो सकते हैं । क्योंकि अभिव्यङ्ग्य होने पर एक शब्द का उच्चारण करने का प्रसङ्ग होगा । देश की एकता तथा ग्राहक की एकता होने पर व्यञ्जक भी एक ही होता है । **तदभावात्० इत्यादि—** एक व्यञ्जक तथा एक व्यङ्ग्य का अभाव होने के कारण वर्णों के उच्चारण के प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होता । कुक्षिस्थि वायु के तालु आदि के उच्चारण स्थानों से टकराने पर उन वर्णों की उत्पत्ति होती है । **अतएव० इत्यादि—** अतएव व्यंग्य नहीं होने के कारण प्रत्युच्चारण में भिन्न ही गकार आदि होते हैं । उत्पन्न कार्य का कारण से सम्बन्ध के अभाव का कारण-कारण की पुष्कलता ही होती है । **किञ्च० इत्यादि—** दूसरी बात यह है कि एक ही समय में भासमान गकार आदि में विद्यमान उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व इत्यादि अपने आश्रय भूत गकार आदि के भेद को करेंगे ही । यदि कहें कि प्रत्येक उच्चारणों में जाकर आदि की भिन्नता होने पर यह वही गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? तो इसका उत्तर हैं **स्थानैक्य० इत्यादि—** प्रत्युच्चार में होने वाली गकारादि की भिन्नता होने पर भी **सोऽयं गकारः इत्यादि—** रूप से प्रतीति भ्रम के कारण होती है । उस भ्रम का कारण उच्चारण स्थान की एकता तथा सदृशता

है यह उसी तरह से प्रदीप की ज्वाला में प्रतिक्षण भिन्नता होने पर भी उसकी एकता का भ्रम होता है । प्रत्युच्चारण में होने वाले गकारादि वर्णों की भिन्नता का कारण व्यङ्ग्यत्व का अभाव है, यह पहले कहा जा चुका है ।

पुनः प्रभाकर मत की विवृति

मूल— **नन्वेवं चैतन्यसंयोगः संयोगजो वा कश्चित्प्रकाशः प्राप्तः उभयमपि तन्न चैतन्ये सम्भवति भेदापेक्षत्वात्संबन्धस्य, आत्मनोऽपि न चैतन्येन संयोगस्तद्धर्मित्वात्, न हि धर्मधर्मिणोः सम्बन्धः संयोगः समवायो हि सः अयुतसिद्धसंबन्धत्वात् संयोगस्तु पृथक् सिद्धयोर्द्रव्ययोः क्रियानिमित्ता प्राप्तिः अकार्यकारणयोर्वा तयोर्निरन्तरस्थितिः चैतन्यसंयोगसमवायसोरन्यतरस्य संबन्धमात्रस्य वा प्रकाशत्वे ज्ञातृज्ञानज्ञेयशरीरेन्द्रियेष्वव्याप्त्यतिव्याप्ती, यथायोगमादर्शयितव्ये तत्त्वान्तरप्रकाशभ्युपगमस्त्वनुपलब्धिबाधितो न दूषणान्तरं प्रयोजयतिअतो यद्व्यवहारोदयानुगुणं ज्ञानं तत्प्रकाशत इत्येवाभ्युपगमो युक्तः त्रितयव्यवहारानुगुण्यं संविदस्तु स्वभाव इत्यपर्यनुयाज्यं निमित्तवैरूप्यम्, न हि स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति एवं चेत्संयोगसमवायविरहिणोऽपि पदार्थस्थ निमित्तभेदानुसारेण व्यवहारहेतुः संविदिति युक्तमाश्रयितुम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— उपर्युक्त प्रघट्टक में यह कहा गया है कि चैतन्य का विषय से सम्बन्ध होता है और ज्ञान के सम्बन्ध के कारण ही प्रकाशित होता है इस तरह का व्यवहार होता है । यहाँ पर प्रभाकर मीमांसक शङ्का करते हैं **नन्वेवम्० इत्यादि**— अर्थात् तब तो प्रकाश को ज्ञान के संयोग रूप, अथवा ज्ञान के संयोगजन्य रूप मानना होगा । किन्तु चैतन्य के इन दोनों में से कोई भी नहीं हो सकता है । क्योंकि संयोग के लिए भेद को होना चाहिए । दो भिन्न पदार्थों में ही संयोग होता है । **आत्मनोऽपि० इत्यादि**— आत्मा का भी चैतन्य के साथ संयोग नहीं हो सकता है । क्योंकि आत्मा का धर्मी है । धर्म और धर्मी के संयोग सम्बन्ध नहीं होता

है अपितु वह समवाय होगा । क्योंकि दोनों अयुत सिद्ध हैं न तो धर्म के बिना धर्मी हो सकता है और न धर्मी के बिना धर्म हो सकता है । धर्म और धर्मी में अयुत सम्बन्ध होता है । **संयोगस्तु० इत्यादि**— संयोग दो पृथक सिद्ध पदार्थों में होने वाली क्रिया के कारण होता है । **अकार्यकारणयो इत्यादि**— अथवा कार्य कारण से भिन्न दो पदार्थों की अन्तराल रहित होकर रहना ही संयोग कहलाता है । **चैतन्य संयोग० इत्यादि**— अथवा ज्ञान के संयोग तथा समवाय में से किसी एक के सम्बन्ध मात्र को प्रकाश मानने पर ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का शरीर तथा इन्द्रियों आदि में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति अवश्य होगी । **तत्त्वान्तर० इत्यादि**— प्रकाश को धर्मान्तर मानने पर तो वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ही बाधित होता है । उसके लिए किसी दूसरे दोष की आवश्यकता नहीं है । **अतोयद्व्यव० इत्यादि**— अतएव यही मानना उचित है कि जिस व्यवहार की उत्पत्ति के अनुकूल ज्ञान होता है वही प्रकाश कहलाता है । **त्रितय० इत्यादि**— ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों के व्यवहार के अनुकूल होना यह ज्ञान का स्वभाव है अतएव कारण की विरूपता के विषय में किसी भी प्रश्न का अवसर नहीं है । **एवंचेत्० इत्यादि**— यदि ऐसी बात है तो संयोग तथा समवाय इन दोनों सम्बन्धों से रहित भी पदार्थ के भी के व्यवहार कारण निमित्त भेद के अनुसार संवित् ज्ञान को मानना चाहिए ।

प्राभाकर मत में दोष का निरूपण

मूल— **उच्यतेउक्तमत्र न निमित्तकारणमनुरुध्य कार्यं स्वकार्यमारभत इति व्यवहारानुगुणसंवेदनत्वेऽपिप्रकाशपदार्थे प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदो दुष्परिहर एव बहुब्रीहिसमासाश्रयणे संविदन्तराभावेन तस्यां तदभावप्रसङ्गात्, कर्मधारयाश्रयणे ज्ञातृज्ञेययोरसंवेदनत्वेनाप्रकाशप्रसङ्गः । व्यवहारोदयानुगुण्यं च व्यवहारतोऽवगन्तव्यम् ततः प्रागेव च भवति विदितत्वप्रतीतिर्व्याहारश्च ।**

तत्त्वप्रकाशिका— उच्यते० इत्यादि— यह कहा जा चुका है कि

अपने निमित्त कारण से युक्त ही स्थान में कार्य अपना कार्य अपने कार्य को उत्पन्न करता है, अन्यत्र नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है । **व्यवहारानुगुण० इत्यादि**— ज्ञाता तथा ज्ञेय में अपने व्यवहार के अनुकूल ज्ञान से युक्त होना ही प्रकाश कहलाता है । इस तरह से मानने पर प्रकार पदार्थ में प्रवृत्ति निमित्त का भेद रूप दोष दुष्परिहार्य है । **बहुब्रीहि० इत्यादि**— यदि व्यवहारानुगुण संवेदनत्व में बहुब्रीहि समास मानें तो ज्ञानान्तर का अभाव होने के कारण संविद में प्रकाश के अभाव का प्रसङ्ग होगा यदि कर्मधारय समास मानें तो फिर ज्ञाता एवं ज्ञेय में संवेदन का अभाव होने से ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों के अप्रकाश का प्रसङ्ग होगा । यदि कहें कि ज्ञान के अधीन व्यवहार की अनुकूलता को प्रकाश कहते हैं तो इस पर कहते हैं प्रकाश योग्यता रूप प्रकाश का व्यवहार के द्वारा ही अनुमान होता है किन्तु व्यवहार से पहले ही उत्पन्न होने वाली विदितत्व की प्रतीति और व्यवहार उपपन्न नहीं होंगे ।

अनुभवादूरत्व के कारण व्यवहारानुगुण्य के प्रकाश पदार्थता का उपसंहार

मूल— **यद्येवं कस्तर्हि प्रकाशते पदार्थः न हि निरवद्यमेकरूपं ज्ञातृज्ञेयज्ञानानुगतं तमुपलभामहे, उच्यते नूनं भवानश्रुतपूर्वी प्रथमाधिकरणस्य न्यायतत्त्वे अभिहितं हि तत्रेदम् अनुभव स्मृतिमुपपादयद्भिरनुभवादूरत्वं स्मृतिनिमित्तमिति, एतदुक्तं भवति संविददूरत्वं प्रकाश इति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— उपर्युक्त प्रकार से विमर्शक के द्वारा आक्षेप किए जाने पर कोई तटस्थ शङ्का करता है । **यद्येवम्० इत्यादि**— यदि ऐसी स्थिति है तो फिर प्रकाश पदार्थ क्या है ? क्योंकि ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनो में रहने वाला उसका कोई निर्दोष रूप नहीं उपलब्ध होता है। अतएव प्रकाशेत पद में विद्यमान प्रकृत्यर्थ क्या है ? तथा प्रत्ययार्थ क्या है ? तो इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं— **उच्यते० इत्यादि**— अर्थात् यह निश्चित है कि आपने न्यायतत्त्व नामक ग्रन्थ के

प्रथमाधिकरण की आनुपूर्वी को नहीं सुना है । **अभिहितं० इत्यादि**— वहाँ पर अनुभव विषयिणी स्मृति का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि **अनुभवादूरत्वम्० इत्यादि**— अर्थात् विषय के ही समान अनुभव का भी अनुभव से अदूरता होने के ही कारण स्मृति उपपन्न हो जाती है। इस पर प्रश्न उठता है कि ऐसा होने पर प्रकाश के विषय में क्या निश्चित हुआ तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते है **एतदुक्तं० इत्यादि**— कहने का अभिप्राय है कि संविद के अदूरत्व को प्रकाश कहते हैं ।

मूल— **आह किमिदमदूर इति दूरादन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावो वा तथा विशेषणमुपलक्षणं वा अदूर इति विशेषणत्वे पक्षत्रयेऽपि नियमेन संवेदनदूरत्वानुसंधानपूर्विकया प्रकाश इति प्रतीत्या भवितव्यम् न च तथाऽस्ति उपलक्षणत्वे स्वरूपान्तरं वाच्यम्, न च तदवगम्यत इत्युक्तम् उच्यते अलमस्थाने संभ्रमेण ।**

भवत्वनुभवादूरं दूरादन्यद्विरोधि वा ।
तद्भावश्च प्रकाशत्वं किमत्र बहु जल्प्यते ॥४०॥

तत्त्वप्रकाशिका— आह० इत्यादि— अर्थात् अदूरत्व में नञ् समास है । नञ् के अनेक अर्थ होते हैं । अतएव अदूर पद में नञ् का क्या अर्थ है ? नञ् के तीन अर्थ प्रधान हैं तदन्यत्व, तद्विरुद्धत्व तथा तद्भावत्व। इन तीनों में से कौन सा अर्थ है । **तथा विशेषणम्० इत्यादि**— किञ्च अदूर पद प्रकाश पदार्थ का विशेषण है या उपलक्षण है ? **विशेषणत्वे इत्यादि**— उसको विशेषण मानने पर ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों पक्षों में संवेदन दूरत्वानुसन्धान पूर्वक ही प्रकाश की प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है । **उपलक्षणत्वे० इत्यादि**— यदि अदूर पद को प्रकाश का उपलक्षण मानें तो फिर उपलक्ष्य प्रकार के दूसरे आकार को बतलाना चाहिए क्योंकि उपलक्षण उसी पदार्थ को उपलक्षित करता है जिसका आकारान्तर ज्ञात हो यह भी कहा जा चुका है प्रकाश का आकारान्तर ज्ञान नहीं होता है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **उच्यते०**

इत्यादि— अर्थात् अदूर के विषय में इतना भ्रम करने का कोई अवसर ही नहीं है । **भवत्वनुभवा० इत्यादि** अदूर पद का अर्थ अनुभव दूर भिन्नत्व या अनुभव दूर विरोधी होना ही प्रकाश मानता है । वही प्रकाश पदार्थ है । यहाँ पर अनुभव ज्ञान सामान्य का बोधक है । यह अदूर पद को प्रकाश का विशेष मानने पर अर्थ होगा । यदि अदूर पद को प्रकाश का उपलक्षण मानें तो फिर शाखा चन्द्र के समान उपलक्ष्य तथा उपलक्षण दोनों का समानाधिकरण्य निर्देश है । इस तरह अर्थ होगा कि सविद अदूरत्वोप लक्षित धर्म को प्रकाश कहते हैं । इस विषय में बहुत अधिक क्या कहना है ? ॥४०॥

मूल— **प्रकाशत इति प्रतिभासोऽपि बुद्धिविप्रकर्षप्रत्यनीकबोधतत्संसृष्टपदार्थस्वरूपविमर्श एवं बाह्यप्रकाशवत् तत्रापि ह्यालोके तद्व्याप्तभूभागादौ च प्रकटादिप्रख्योपाख्ये आलोकादूरत्वनिमित्ते यथा च तत्र तन्निमित्ता सन्तमसनिवृत्तिरेवमिहापि ज्ञानादूरत्वनिमित्ताज्ञाननिवृत्तिः, अत एव चानुभूते अनुभवे चोत्तरकालतुल्यवत्स्मरणम्।**

तत्त्वप्रकाशिका— प्रकाशते० इत्यादि— प्रकाशते इस प्रकार की जो प्रतीति होती है वह भी अनुभव विप्रकर्ष के विरोधी जो ज्ञान उससे संबद्ध पदार्थ के स्वरूप का विमर्श ही है । बाह्य प्रकाश के समान कहने का अभिप्राय यह कि यदि कोई यह कहे कि प्रकाश की प्रतीति में संवित् दूर की भी प्रतीति अवश्य होनी चाहिए तो ऐसा नहीं कह सकते चूकि अभाव भावन्तर रूप ही होता है अतएव संविद् दूर भेद का संवित उससे संसृष्ट पदार्थ के उसके आश्रय विशेष रूप होने के कारण दूर पदार्थ के ज्ञान के बिना भी प्रकाश की प्रतीति होती है । प्रकाश पद का अर्थ तो संविद दूरत्ववच्छिन्न ही है । **तत्राणि० इत्यादि**— वहाँ भी होने वाले प्रकाश में तथा प्रकाश से व्याप्त भूभाग इत्यादि में आलोक से अदूर होने के ही कारण प्रकट आदि प्रतीति तथा व्यवहार होते हैं । **यथा च तत्र० इत्यादि**— जिस तरह प्रकाश व्याप्त स्थल में प्रकाश के कारण अन्धकार की निवृत्ति होती है, उसी तरह यहाँ प्रकाश में भी ज्ञान से अदूरत्व के कारण ही अज्ञान की निवृत्ति होती है । **अतएव च०**

इत्यादि— अतएव घट के अनुभव के बाद वाले समय में तथा घटानुभव विषयक ज्ञानन्तर में घट तथा उसके अनुभव के एक ही समय में नहीं होने के कारण स्मरण ही होता है ।

मूल— **एवं च चैतन्यसंबन्धविशेषविषयविकल्पोऽप्यलब्धावकाश इति निरनुयोज्यानुयोग एव, नैरन्तर्यपदपर्यायमत्यन्तसामीप्यंमात्रं च संयोगः, स एव परतन्त्राश्रितः समवायपदपरिभाषाभूमिर्वैशेषिकाणामिति नार्थान्तरत्वमूरीकृत्य विकल्पः संभवति, यथा च संयोगान्तर्भावः समवायस्य तथा संबन्धविमर्शे दर्शयिष्यामः, ज्ञानादूरत्वप्रयुक्तो व्यवहारक्षमतालक्षणो वा परः प्रकाशः स च सत्यपि स्वनिमित्तापौष्कल्ये प्रतिबन्धाद् योग्यताविरहाद्वा व्यापित्वासंगित्वाद्यात्मधर्मान्तरेषु देहेन्द्रियादौ च न संजायते चक्षुः सन्निकृष्ट इव कालिन्दीपयसि रूपरसादयः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— एवं च० इत्यादि— संवित् से अदूर प्रकाश होने के कारण चैतन्य का आत्मा से संयोग को ही प्रकाश कहते हैं ? या समवाय सम्बन्ध को प्रकाश कहते हैं, या सम्बन्ध मात्र को प्रकाश कहते हैं इत्यादि विकल्पों का कोई भी अवसर नहीं । **नैरन्तर्य० इत्यादि**— नैरतर्य पद का पर्याय भूत अत्यन्त सन्निध्य मात्र को ही संयोग कहते हैं। **स एव० इत्यादि**— वह संयोग परतन्त्र तथा आश्रित होता है तब समवाय कहलाता है, इस तरह से वैशेषिक विद्वान् मानते हैं । अतएव संयोग समवाय दोनों एक ही अर्थ के बोधक है, भिन्नार्थ के नहीं अतएव इस विषय में विकल्प का कोई अवसर ही नहीं है । **यथा च संयोगान्त० इत्यादि**— समवाय का संयोग में जिस तरह से अन्तर्भाव होता है उसे हम सम्बन्ध के विमर्श के अवसर पर बतलायेंगे । कहने का अभिप्राय है कि संवित् के नैरन्तर्य को संविदरत्व कहते हैं । वह संवित् संवित् के विशय तथा संवित् के विषय में समान रूप से रहता है । दो पृथक सिद्ध पदार्थों के नैरन्तर्य को संयोग कहते हैं और दो अपृथक् सिद्ध पदार्थों के नैरन्तर्य को समवाय कहते हैं । इस तरह प्रकाशते पद का

धात्वर्थ संवित् है और नैरन्तर्य प्रत्ययार्थ है । **ज्ञानादूरत्व० इत्यादि**— ज्ञान से अदूर होने के कारण उससे भिन्न व्यवहार की क्षमता को ही प्रकाश कहते है । जिस तरह से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्रकाशित होता है, इस तरह का व्यवहार होता है, उसी तरह ज्ञान से प्रकाशित होता है, इस तरह का व्यवहार होने के कारण प्रकाश ज्ञान का प्रयोज्य है । **स च सत्यपि०**— वह भी कारण की पुष्कलता रहने पर भी किसी दूसरे प्रबल गुण के द्वारा अभिभूत होने के कारण, अथवा योग्यता का अभाव होने के कारण अथवा व्यापकत्व का सम्बन्ध न होने के कारण आत्मा के दूसरे धर्मों में तथा देह एवं इन्द्रिय आदि में नहीं रहता है । **चक्षुः इत्यादि**— यह उसी तरह होता है जिस तरह चक्षुरिन्द्रिय का सन्निधान होने पर भी यमुना के जल चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा नहीं ग्रहण होता है ।

श्रुतियों द्वारा धर्मभूत ज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन

मूल— **अतो यथोक्तनीत्या आत्मा स्वतश्चैतन्यविग्रहो ज्ञानस्वभाव एवान्यत्करणैः प्रतिपद्यते ॥४१॥**

यत्तु सुखादिनिदर्शनिनात्मविशेषगुणतया चित्तेरागन्तुकत्व मापादितं तदपि गुणवृत्तापरिज्ञानेन यतः ।

स्वरूपोपाधयो धर्मा यावदाश्रयभाविनः ।
नैवं सुखादिबोधस्तु स्वरूपोपाधिरात्मनः ॥४२॥

यथा च बोधोपाधिरात्मभावस्तथोपपादितम्, सुखदुःखे चानात्मधर्मौ इन्द्रियसौष्ठवनाशयोरेव तद्भावोपपादनात्, व्याकरिष्यते चैतदन्तिमपदार्थसमर्थनावसर इति साधनविकलता च निदर्शनस्य, रागद्वेषादयोऽपि मनोऽवस्थाविशेषाः न साक्षादात्मगुणाः, विज्ञायते हि कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरि-त्येतत्सर्वं मन एव इति' गीयते च इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् इति चेतना धृतिः इति क्षेत्रलक्षणमैकपद्येन चेतनया ध्रियमाणः सङ्घातोहि देहः स्ववृत्त्यनुगुणचैतन्यमात्रादेव प्रवर्तमानं क्षेत्रमिति यावत् अतएव

हि अन्तर्यामिब्राह्मणे 'यस्य पृथिवी शरीरम् यस्यापः शरीरं यस्यात्मा शरीरम् इत्यादि निर्देशः' 'तानि सर्वाणि तद्वपुः' इति च पुराणे।

तत्त्वप्रकाशिका— अतोयथोक्त० इत्यादि— चूकि प्रकाश ज्ञात, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों में रहता है इस तरह से कहा जा सकता है अतएव आत्मा ज्ञान रूप है तथा वह ज्ञान स्वभाव वाला है । इसका ज्ञान आगन्तुक नहीं है । आत्मा का धर्मभूत ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के माध्यम से ही निकलकर दूसरे विषयों को प्रकाशित करता है ।।४१।।

यतु० इत्यादि— यह जो कहा गया कि जिस तरह आत्मा के विशेष गुण सुख दुःख इत्यादि आगन्तुक हैं उसी तरह ज्ञान भी आगन्तुक है वह कथन गुण के स्वभाव को नहीं जानने के कारण ही कहा गया है । तब प्रश्न होता है कि ज्ञान का क्या स्वभाव है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **स्वरूपोपाधयः इत्यादि—** जो गुण अपने आश्रय के स्वरूप निरूपक होते हैं, वे तब तक अपने आश्रय में बने रहते है जब तक कि उनका आश्रय रहता है । सुख आदि आत्मा के स्वरूप निरूपक धर्म नहीं हैं किन्तु ज्ञान आत्मा का स्वपोपाधि (स्वरूप निरूपक) धर्म हैं ।।४२।।

यथा च० इत्यादि— जिस तरह ज्ञान आत्मा का स्वरूप निरूपक धर्म है इस बात को मैं कह चुका हूँ । बोधोपाधि में बहुब्रीहि समास हैं। **सुखदुःखे० इत्यादि—** सुख तथा दुःख इत्यादि आत्मा के धर्म नहीं हैं अपितु इन्द्रियों के सौष्ठव को ही सुख तथा इन्द्रियों के सौष्ठव के नाश को दुख कहते हैं यह अर्थ का प्रतिपादन मैंने किया है । **व्याकरिष्यते० इत्यादि—** आत्मा के स्वतः सुखित्व के प्रतिपादन के समय सुख-दुःख के इन्द्रियों की अवस्था विशेषत्व का मैं प्रतिपादन करूँगा । अतएव **सुखादिव** जो दृष्टान्त उपन्यस्त किया गया है वह साधन साधन विकल है । **रागद्वेषादयः इत्यादि—** राग द्वेष भी आत्मा के साक्षात्गुण नहीं है अपितु वे ज्ञान की अवस्था विशेष हैं । श्रुति भी कहती हैं **कामः सङ्कल्पः इत्यादि—** अर्थात् काम सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति ही (लज्जा) घी बुद्धि भी (भय) ये सबके सब मन के धर्म हैं । **गीयते च० इत्यादि—** गीता में श्रीभगवान् ने इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख,

चेतना तथा धैप को क्षेत्र के अन्तर्गत पढ़ा है । इससे तो यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है । **चेतनाधितिः** का अर्थ ही यह होगा कि चेतना के द्वारा धारण किए जाने वाले सङ्घात को देह कहते हैं । **स्वृत्त्यनुगुण० इत्यादि**— यहाँ पर वृत्ति शब्द सत्ता या प्रवृत्ति का वाचक है । अर्थात् आत्मा और चैतन्य के सम्बन्ध के अधीन स्वसत्ता रूपी प्रवृत्ति सामान्य वाला शरीर है । यही शरीर का लक्षण है । इसीलिए अन्तर्यामी ब्राह्मण पृथिवी जल तथा आत्मा इत्यादि को परमात्मा का शरीर बतलाते हुए **यस्य पृथिवी शरीरम्० इत्यादि** कहा गया है । **तानि सर्वाणि० इत्यादि**— विष्णु पुराण में सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का शरीर कहा गया है ।

मूल— **किमिदं धीरिति उत्प्रेक्षाभिप्रायम् तन्न ज्ञप्तिविषयं तस्याः स्वाभाविकत्वस्य तस्यामेव श्रुतौ श्रूयमाणत्वात्, श्रूयते हि 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' इति च ज्ञातुरविनाशित्वादेव ज्ञानस्याविनाश-मुपपादयन्तीयं श्रुतिर्ज्ञातुः स्वरूपप्रयुक्तं ज्ञानमिति दर्शयति, न च दृष्टिविशेषणतया द्रष्टुरुपादनमिति सांप्रतम् पुल्लिङ्गनिर्देशविरोधात् हेतोश्च साध्यसमत्वापत्तेः, द्रष्टुः स्वरूपनिर्देशपरत्वेऽपि दृष्टिपदस्या-समाधेयमहेतुत्वं स्वपक्षहानिश्च, आत्मनस्तु नित्यत्वमप्रचाल्याने-कन्यायागमसिद्धं युक्तं हेतुतया व्यपदेष्टुम् न हि सति पदार्थे तत्स्वरू-पोपाधयो न भवितुमर्हन्ति सति कनक इव पैङ्गल्यम् प्रभेव च प्रदीपे, तेनायमर्थः आत्मस्वभावभूतायाश्चितेर्वाह्याभ्यन्तरविषयविशेष-संबन्धप्रकारप्राप्तदृष्टिघ्रातिरसयतिवक्तिश्रुतिमतिस्पृष्टि-विज्ञातिव्य-पदेशभेदाया; स्वात्मावभासिन्याः संसारापवर्गावस्थयोर्न जातुचिद्वि-परिलोपोविद्यत इति, 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा अनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः,' तथा 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा,' 'आत्मज्योतिःसम्राडिति होवाच तथाऽपवर्गदशायामेव छन्दोगाः । 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं**

नोत दुःखताम् सर्वं ह पश्यः पश्यति' 'नोपजनं स्मरन्' इति च 'स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मानसैतान् कामान् पश्यन् रमते।' अन्यायश्च 'जानात्येवायं पुरुषो ज्ञातव्यं तु न वेद' इत्याद्याः सकलकरणोपरमदशायामप्यात्मनः प्रबोधमभिदधानाः श्रुतयो बोधस्वभावतामस्य द्रढ़यन्ति । 'निर्वाणमय एवाहमात्मा ज्ञानमयोऽमलः' इत्यादि च पुराणे, ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः । इत्यादीतिहासे, भगवान् शौनकश्च ।

यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ।
दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥
यथोदपानकरणात् क्रियते न जलाम्बरम् ।
सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ॥
तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ।
प्रकाश्यन्तमे न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥

इति, अतएव हि सूत्रकारश्च 'ज्ञोऽत एव' इति ।

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह कहे कि अन्तःकरण के धर्मों में श्रुति धी को भी बतलाया है अतएव ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता है इसी बात को हृदय में रखकर प्रश्न उठाया गया है कि **धीः** पदार्थ क्या है ? इस पर सिद्धान्ती कहते हैं धी शब्द से चित्त की वृत्ति विशेष को ही यहाँ उत्प्रेक्षित किया गया है अतएव वह ज्ञान का वाचक नहीं है । यद्यपि काम इत्यादि को आत्मा का धर्म बतलाया गया है किन्तु ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु ये कर्मादि उपाधि जन्य है । **तस्याः इत्यादि**— ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक धर्म उसी श्रुति में बतलाया गया है । **श्रूयते हि० इत्यादि**— श्रुति कहती है **न विज्ञातुः इत्यादि**— विज्ञाता आत्मा के ज्ञान का कभी भी लोप नहीं होता है । दूसरी श्रुति भी कहती है **नहि द्रष्टुर्दृष्टे० इत्यादि**— अर्थात् द्रष्टा (ज्ञाता) आत्मा की दृष्टि (ज्ञान) का कभी लोप (नाश) नहीं होता है क्योंकि आत्मा नित्य है । **ज्ञातुरित्यादि०**— ज्ञाता आत्मा के नित्य

होने के कारण उसके ज्ञान को अविनाशी बतलाकर यह श्रुति बतलाती है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप निरूपक धर्म हैं । **न च दृष्टि० इत्यादि**— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि इस श्रुति में दृष्टि के विशेष रूप से द्रष्टु पद का प्रयोग किया गया क्योंकि, द्रष्टु पद का पुलिङ्ग में प्रयोग है और नियम जो लिङ्ग विशेष्य का होता है वही विशेषण का होता है । दूसरी बात यह है कि द्रष्टुः पद को विशेषण मानने पर हेतु भी साध्य सम (असिद्ध) होगा । अर्थात् आत्मा के नित्यत्व रूपी साध्य की सिद्धि के लिए श्रुति में उपन्यस्त अविनाशित्व रूपी हेतु असिद्ध हो जायेगा । **द्रष्टुः इत्यादि**— श्रुति के द्रष्टुः पद को स्वरूप निर्देश परक मानने पर भी दृष्टि पर हेतुत्वभाव असमाधेय है । अर्थात् उसको हेतुत्व की सिद्धी नहीं की जा सकती है । **स्वपक्ष० इत्यादि**— आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानने पर ज्ञान को आगन्तुक मानने वालों अपसिद्धान्त भी होगा । कहने का अभिप्राय है कि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि ज्ञाता ज्ञान स्वरूप ही है । इस साध्य की सिद्धि में व्याधिकरण सिद्ध होने के कारण आत्मा का नित्यत्व हेतु नहीं हो सकता है । यदि वे ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा तथा अविनाशी मानें तो अपसिद्धान्त नामक दोष होगा । **आत्मनस्तु० इत्यादि**— अनेक न्यायों तथा आगमों (शास्त्र वाक्यों) से सिद्ध आत्मा के नित्यत्व अप्रचाल्य (खण्डनीय नहीं) है । अतएव उसकी सिद्धि के लिए अविनाशित्व हेतु कहना उचित नहीं है । **न हि सतिपदार्थे० इत्यादि**— ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि पदार्थ रहे और उसका स्वरूप निरूपक न हो । **सति कनके० इत्यादि**— यदि सुवर्ण है तो उसमें पीतिमा रहेगी ही तथा यदि प्रदीप है तो उसकी प्रभा रहेगी ही । **तेनायमर्थः इत्यादि**— अतएव श्रुति का यह है कि आत्मा के स्वभाव रूप ज्ञान का बाह्य रूपादि तथा आभ्यन्तु सुखादि रूपी विषय विशेष के सम्बन्ध के प्रकार से प्राप्त दृष्टि चक्षुषप्रत्यक्ष, घ्राति = घ्राणजप्रत्यक्ष, रसयति-रासयान प्रत्यक्ष, वक्ति = शाब्दज्ञान, श्रुति = श्रावण प्रत्यक्ष मति अनुमान, स्पृष्टि= स्पार्शन प्रत्यक्ष, विज्ञाति = उपासना, इत्यादि रूप से ज्ञान का ही व्यपदेश होता है । वह ज्ञान स्वयम्प्रकाश है ।

उसका संसारावस्था तथा मुक्तावस्था में भी कभी भी लोप नहीं होता है। आत्मा के स्वरूप का वर्णन करती हुयी श्रुति कहती है कि **सयथा० इत्यादि**— जिस तरह नमक की डाली भीतर बाहर सब ओर से लवण रस स्वरूप ही है, उसी तरह से यह आत्मा भी भीतर तथा बाहर से पूर्ण रूप से ज्ञान स्वरूप ही है । **स्वेनाभास इत्यादि**— श्रुति आत्मा को स्वरूपतः तथा धर्मज्ञः भी पूर्ण रूप से ज्ञन स्वरूप बतलाती है । **आत्मज्योतिः इत्यादि**— श्रुति आत्मा को स्वयम्प्रकाश तथा सम्यक् प्रकाशमान बतलाती हैं ।

तथा अपवर्ग **दशायाम्० इत्यादि**— छन्दोग शाखा का अध्ययन करने वाले निम्नाङ्कित श्रुतियों के माध्यम से आत्मा को मुक्तावस्था में भी ज्ञानवान् बतलायी हैं । **न पश्यः इत्यादि**— यह श्रुति कहती है कि जिसने परमात्म साक्षात्कार कर लिया है वह रोग, दुःख आदि का अनुभव नहीं करता है, वह सबकुछ जानता है । वह अपने जन्म का भी स्मरण नहीं करता है । **सवा एष० इत्यादि**— श्रुति कहती है कि मुक्तात्मा अपने मन रूपी इस दिव्य नेत्र के द्वारा इन सभी काम्य पदार्थों का साक्षात्कार करते हुए रमण करता है । **अन्याश्च० इत्यादि**— दूसरी भी श्रुतियाँ कहती हैं कि आत्मा ज्ञानवान् ही है । वह किसी भी ज्ञातव्य वस्तु को स्वाप काल में नहीं जानता है । ये सभी श्रुतियाँ जब स्वापावस्था में सभी इन्द्रियाँ तथा शरीर अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं उस समय आत्मा के प्रबोध को बतलाती हुयी आत्मा के ज्ञान स्वभावत्व को ही पुष्ट करती हैं । **निर्वाणमय० इत्यादि**— यह आत्मा निर्वाण (मुक्त स्वरूप) है । यह ज्ञान प्रचुर है तथा भूख प्यास इत्यादि सभी दोषों से रहित है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी आत्मा को सभी प्रकाशकों को प्रकाशित करने वाला बतलाते हुए कहा गया है । **ज्योतिषामति तज्ज्योतिः** भगवान शौनक भी कहते हैं **यथान क्रियते० इत्यादि**— जैसे मल के प्रक्षालन के द्वारा मणि में कोई नई कान्ति नहीं उत्पन्न होती है, अपि उसमें पहले से ही विद्यमान स्वाभाविक कान्ति अभिव्यक्त हो जाती है, उसी तरह अज्ञानादि रूपी दोषों को दूर करने से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता

अपितु आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान ही अविर्भूत हो जाता है । जिस तरह जलाशय का निर्माण करने में उसमें नया जल नहीं उत्पन्न होता है अपि उसमें पहले से ही विद्यमान जल अविर्भूत हो जाता है । अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति कैसे की जा सकती है ? उसी तरह त्याज्य गुणों के विनष्ट हो जाने पर आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान इत्यादि गुण प्रकाशित होने लगते हैं, वे उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि ज्ञान आदि आत्मा के नित्य गुण हैं । **अतएव हि० इत्यादि—** इसीलिए सूत्रकार भी कहते हैं **ज्ञोतऽएव** अर्थात् आत्मा ज्ञानवान् ही है ।

संशय आत्मा के धर्मभूतज्ञान क अवान्तर भेद हैं

मूल— **तदेवमात्मस्वभावभूतस्य चैतन्यस्य विषयसंश्लेषविशेषु निश्चयसंशयादिव्यवहारभेदस्तत्तद्विशेषभाजि चैतन्ये वा चैतन्यस्य विषयेण दृढ़संयोगो हि निश्चयः तस्यैव बहुभिर्युगपद् दृढ़संयोगः संशयः ज्ञानवासनानुसारेण संश्लेषः स्मरणमित्यादिः, उक्तं च आत्म धर्मस्य चैतन्यस्य विषयेण संयोगो ज्ञानमित्युच्यते इति न चैवं संयोगस्योभयाश्रितत्वेन विषयस्यापि ज्ञातृत्वप्रसङ्गः विषयेण संयोगाभावात्, चैतन्येन हि तस्य संयोगः वाह्यप्रकाशवत् यथा खल्वालोकसंबन्धेऽपि प्रकाशे सूर्यादेरेव प्रकाशकत्वं न घटादेः। अथ सूर्यादितन्त्रत्वादालोकस्य स एव तद्धर्मी तत्संबन्धेनार्थान्तरस्य प्रकाशः इत्युच्यते इहापि तर्हि चैतन्यस्यात्मधर्मत्वात्तेनार्थान्तरं स्पृशन् स एव जानातीत्युपपद्यते तत्सिद्धं चैतन्यस्वभाव एवायमात्मा आत्मानं विदन्नेवास्ते अन्यत्तु निमित्तभेदानुसारेण जानाति न जानाति चेति।**

तत्त्वप्रकाशिका— तदेवम्० इत्यादि— इस तरह से आत्मा के स्वभाव भूत ज्ञान का जब भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध होता है तो उसके निश्चय, संशय इत्यादि, भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार भी होते हैं। **तत्तद विशेष० इत्यादि—** अथवा इस तरह के सारे व्यवहारों का आश्रय ज्ञान में ही होते हैं । **चैतन्यस्य० इत्यादि—** जब ज्ञान का विषय के साथ सुदृढ संयोग होता है तो वह निश्चय कहलाता है । **तस्यैव० इत्यादि—**

जब ज्ञान का ही अनेक विषयों से एक ही समय में दृढ संयोग नहीं होता है तो वह संशय कहलाता है । **ज्ञानवासना० इत्यादि**— जब ज्ञान की वासना (अनुभव अधीन होने वाले संस्कार रूपी ज्ञान के सूक्ष्मांश) के अनुसार विषयों का संश्लेष होता है तो वही स्मरण कहलाता है । **उक्तं च० इत्यादि**— यह कहा भी जा चुका है कि आत्मा के धर्मभूत ज्ञान का विषय के संयोग को ज्ञान कहते हैं **न चैवमित्यादि**— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि संयोग चूकि द्विष्ठ होता है अतएव ज्ञान तथा विषय के संयोग को ज्ञान मानने पर विषय में ज्ञातृत्व का प्रसङ्ग होगा । क्योंकि विषय के द्वारा संयोग नहीं होता है । यहाँ पर विषय शब्द विषय व्यापार का बोधक है । कहने का अभिप्राय यह है कि विषय का ग्रहण करने के लिए ज्ञान में ही व्यापार होता है । फलत: विषय एवं ज्ञान के संयोग के विभिन्न विषयों का ज्ञान होने पर भी ज्ञान अपने अनुकूल व्यापार युक्त चैतन्याश्रयत्व सम्बन्ध से आत्मा में ही रहता है । अतएव आत्मा में ही ज्ञान रहता है विषय में नहीं यह उपलब्धि के अनुसार मानना चाहिए । यह उसी तरह होता है जिस तरह प्रकाश एवं विषय के संयोग को ही प्रकाश होने पर भी प्रकाशकत्व सूर्य में ही रहता है । सूर्य के ही धर्मभूत आलोक प्रसार होता है । विषय का प्रकाशकत्व नहीं होता है । इस बात को आगे कहते हैं **चैतन्येन हि० इत्यादि**— ज्ञान के ही द्वारा विषय का संयोग होता है । वाह्य प्रकाश के समान । **यथा खलु० इत्यादि**— जिस तरह घटादि विषयों के साथ आलोक के सम्बन्ध को ही प्रकाश कहते हैं किन्तु प्रकाशक तो सूर्य ही हैं, घटादि विषय नहीं । **अथ सूर्यादि० इत्यादि**— यदि यह कहा जाय कि आलोक सूर्याधीन हैं । अर्थात् सूर्य के अधीन ही आलोक की स्थिति तथा प्रवृत्ति होती है । अतएव सूर्य का ही धर्म आलोक है । अतएव विभिन्न विषयों के सम्बद्ध होकर आलोकाश्रय होने के कारण सूर्य ही प्रकाशक है । **इहापि० इत्यादि**— तो यहाँ भी चैतन्य के आत्मा का धर्म होने के कारण आत्मा ज्ञान के द्वारा विभिन्न विषयों के साथ सम्पृक्त होकर उनका प्रकाशन करता है । अतएव आत्मा ही ज्ञाता है । **तत्सिद्धम्० इत्यादि**—

इस तरह यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । वह नित्य अनन्याधीन स्वयम्प्रकाश ही है । फलतः ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है । अन्य विषयों को वह इन्द्रियार्थ संयोगादि के द्वारा ही वह जानता है और इन्द्रियार्थ संयोग के अभाव के कारण नहीं जानता है ।

आत्मा के विषय में प्रमाणों का निरूपण

मूल— **तदेवं चैतन्यस्वभावः परिस्फुरन्नप्ययमात्मा गम्भीरजलाशयचरमीनवज्जल- संसृष्ठक्षीरवच्च न विविच्य स्फुटं चकास्तीति तदुपपादनन्यायानुगताः पूर्वानुमानभेदा वचनानि चाद्रियन्ते तैरप्यपरितुष्यन्तो यमनियमादियोगाङ्गानुष्ठानक्षपिताशुद्ध्यावरणमला निरोधाभ्यासपुटपाकनिर्धूतर जस्तमः-कलङ्कसत्त्वोद्रेकसमुत्थस्वेतर-सकलविशयवैलक्षण्यापरोक्षज्ञानाय प्रयतन्ते भावनाप्रकर्षपर्यन्ते चापरोक्षज्ञान मुदयत इति सर्ववादिनिर्विवादमिति न तदुपपादनायाद्य प्रयत्यते ।**

एवमात्मा स्वतःसिद्ध्यन्नागमेनानुमानतः ।
योगाभ्यासभुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाश्यते ॥४३॥

तत्त्वप्रकाशिका— तदेवम्० इत्यादि— इस तरह ज्ञान स्वभाव वाले रूप से प्रतीत होने वाला आत्मा उसी तरह से स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है जिस तरह गहरे जल में सञ्चरण करने वाले मीन की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती है । किञ्च उसका देहेन्द्रियादि उसी तरह से भेद ज्ञान नहीं होता है । जिस तरह जल मिश्रित दुग्ध भेद नहीं हो पाता है। अतएव **तदुपपादन० इत्यादि—** आत्मा एवं अनात्मा के भेद के प्रतिपादक पञ्चावयवात्मक अनुमान वाक्यों का तथा वचनानि = शास्त्रीय प्रमाण वाक्यों का समादर किया जाता है । **तैरत्यरितुष्यन्तः इत्यादि—** जिन योगी महापुरुषों को अनुमानों तथा शास्त्रीय प्रमाण वाक्यों से भी सन्तोष नहीं होता है, वे यम, नियम इत्यादि जो योग के आठ अङ्ग हैं उनके अनुष्ठान के द्वारा मन की अशुद्धि रूपी अज्ञान के आवरण को विनष्ट कर देते हैं । इस तरह योगाभ्यास के परिपाक से रजोगुण तथा तमोगुण

रूपी कालुष्य को दूर कर देने के कारण तथा सत्त्वगुण के उद्रोक के कारण उत्पन्न स्वेतर समस्त वस्तुओं से विलक्षण आत्मा के ज्ञान के लिए तब तक प्रयासरत रहते हैं जब तक कि आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो जाता है । **भावनाप्रकर्षप्रर्यन्ते॰ इत्यादि**— निरन्तर आत्मा का चिन्तन रूप भावना के प्रकर्ष पर्यन्त के सम्पन्न हो जाने पर योगजधर्मानुगृहीत विशुद्ध मानोजन्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है । इस बात को सभी वादी मानते हैं अतएव उसका प्रतिपादन करने के लिए इस समय मैं प्रयास नहीं कर रहा हूँ । **एवमित्यादि**— इस तरह अनुमान तथा शास्त्र प्रमाण के द्वारा स्वयम्प्रकाश रूप से सिद्ध होने वाले आत्मा का योगाभ्यास जन्य प्रत्यक्ष के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है ॥४३॥

आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन

मूल— **अथास्य कालावच्छेदपरीक्षा तत्र सुगतमतानुसारिण: सन्मात्रानुवन्धिनीं क्षणिकतामाचक्षाणा नित्यात्मदर्शनमेव सर्वानर्थमूलं मन्यमानाः क्षणभङ्गिनमेनं सङ्गिरन्ते, यत्सत्तत्वक्षणिकं सँ श्चायमात्मेति कथं पुन: सन्मात्रानुबन्धिनी क्षणिकता अक्षणिकस्य सत्तानुपपत्ते:, यन्न कस्मचित्कार्यायान्ततः सार्वज्ञयविज्ञानगोचरत्वायापि न प्रभवति न तस्य सद्भाव: संभाव्यत इत्यर्थक्रियाकारितैव सत्ता भावानाम्। न च सा स्वव्यापकभूतक्रमयौगपद्यविरहिण्यक्षणिके संभविनीत्यन्यत्र निरवकाशतया क्षणिकतयैवानुवध्यते, कथं पुनः क्रमयौगपद्ययोरर्थ-क्रियाव्यापकत्वं कथं वा तयारक्षणिकान्निवृत्तिः श्रूयताम् ।**

अर्थक्रियासु भावानां कर्तृत्वस्य द्वयी गतिः ।
क्रमेण युगपद्वेति न विधान्तरसंभवः ॥

भावाभाववदनयोरन्तयतरनिवृत्तावन्यतरव्यवस्थानादर्थक्रियाजनने भावनां न तृतीयप्रकारसम्भव इति क्रमाक्रमप्रतिबद्धैवाथाक्रया न चाक्षणिके क्रमयौगपद्ये सम्भवः ।

एतावानेवात्मसिद्धिभागः समुपलभ्यते ।

इति श्रीमद्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रवर्तनधुरन्धर परमाचार्य श्रीमद् भगवद् यामुनमुनि समनुगृहीते सिद्धित्रये आत्मसिद्धिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— अथास्य० इत्यादि— आत्मा के विषय में प्रमाण निरूपण के पश्चात्.इसके काल सम्बन्ध विषयक विचार का प्रारम्भ होता है । **तत्रसुगत० इत्यादि—** बौद्धमतावलम्बी कहते हैं आत्मा सनमात्र होने के कारण क्षणिक है वे यह मानते हैं कि आत्मा को नित्य मानने वाले दार्शनिकों का मत ही सभी अनर्थों का मूल है । इस तरह वे आत्मा को क्षणभङ्गी मानते हैं । आत्मा के क्षणिकत्व का अनुमान करते हुए वे कहते हैं **यत् सत्० इत्यादि—** अर्थात् जो सन्मात्र होता है वह क्षणिक होता है । आत्मा भी सन्मात्र है अतएव वह क्षणिक है । **कथं पुनः इत्यादि—** अब प्रश्न उठता है कि सन्मात्र क्षणिक होता है यह कैसे कहा जा सकता है । अर्थात् सत्त्व क्षणिकत्व व्याप्त होता है, यह यदि सिद्ध हो जाय तब तो उपर्युक्त कथन माना जाय किन्तु वह सिद्ध कैसे हो सकता है ? सत्त्व एवं क्षणिकत्व की व्याप्ति गृहीत नहीं है । इस पर बौद्धमतावलम्बी कहते हैं जो अक्षणिक होता है, उसकी सत्ता ही नहीं सिद्ध हो सकती है । आगे बौद्ध कहते हैं **यन्न कस्मै० इत्यादि—** जो किसी कार्य के योग्य नहीं होता है वह बुद्ध के ज्ञान का विषय नहीं होता है । जो सर्वज्ञ बुद्ध के ज्ञान का विषय नहीं होता है उसका सद्भाव भी सम्भव नहीं है । **अर्थक्रिया इत्यादि—** अतएव पदार्थों की सत्ता अर्थ क्रिया कारित्व रूप ही हैं । **न च सा० इत्यादि—** वह सत्ता क्रम तथा यौग पद्य रहित अक्षणिक पदार्थों में नहीं हो सकती है । अतएव अन्य वस्तुओं में अवकाश प्राप्त नहीं होने के कारण सत्ता को क्षणिकत्व व्याप्त ही मानना चाहिए । **कथम्० इत्यादि—** यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्रम तथा यौगपद्य इन दोनों में से किसी का भी अर्थ क्रिया कारित्व कैसे माना जा सकता है ? तथा क्रम एवं यौगपद्य ये दोनों अक्षणिक (स्थिर) पदार्थ में क्यों नहीं रह सकते हैं ? तो इसका उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं—

अर्थक्रियासु० इत्यादि— भाव पदार्थों का अर्थ क्रियाकारित्व दो

प्रकार से ही होता है क्रमशः अथवा युगपत् । इन दोनों से भिन्न कोई भी अर्थ क्रियाकारित्व का प्रकार होना सम्भव नहीं है ।।४४।।

भावाभाववद० इत्यादि— भाव तथा अभाव के समान अर्थ क्रिया को उत्पन्न करने में से किसी एक की निवृत्ति होने पर दूसरे अवश्य रहता है । अतएव भावपदार्थों में अर्थ क्रिया को उत्पन्न करने में इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं है । अतएव क्रमशः अथवा युगपत् इन दोनों से ही सम्बद्ध होती है । **न चाक्षणिके० इत्यादि—** किन्तु अक्षणिक पदार्थों में न तो क्रम हो सकता है और न तो यौगपद्य ही हो सकता है ।

इस तरह जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तविद् स्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य कृत आत्मसिद्धि की तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या सम्पूर्ण हुयी।

नोट— आत्म सिद्धि का इतना ही भाग समुपलब्ध होता है, लगता है, इससे आगे का भाग संरक्षण विषयक अनवधानता के कारण विनष्ट हो गया ।

इस तरह श्रीमद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकों में अग्रगण्य परमाचार्य श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी कृत आत्मसिद्धि के उपलब्ध भाग की तत्त्वप्रकाशिका सम्पूर्ण हुयी ।



नमः श्रियै, श्रीधराय नमः

श्रीमद्भगवद्यामुनमुनये नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

परमाचार्य श्रीमद् यामुनमुनि प्रणीत सिद्धित्रये

ईश्वरसिद्धिः

तत्त्व-प्रकाशिका समुद्भासिता

मीमांसकों का ईश्वर की सिद्धि में पूर्व पक्ष

मूल— **तत्र कस्यचिदेकस्य वशे विश्वं प्रवर्तते ।**
इति साधयितुं पूर्वं पूर्वपक्षं प्रचक्ष्महे ॥१॥

तत्र मीमांसकाः प्राहुर्नायं सर्वार्थदर्शनशक्तिसंपन्नः पुरुषोऽभ्युपगममर्हति अतिपतितसकलसाधकप्रमाणसंभावनाभूमित्वात् स्फुटविविधबाधकत्वाच्च तथा हि अस्य प्रत्यक्षमन्यद्वा साधकं भवेत् प्रत्यक्षमपि लौकिकं यौगिकं वा ।

तत्त्वप्रकाशिका— तत्र इत्यादि— चेतनाचेतनात्मक यह सम्पूर्ण जगत् किसी एक ही सर्वेश्वर तत्त्व के अधीन रहकर प्रवृत्त होता है, इस अर्थ की सिद्धि करने के लिए पहले हम (श्रीमद् यामुनाचार्य) मीमांसकों के पूर्वपक्ष को उपन्यस्त करते हैं ।

तत्र मीमांसकाः प्राहुः इत्यादि— मीमांसक विद्वान् कहते हैं कि सभी विषयों का साक्षात्कार करने वाले तथा सभी कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न, ईश्वर नामक पुरुष विशेष को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह ईश्वर किसी साधक प्रमाण का विषय नहीं है। तथा उस ईश्वर की सत्ता में अनेक प्रकार के बाधक प्रमाण भी उपलब्ध

होते हैं । **तथाहि इत्यादि**— यहाँ पर प्रश्न होता है कि उस ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, अथवा किसी दूसरे प्रमाण से होती है? यदि प्रत्यक्ष से होती है तो वह लौकिक प्रत्यक्ष है ? कि यौगिक (योगजन्य) प्रत्यक्ष है ?

मूल— **व्यवस्थितमितस्वार्थं न तावदिह लौकिकम् ।**
साधनं तेन सर्वार्थतज्ज्ञानादेरसिद्धितः ॥२॥

सर्वार्थ दर्शनशक्तिशालिनमवगमयन्तो हि देशकालस्वभाव-विप्रकर्षव्यवधानजुषः सर्व एवार्थास्तद्दर्शनं शक्तिश्च गोचरयितव्यानि, न च विद्यमानेन्द्रियसन्निकर्षयोग्यकतिपयविषयनियतवृत्ते-र्लौकिकप्रत्यक्षस्य निरवधिरयं महिमा संभावनाभूमिरिति कथमिव तदिह साधनमिति मन्येमहि ।

तत्त्वप्रकाशिका— व्यवस्थित० इत्यादि— ईश्वर में लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि उसका विषय सीमित और व्यवस्थित होता है । अतएव उस प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है । चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा रूप, रूपी तथा रूपैकार्थ समवेत संख्या आदि का ही ग्रहण होता है, उसके द्वारा रसादि का ग्रहण नहीं होता है अतएव चाक्षुषप्रत्यक्ष सीमित होता है । किञ्च चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा उद्भूत रूपत्व तथा उद्भूत महत्त्वगुण सम्पन्न वस्तु का ही ग्रहण होता है सूक्ष्म परमाणु आदि का उसके द्वारा ग्रहण नहीं होता अतएव उसकी व्यवस्थितता भी है । इसी तरह रासन तथा त्वाच आदि भी प्रत्यक्ष सीमित और व्यवस्थित होते हैं ।इस तरह स्पष्ट है कि ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है । इसी तरह केवल मन के द्वारा आन्तर, सुखादि का ही ग्रहण होता है अतएव आभ्यन्तरेन्द्रिय के द्वारा भी सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता । इस तरह स्पष्ट हो गया कि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर का ग्रहण नहीं हो सकता है ।

सर्वार्थदर्शन० इत्यादि— अर्थात् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर

का ज्ञान कराने वाले प्रमाण को देश विप्रकार्ष, काल विप्रकर्ष तथा स्वभाव विप्रकर्ष से युक्त तथा व्यवहित सभी विषयों तथा उनके दर्शन तथा सभी शक्ति को भी अपना विषय बनाना चाहिए। **न च० इत्यादि**— केवल विद्यमान तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष के योग्य कतिपय विषयों को अपना विषय बनाने वाले लौकिक प्रत्यक्ष की निस्सीम ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर को अपना विषय बनाने में समर्थ्य नहीं है। अतएव ईश्वर की सिद्धि में वह कैसे प्रमाण बन सकता है ?।

योगिप्रत्यक्ष के द्वारा भी अतीत एवं अनागत विषयों का ग्रहण

मूल— **नापि योगिप्रत्यक्षमस्य साधकं यतः ।**
प्रत्यक्षत्वे तदप्येवं विद्यमानैकगोचरम् ।
भूतादिगोचरं वा न प्रत्यक्षं प्रतिभादिवत् ॥३॥

तत्खलु योगिविज्ञानमैन्द्रियकं न वा ऐन्द्रियकमपि वहिरिन्द्रिय-संभवमान्तरकरणजनितं वा वहिरिन्द्रियाणि तावत्समधिगतनिज-विषयसन्निकर्ष-सहकारीणि तद्गोचरज्ञानजनननानीति जगति विदितम्। अतो न रसनादिभिः रजतातिवृत्तव्यवहितादिसकलविषय-वेदनप्रसङ्गः, न चाविद्यमानै रजतादिभिः संभवति सन्निकर्षः तस्य द्व्याश्रयत्वात् आश्रयाभावे तदसंभवात्, अतोऽपेक्षितोऽर्थसन्निकर्षः सहकारिविरहे कथमिन्द्रियाण्यतीतादिविषयसाक्षात्काराय कल्पेरन्, भवति च यद्यत्सहकारि यत्कार्यजननं तत्तदभावे न तज्जनयति यथा क्षितिसलिलसहकार्यकुरकार्यजननवीजं क्षित्याद्यभावेऽङ्कुरम् अर्थसन्निकर्षसहकारीणि वहिरिन्द्रियाणि ज्ञानजननातीति तान्यपि नातीतेऽनागते वार्थे ज्ञानं जनयन्तीति न तदुपजनितं प्रत्यक्षं यथोक्तविषयनियममतिक्रामति ।

तत्त्वप्रकाशिका— नापीत्यादि— ईश्वर की सिद्धि में योगि प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि **प्रत्यक्षत्वे० इत्यादि**— वह योगि प्रत्यक्ष भी यदि प्रत्यक्ष है तो वह केवल वर्तमान विषयों का ही

ग्राहक हो सकता है, अतएव वह सभी विषयों का ग्राहक नहीं हो सकता है । वह अतीत कालिक विषयों को भी अपना विषय नहीं बना सकता है । वह प्रतिभादि ज्ञान के समान प्रतीति विशेष ही हो सकता है । अतएव ईश्वर की सिद्धि में योगि प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं हो सकता है । **तत्खलु० इत्यादि—** यहाँ प्रश्न होता है कि वह योगि प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य होता है कि नहीं ? इन्द्रिय जन्य होने पर भी प्रश्न है कि वह बहिरिन्द्रिय जन्य है, यहा आभ्यन्तरेन्द्रिय जन्य ? **बहिरिन्द्रियाणि० इत्यादि—** बहिरिभ्यिाँ अपने विषयों के सन्निकर्ष रूपी सहकारी को प्राप्त करके, उन विषयों के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं इस बात को सारा जगत् जानता है । अतएव रसनेन्द्रिय आदि के द्वारा अनुत्पन्न तथा अतीत एवं व्यवहित आदि सभी विषयों के ज्ञान का प्रसङ्ग नहीं है । **न चाविद्यमान० इत्यादि—** अवर्तमान तथा अनुत्पन्न विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता है । क्योंकि सन्निकर्ष द्विष्ठ होता हैं विषय रूपी आश्रय के अभाव में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं सम्भव है । **अतः इत्यादि—** अतएव इन्द्रिय सन्निकर्ष के लिए विषयों का होना अपेक्षित होता है । **अतएव० इत्यादि—** विषय सन्निकर्ष के अभाव में इन्द्रिया अतीत कालिक तथा अनागत कालिक विषयों का साक्षात्कार करने में कैसे समर्थ हो सकती है । **भवति इत्यादि—** यहाँ इस प्रकार का अनुमान भी होता है **यत् सहकारी० इत्यादि—** जिस सहकारी से विशिष्ट हो जो कार्य को उत्पन्न करता है, वह उस सहकारी के अभाव में उस कार्य को नहीं उत्पन्न करता है जैसे पृथिवी तथा जल रूपी सहकारी से विशिष्ट होकर ही बीज अङ्कुर रूपी कार्य को उत्पन्न करता है । वह पृथिवी तथा जल आदि सहकारियों के अभाव में बीज अङ्कुर रूपी कार्य को नहीं उत्पन्न करता है । **अर्थ सन्निकर्ष० इत्यादि—** विषय सन्निकर्ष रूपी सहकारी से विशिष्ट होकर ही बहिरिन्द्रयाँ रूपादि के ज्ञान को उत्पन्न करती है । **इति तान्यपि० इत्यादि—** अतएव बहिरिन्द्रियाँ भी अतीत कालिक तथा अनागत कालिक विषयों के ज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकती हैं । **इतिनतदु० इत्यादि—** अतएव योगियों की भी बहिरिन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान भी उपर्युक्त नियम का अतिक्रमण नहीं कर सकता है ।

आभ्यन्तरेन्द्रिय के भी द्वारा अतीत एवं अनागत विषयों का ज्ञान नहीं

मूल—- **नाप्यान्तरकरणसम्भवम् आन्तरगोचर एव सुखादौ स्वान्तस्वातन्त्र्यात्, वाह्यविषयमितिषु च मनसो निरंकुशकरणताङ्गीकारे हि कृतं चक्षुरादिभिः, अतश्च न कश्चिदन्धो वधिरो वा भवेत्, भवति चात्र विमतिपदं मनोबहिरिन्द्रियनिरपेक्षं न बाह्यप्रत्यक्षगोचरे प्रवर्तते तत्र तत्तन्त्रवृत्तित्वात् यद्यत्र यत्तन्त्रवृत्ति न तत्तन्निरपेक्षं तत्र प्रवर्तते यथाऽलोकापेक्षप्रबृत्ति चक्षुः स्वगोचरेऽन्धतमस इति, न च सिद्धौषधमन्त्रतपःसमाधिमहिमसमासादितातिशयानीन्द्रियाणि कदाचिदपजहति समधिगतविषयनियममिति संभवति, सांसिकसामर्थ्याविर्भावैकफलत्वात्तेषां सामर्थ्यस्य च प्रतिनियमात्, न खलु सुप्रयुक्तभेषजशतविहितसंस्कारमपि श्रोत्रं रूपरसविभगावगमाय कल्पते, भवति च विवादाध्यासितवाह्याभ्यन्तरकरणपाटवातिशयोऽनुल्लङ्घितसीमा ऐन्द्रियकप्रकर्षत्वात् दृश्यमानतत्प्रकर्षवत् इत्यैन्द्रियकं ज्ञानं नातीतादि गोचरयति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— आभ्यन्तरेन्द्रिय मन भी अतीत कालिक तथा अनागत कालिक विषयों का ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि वह आभ्यन्तर विषय सुखादि के ही ग्रहण में स्वतन्त्र है । **बाहय विषय० इत्यादि**— बाह्य विषयों के ज्ञानों में मन की निरङ्कुश करणता (साधकतमता) स्वीकार करने पर तो चक्षुरादि इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायेंगी । फलतः न तो कोई अन्धा होयेगा और न कोइ बधिर हो पायेगा । **भवति चात्र० इत्यादि**— इस विषय में अनुमान भी होता है विवादास्पद मन बहिरिन्द्रय निरपेक्ष होकर, बाह्य विषयों के ग्रहण में नहीं प्रवृत्त होता है । क्योंकि बाह्य विषयों के ग्रहण में वह बहिरिन्द्रियों के सहकारित्व की अपेक्षा रखता है। **यद् यत्र० इत्यादि**— जो जिस वस्तु के ग्रहण करने में जिसके अधीन होकर प्रवृत्त होता है वह उस वस्तु के ग्रहण में उस सहकारी से निरपेक्ष होकर नहीं प्रवृत्त होता है । **यथाऽऽलोक० इत्यादि**— जैसे आलोक

रूपी सहकारी से विशिष्ट ही रूप ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय घोर अन्धकार में अपने विषय के ग्रहण में नहीं प्रवृत्त होती है ।

न च सिद्धौषध० इत्यादि— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सिद्धौषध, मन्त्र, तपस्या समाधि की महिमा योगियों की इन्द्रियों में अतिशयाधान हो जाता है, अतएव योगियों की इन्द्रिया विप्रकृष्ट तथा अत्यन्त सूक्ष्म विषय विषयों का ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है, क्योंकि, अतिशयेता सम्पन्न भी इन्द्रियाँ भी कभी भी सहकारी सापेक्ष इन्द्रियों के विषय ग्रहण में प्रवृत्ति रूपी नियम का परित्याग नहीं कर सकती हैं । **सांसिद्धिक० इत्यादि—** सिद्धौषध तथा मन्त्र आदि के द्वारा इन्द्रियों के स्वाभाविक शक्ति में ही समर्थ्य आ जाता है और सामर्थ्य का भी यही नियम है कि उसको अपने विषय के ग्रहण के इन्द्रियों में पटता आ जाती है । **न खलु० इत्यादि—** अच्छी तरह सैकड़ों औषधियों का प्रयोग करने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा रूप तथा रस के भेदों का ज्ञान नहीं हो सकता है । **भवति च० इत्यादि—** इस विषय में इस प्रकार का अनुमान भी होता है विवादास्पद बाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों का पाटवातिशय अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता है, कयोंकि वइ इन्द्रियों में प्रकर्षाधान रूप है । **दृश्यमान० इत्यादि—** क्योकि देखा जाता है कि अयोगियों के भी चक्षुरिन्द्रिय में आहित प्रकर्ष अपने विषय ग्रहण की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है, उसी तरह योगियों की भी आतिशय युक्त इन्द्रियाँ अपने विषय की ग्रहण की मर्यादा का त्याग नहीं कर सकती है । **इत्यैन्द्रियकम्० इत्यादि—** इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय जन्य ज्ञान अतीत तथा अनागत विषयों का ग्रहण नहीं कर सकती हैं ।

अनैन्द्रियिक भी योगियों के ज्ञान के द्वारा सर्वार्थ की सिद्धि असम्भव

मूल— **भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तु सत्यपि विशदनिर्भासित्वे प्राच्यानुभवगोचरादनधिकमधिकं वाऽध्यवस्यतः स्मृतिविभ्रमस्रोत-**

सोन्यतरावर्तपरिवर्तिनः कुतः प्रामाण्यकूलप्रतिलम्भः कुतस्तरां च प्रत्यक्षतयोत्तम्भनं प्रत्यक्षस्य वा सतः कथमिव विदितविषय-नियमव्यतिक्रमोऽतिक्रमतो वा कुतः प्रत्यक्षत्वमिति न विश्वानुभवैश्व-र्यशालिनि प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।

तत्त्वप्रकाशिका— भावना के प्रकर्ष की चरम सीमा पर उत्पन्न होने वाले ज्ञान को विशद रूप से प्रकाशक होने पर भी पहले अनुभव किए गये विषय वाले के ही समान प्रकाशित होने पर वह स्मरण ही होगा और यदि उससे अधिक प्रकाशित होए तो वह भ्रमक कहलायेगा। अतएव ऐसे ज्ञान की प्रामाणिकता कैसे हो सकती है ? **कुतस्तराम्० इत्यादि**— तथा उसको प्रत्यक्ष भी कैसे माना जा सकता है ? **अतिक्रामत० इत्यादि**— यदि वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप सहकारी के नियम का उल्लंघन करता है तो वह प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है । **न विश्वनुभव० इत्यादि**— इस तरह स्पष्ट है सर्वज्ञ परमात्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है ।

कहने का अभिप्राय है कि सबका साक्षात्कार करने वाले सम्पूर्ण जगत् के कर्त्ता, सबों के नियन्ता ईश्वर में हम संसारियों का या योगियों का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है ।

ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी साधक नहीं हो सकता है

मूल— **नापि प्रमाणान्तरं तत्खल्वनुमानमागमो वा अनुमानमपि विशेषतोदृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा तत्र सकलपदवीदवीयसि भगवति न तावत्स्वलक्षणसाक्षातकारपूर्वकाविनाभावावधारणाधीनोदयत-वादिदमनुमानमुदेतुमलम् । न ह्यन वगतचरहुतभुजस्तदविनाभावितया धूममनुसंधातुमीशते, न च सर्वार्थनिर्माणसाक्षात्कारपअीयसि लिंगंसामान्यतोदृष्टमपि किंचन लभ्यते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— नापि० इत्यादि— ईश्वर में प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त भी कोई प्रमाण नहीं हो सकता है । प्रश्न है कि ईश्वर में प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त कौन सा प्रमाण हो सकता है ? अनुमान या आगम ? अनुमान में

विशेषता को दृष्ट या सामान्यतो दृष्ट ? **तत्र सकलपदीदवीयसि० इत्यादि**— ईश्वर किसी भी इन्द्रिय के विषय नहीं हो सकते हैं, अतएव उनका ग्राहक विशेष तो दृष्टानुमान नहीं हो सकता है क्योंकि विशेष तो दृष्टानुमान में सिषाधयिषित आकार में विशिष्ट साध्य निरूपित व्याप्ति ग्रह होता है । उसमें विशेष तो दृष्ट अनुमान की इसलिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है कि उसमें आसाधारण ग्रहण पूर्वक होता है । उसमें साध्य के असाधारण आकार का पहले ज्ञान होना आवश्यक होता है । उस असाधारण आकार के ग्रहण के बिना विशेषतो दृष्ट अनुमान की प्रवृत्ति होती ही नहीं । ईश्वर का साक्षात्कार हो नहीं सकता है । साक्षात्कार हुए बिना उसके असाधारण आकार का ज्ञान कैसे होगा फलतः ईश्वर में विशेषतोदृष्ट अनुमान नहीं हो सकता । **नहयनवगतचर० इत्यादि**— जिसने बहिन के धूम के साथ सहचार का दर्शन नहीं किया है, वह बह्नित्वावच्छिन्न बह्नि का धूम के साथ व्याप्ति ग्रह नहीं कर सकता है । अनुमान करने वाला व्यक्ति जब पहले महानस आदि में धूम और बह्नि का साक्षात्कार किए रहता है तब वह अग्नि को देखकर उसके धूमत्वच्छिन्न होने का अनुमान करता है । **न च सर्वार्थनिर्माण० इत्यादि**— जो ईश्वर सभी वस्तुओं का निर्माण करने में तथा सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करने में निपुण है उस ईश्वर में सामान्यतो दृष्ट कोई लिङ्ग भी नहीं है । क्योंकि सामान्यतो दृष्टानुमान में सिषाधयिषित आकार विशेष सामान्य धर्मवच्छिन्न के साथ लिङ्ग का व्याप्ति ग्रह होता है । फलतः ईश्वर की सिद्धि में न तो विशेष तो दृष्ट अनुमान हो सकता है और न सामान्यतो दृष्ट अनुमान ही प्रमाण हो सकता है ।

नैयायिक द्वारा ईश्वर में सामान्यतो दृष्टानुमान प्रमाण का प्रतिपादन

मूल— **नन्वेकचेतनाधीनं विवादाध्यासितं जगत् ।**
अचेतनेनारब्धत्वादरोगस्य शरीरवत् ॥४॥
तथा सर्वार्थनिर्माणसाक्षात्करणकौशलम् ।
कार्यत्वादेव जगतस्तत्कर्तुरनुमीयताम् ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका— विवादास्पद जगत् एक चेतन के अधीन है, क्योंकि जगत् अचेतन पदार्थों से निर्मित है, जो अचेतन द्रव्य से निर्मित होता है, वह एक चेतन के अधीन होता है । निरोग शरीर के समान । नीरोग शरीर अचेतन पदार्थों से निर्मित होता है । और वह एक-एक चेतन के अधीन रहता है । रोगी शरीर चूकि अनेक चेतनों के अधीन होता है, इसीलिए नीरोग शरीर को दृष्टान्तर रूप से उपन्यस्त किया गया है ।।४।।

तथेत्यादि— जगत् चूकि कार्य है, जो-जो कार्य होता है, उसका-उसका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होता है । इस जगत् रूपी कार्य का भी कोई-न-कोई कर्ता होगा ही जगत् का जो कर्ता है वही ईश्वर है, क्योंकि ईश्वर सभी वस्तुओं के निर्माण तथा सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करने में निपुण है ।।५।।

मूल— **सर्वं हि कार्यमुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनसंवेदिचेतनरचितमवगतं घटमणिकगृहादिकार्यं च विमतिपदमवनिगिरिमहार्णवादीति तदपि तथाविधबुद्धिमद्धेतुकमध्यवसीयते, न च कार्यत्वमसिद्धमिति वाच्यम् अवयवसन्निवेशादिभिर्हेतुभिस्तत्सिद्धेः, इह चान्त्यावयविभ्यः प्रभृतिद्व्यणुकमखिलमवयविक्रमनिहीयमाननानावयवव्यतिषङ्गविशेषजनितमव गतमित्यन्तत उपादानं चतुर्विधाः परमाणवः प्रपञ्चस्य तेषामादिपरिस्पन्दश्च तदनुगुणादृष्टविशिष्टतत्तत्क्षेत्रज्ञसंयोगासमवायिकारणक इति उपकरणमपि समस्तक्षेत्रज्ञवर्तीनि धर्माधर्मलक्षणान्यदृष्टानि प्रयोजनं पुनस्तदभिनिर्वर्तितविचित्रार्थक्रियाकारश्चेतनोपकारप्रकाराभेदोऽपर्यन्तस्तदुपभुजस्त एव क्षेत्रज्ञाः संप्रदानम् । न चामी स्वसमवोयिनावपि धर्माधर्मावलमवलोकयितुमिति तदतिरेकी निखिलभुवननिर्माणनिपुणोऽधिकरणसिद्धान्तसमधिगतनिरतिशयसहज सकलविषयसंविदैश्वर्यशक्त्यतिशयः पुरुषधौरेयकः किमिति न सामान्यतादृष्टलिङ्गादनुमीयते ।**

तत्त्वप्रकाशिका— सर्व हि० इत्यादि— जितने भी घट, मणि

तथा गृह आदि कार्य हैं वे उन सबों का कर्ता (निमित्त कारण) वही चेतन होता है जो उन कार्यों के उपादान (समवायीकारण) उपकरण (सहकारी) सम्प्रदान (उपभोक्ता) तथा प्रयोजन का ज्ञाता ही चेतन देखा जाता है । इस वाक्य के द्वारा नैयायिक ने यह सिद्ध किया है कि सभी कार्यों का कोई-न-कोई कर्त्ता अवश्य होता है । **कार्यं च० इत्यादि**— विवादास्पद पृथिवी, पर्वत तथा महार्णव आदि भी कार्य हैं, इससे सिद्ध होता है कि इन कार्यों का भी कोई ऐसा कर्ता होगा जो इन सबों के उपादानों, उपकरण, सम्प्रदानों तथा प्रयोजनों को जानता होगा । **न च कार्यत्वम्० इत्यादि**— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि मही, महीधर, तथा महार्णव आदि का कार्यत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि ये सबके सब सावयव हैं । **इहच० इत्यादि**— अन्त्यावयवी से लेकर आद्य अवयवी द्वयगुण पर्यन्त जितने भी अवयवी (कार्यद्रव्य समूह) हैं वे सबके सब अवयवों के संयोग विशेष से उत्पन्न देखे जाते है । उत्तरोत्तरापेक्ष या पूर्व-पूर्व कार्य में अवयवों की अल्पता को क्रम निहीय मान कहा गया है । अवयव संश्लेष विशेष से उत्पन्न होने की सिद्धि कहीं पर तो प्रत्यक्ष के द्वारा होती है और कहीं पर अनुमान के द्वारा होती है । जगत् के अन्त्योपादान भी चार प्रकार के परमाणु हैं । वे है पृथिवी के परमाणु, जल के परमाणु, तेज के परमाणु और वायु के परमाणु । **तेषामादिपरिस्पन्द० इत्यादि**— उन परमाणुओं में जो सर्वप्रथम परिस्पन्द (क्षोभ) उत्पन्न होता है, वह परिस्पन्द के अनुकूल अदृष्ट से विशिष्ट विभिन्न क्षेत्रज्ञों (जीवों) के संयोग से होता है । **उपकरणमपि० इत्यादि**— परिस्पन्दन का उपकरण (निमित्तकारण) भी सभी जीवों में रहने वाले धर्म तथा अधर्म रूपी अदृष्ट हैं । कणाद महर्षि ने भी आद्य परिस्पन्द का कारण अदृष्ट को बतलाते हुए कहा है **अग्नेरुर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्कारितम्** । अर्थात् अग्नि के ऊपर की ही ओर जलने, वायु का तिरछा चलना, अणुओं एवं मन में होने वाले आद्यकर्म, ये सबके सब अदृष्ट वशात् ही होते हैं । **प्रयोजनं पुनः इत्यादि**— सृष्टि का प्रयोजन है सृष्टि के द्वारा सम्पादित किए जाने

वाली विचित्र अर्थ क्रियाएँ । वे चेतनों के नाना प्रकार के उपकार स्वरूप होती है । **तदुपभुजः इत्यादि**— साक्षात् अथवा परम्परातः कार्य पदार्थों के द्वारा सम्पादित भोगों का अनुभव करने वाले जीव ही उनके सम्प्रदान हैं । **न चामी० इत्यादि**— ये जीतने भी जीव हैं वे अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म तथा अधर्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते है। अतएव उन जीवों से भिन्न सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करने में समर्थ अधिकरण सिद्धान्त के द्वारा ज्ञात निस्सीम तथा स्वाभाविक रूप से सभी विषयों के ज्ञान रूपी ऐश्वर्य तथा शक्ति से सम्पन्न पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ ईश्वर का सामान्यतोदृष्टलिङ्ग के द्वारा क्यों नहीं किया जा सकता है ।

अधिकरण सिद्धान्त को बतलाते हुए न्यास सूत्र में कहा गया है **यत्सिद्धावन्यत प्रकरण सिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धान्तः** अर्थात् जिसकी सिद्धि के बिना प्रकृत अर्थ की सिद्धि न हो उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं । इस तरह का प्रकृत अर्थ की सिद्धि में साधक रूप से सिद्ध होने वाला विषय ही, अधिकरण सिद्ध से सिद्ध होता है । कर्ता को सम्पूर्ण विषयों को साक्षात्कार करने वाला माने बिना मही महीधर तथा महार्णवादि के सकर्तृत्व प्रकृति अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है इसतरह अधिकरण सिद्धान्त के द्वारा सर्वज्ञ तथा सर्वशक्ति मान कर्ता का ज्ञान होता है ।

मीमांसकों द्वारा नैयायिकों के द्वारा उपन्यस्त ईश्वरानुमान का खण्डन

मूल— **तदिदमविदितानुमानवृत्तस्य स्वमतिरचिततरलतर्कोल्लसितमिति परिहंसन्ति मीमांसकाः । तथा हि किमिदमेकचेतानाधीनत्वं नामाभिप्रेतं तनुभुवनादेः, तदायत्तत्वमिति चेत् ।**

किमस्य तस्मिन्नायत्तं किन्नु जन्माथ वा स्थितिः ।
प्रवृत्तिर्वा द्वयोस्तावत्साध्यहीनं निदर्शनम् ॥६॥

न खलु शरीरमेकचेतनाधीनोत्पत्तिस्थिति, ये हि यद्देहाधीनसुखदुःखोपभोगभागिनः, भवति हि तदुतचादिृष्टशालिनां सर्वेषामेव तेषां तद्देहिन इव तदुत्पत्तिस्थितिमित्तत्वम् । अपि च शरीरावयविनः

स्वावयवसमवायलक्षणा स्थितिरवयवव्यतिषंगविशेषादृते न चेतयितारं परमपेक्षन्ते, या पुनस्तदपेक्षिणी प्राणनलक्षणा स्थितिः न सा पक्षीकृते क्षित्यादौ संभवतीति स्थितिमपि नैकरूपां पक्षसपक्षानुयायिनीमुदीक्षामहे, एकचेतनाधीनप्रवृत्तित्वे तु प्रबलबहुजनसरभसप्रयत्नप्रचाल्यैरुपलतरुरथादिभिर्व्यभिचारः आरब्धत्वादेव चैतत्साध्यसिद्धावधिक मिदमुपादानविशेषवचनम् ।

तत्त्वप्रकाशिका— तदिदमित्यादि— नैयायिकों द्वारा उपन्यस्त अनुमान का उपहास करते हुए मीमांसक कहते हैं कि नैयायिकों को अनुमान के स्वरूप का ठीक ज्ञान नहीं है । वे नहीं जानते हैं कि दृष्ट सजातीय पदार्थ की कही अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है अतीन्द्रिय विषय की नहीं नैयायिकों ने अपनी बुद्धि से कल्पित तथा अव्यवस्थित तर्काभास के द्वारा विलक्षण पुरुष की सिद्धि की है । **तथाहि० इत्यादि—** नैयायिक जो शरीर तथा जगत् को एक चेतनाधीन जो बतलाया, उस एक चेतनाधीनत्व का क्या अभिप्राय है ? यदि वे एक चेतनाधीनत्व रूप एक चेतनाधीत्व को मानें तो उसका खण्डन करते हुए करते हैं । **किमस्य० इत्यादि—** वे एक चेतनाधीन कहकर संसार की उत्पत्ति को एक चेतनाधीन सिद्ध कहते हैं ? या संसार की स्थिति को एक चेतनाधीन सिद्ध करते हैं, या संसार की प्रवृत्ति को एक चेतनाधीन सिद्ध करते हैं । उत्पत्ति या स्थिति को एक चेतनाधीन मानें तो दृष्टान्त रूप से उपन्यस्त नीरोग देह के एक चेतनाधीन उत्पत्ति और स्थिति नहीं होने से साध्य विकल दृष्टान्त होगा तथा व्याप्व्य सिद्धि रूप व्यभिचार भी होगा ।

न खलु० इत्यादि— शरीर की उत्पत्ति एक चेतनाधीन नहीं होती है । जिस देह के द्वारा जिन शरीरधारियों को जितना सुख अथवा दुःख भोगना होता है, उसके लिए उचित अदृष्ट से युक्त उन सभी शरीर धारियों का अदृष्ट भी उस शरीरधारी के अदृष्ट के समान ही उस शरीर की उत्पत्ति एवं स्थिति का निमित्त कारण होता है । **अपि च इत्यादि—** किञ्च शरीर रूपी अवयवी की स्थिति अपने अवयवों से समवाय के अतिरिक्त किसी चेतन के अधीन नहीं होती है, यह देखा भी जाता है।

यायुनः इत्यादि— चेतना सापेक्ष जो जीवित रहना रूपी जो स्थिति है, वह पक्ष भूत पृथिवी में नहीं पायी जाती है । इस तरह स्थिति भी एक समान रूप से सपेक्ष तथा सपेक्ष दोनों में नहीं पायी जाती है एक **चेतनाधीन प्रवृत्ति इत्यादि**— एक चेतनाधीन प्रवृत्ति का भी सद्भाव अनेक प्रबल लोगों कठिन प्रयास द्वारा हिलायी जाने वाली शिला, वृक्ष तथा रथ आदि में नहीं पाया जाता है । **आरब्धत्वदिव० इत्यादि**— यदि इस साध्य सिद्धि के लिए आरब्धत्व (जन्यत्व) को ही हेतु मानें तो फिर नैयायिकों ने जो अचेतन जो विशेषण दिया है, वह व्यर्थ विशेषण होगा । फलतः हेतु में अधिक विशेषणत्व नामक दोष होगा ।

महीमहीधर महार्णवादि के सकर्तृत्वानुमान में मीमांसकों द्वारा सिद्ध साधनत्व नामक दोष का उपपादन

मूल— **चेतनाधीनतामात्रसाधने सिद्धासाध्यता ।**
चेतनैर्भोक्तृभिर्भाग्यः कर्मभिर्जन्यते हि नः ॥७॥

युक्तं चैतद्यदुभयवादिसिद्धानामेव चेतनानां कतृत्वाभ्युपगमो लाघवात्, न चोपादानाद्यनभिज्ञतया तत्प्रतिक्षेपः ।

उपादानं पृथिव्यादियागदानादिसाधनम् ।
साक्षात्कर्तुं क्षमन्ते यत्सर्व एव च चेतनाः ॥८॥

अद्यवदेव विश्वम्भरादयः क्रमप्राप्तागन्तुकोपचयापचयैकदेशशालिनो न युगपदेव निरवशेषविलयजननभागिन इत्यन्तिमपरमाणुसाक्षात्कारो न कर्तृभावोपयोगी ।

कर्मणः शक्तिरूपं यदपूर्वादिपदास्पदम् ।
मामूत्प्रत्यक्षता तस्य शक्तिमध्यक्षगोचरः ॥९॥

न खलु कुलालादयः कुम्भादिकार्यमारभमाणास्तदुपादानोपकरणभूतमृद्दण्डचक्रादि-कार्योत्पादनशक्तिं साक्षात्कृत्य तत्तदारभन्ते यदि परं शक्तिमविदुषमभिलषितसाधने तदुपादानादिव्यवहारोऽनुपपन्नः, इह तु ।

आगमादवगम्यन्ते विचित्राः कर्मशक्तयः ।
तेन कर्मभिरात्मानः सर्वं निर्ममतां पृथक् ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका— चेतनाधीनता० इत्यादि— यदि मीमांसक कहें कि अनैकान्त्य प्रसङ्ग को दूर करने के लिए चेतनाधीनत्व मात्र की सिद्धि करते हैं तो इस पर मीमांसक कहते हैं कि ऐसी स्थिति में सिद्धसाधनता नामक दोष होगा । क्योंकि **चेतनैः इत्यादि—** हम भी मानते हैं कि सभी कार्य जीवादृष्ट हेतुक होते हैं । फलतः हमारे मत में अदृष्ट द्वारा चेतना धीनत्व सभी कार्यों का स्वीकार ही किया जाता है ।

युक्तं चैतत्० इत्यादि— यह मानना उचित भी हैं कि हम दोनों वादियों को जीवों का ही कर्तृत्व अभिमत हैं । यही मानने में भी लाघव भी है । **न चोपादानादि० इत्यादि—** अतएव यह कहकर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता है कि जीवों को चूकि मही, महीधर, महार्णवादि के उपादान, उपकरण आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है अतएव उन सबों के कर्ता जीव नहीं हो सकते हैं ।

उपादानमित्यादि— वेदों तथा वैदिकों के उपदेश से वैदिक कर्मो के अनुष्ठान के अनुष्ठान जन्य विभिन्न फलों की प्राप्ति को जानकर, तथा उन कर्मों का अनुष्ठान करके भिन्न-भिन्न जीव भिन्न प्रकार के सामर्थ्य को प्राप्त करके भौतिक कार्यों के उपादान स्वरूप पृथिवी आदि चारो भूतों को तथा उनके सहकारियों को जानकर जगत् सृष्टि कर सकते हैं। अतएव जीवों से भिन्न ईश्वर रूपी जगत् के कर्ता की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस बात को **उपादानदि० इत्यादि—** कारिका के द्वारा कहा गया है । कारिका का अर्थ है— जगत् की सृष्टि के उपादान कारण पृथिवी इत्यादि है । याग तथा दान आदि ही उसके निमित्त कारण हैं । इस बात को वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करके सभी जीव जान ही सकते हैं ॥८॥

यदि कोई कहे कि प्रलय काल में द्व्याणुक पर्यन्त पृथिवी आदि का नाश हो जाता है जीव भी करण कलेवर से रहित हो जाते है, अतएव वे ज्ञान का ग्रहण नहीं कर सकते हैं फलतः सृष्टिकाल के आने पर वे

सृष्टि कैसे कर सकते हैं तो इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं **अद्यवदेव०** **इत्यादि**— अर्थात् प्रलय काल में न तो पूर्ण रूप से पृथिवी आदि का नाश होता है और न तो सृष्टि काल में पृथिवी आदि की नवीन तथा सृष्टि होती है । जैसे वर्तमान काल में भूस्खलन तथा उसके बाद पृथिवी आदि की वृद्धि होती है, उसी तरह प्रलय काल में भी पृथिवी आदि का आंशिक नाश होता है तथा सृष्टि काल में पृथिवी आदि की हीनांश की वृद्धि होती है । अतएव अन्तिम परमाणु का साक्षात्कार कर्तृत्व के लिए उपयोगी नहीं है । इस तरह से स्पष्ट है कि शक्ति विशेष से सम्पन्न जीव विशेष ही सृष्टि के कर्ता हैं ।

यदि कोई कहे कि पुण्य पाप रूप सहकारी रहने पर भी जीव उस सहकारी का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं और सहकारी साक्षात्कार के बिना सृष्टि नहीं हो सकती है तो इस पर मीमांसक कहते हैं **कर्मणः शक्ति रूपम्० इत्यादि**— दूसरों के द्वारा किए गये यागादि धर्मों तथा पापादि रूप अधर्मों का साक्षात्कार करने में साक्षीभूत जीव विशेष समर्थ होते हैं । पाप पुण्य रूप अदृष्ट ही अपूर्व पदाभिधेय हैं । शास्त्र ज्ञान के द्वारा शक्ति सम्पन्न जीव उस अपूर्व का साक्षात्कार कर लेते हैं । और उसी के अनुसार वे सृष्टि करते हैं । कर्तृत्व के लिए शक्तिमान की शक्ति का ज्ञान मात्र ही उपयोगी होता है, शक्ति का साक्षात्कार नहीं ।

न खलु कुलालादयः इत्यादि— देखा जाता है कि कुलाला (कुम्भकार) इत्यादि कार्यों का निर्माण प्रारम्भ करते समय घटादि के उपादान तथा उपकरण भूत मृत्पिण्ड, दण्ड तथा चक्र, आदि की उत्पादन शक्ति का साक्षात्कार करके घट आदि का निर्माण नहीं करते हैं, अपितु वे जानते हैं कि इन साधनों से घटादि का निर्माण होता है और इतना ही जानकर घटादि को बनाते हैं । **यदि परम० इत्यादि**— यदि शक्ति को जाने बिना अभिलाषित अर्थ की सिद्धि होने पर तो उन साधनों के लिए उपादान आदि शब्द से व्यवहार ही नहीं उपपन्न होगा । **इहतु० इत्यादि**— सृष्टि के प्रसङ्ग में तो **आजमादव० इत्यादि**— कर्मों की विचित्र प्रकार की शक्तियों का ज्ञान तो शास्त्र से ही हो जाता है ।

अतएव अनेक जीवों के कर्मों के द्वारा विभिन्न जीव अलग-अलग सृष्टियों को करते हैं, यह स्वीकार ही करना चाहिए।

नैयायिकों द्वारा उपन्यस्त कार्यत्व हेतु में मीमासकों द्वारा स्वरूपा सिद्धि नामक दोष का उपपादन

मूल— **अपि च तदेव चेतनकर्तृकं जगति परिदृश्यते यदेव शक्यक्रियं शक्यज्ञानापादानादि च, न तथा महीमहीधरमहार्णवादीति कथमिव तत्तत्कार्यत्वं, कथन्तरां च तदुपादानापकरणादेः साक्षात्कारगोचरता, यादृशं हि कार्यमुपादानाद्यभिज्ञपूर्वकमवगतं घटमणिकादि तादृशमेव हि तथाविधबुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानाय प्रभवतीति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— अपिच० इत्यादि— कोई भी चेतन उसी पदार्थ का कर्ता होता है, जिस पदार्थ का निर्माण करना सम्भव होता है तथा जिसके उपादान को जाना जा सके। **न च तथा० इत्यादि—** मही, महीधर (पर्वत) तथा महार्णव का निर्माण करना शक्य नहीं है और न तो उनके उपादान इत्यादि को जाना जा सकता है। अतएव इन सबों को कार्य कैसे माना जा सकता है। **कथन्तराम्० इत्यादि—** तथा मही, महीधर तथा महार्णव आदि के उपादानों तथा उपकरणों को कैसे जाना जा सकता है ? **यादृशम्० इत्यादि—** जिस प्रकार के कार्यों के उपादान उपकार आदि का ज्ञान होता है, उन्हीं कार्यों को उपदानादि के ज्ञाता करते हैं यह लोक में देखा जाता है जैसे घटमणिक के उपादानाादिके ज्ञाता ही घट मणिकादि का निर्माण करते हैं। **तादृशमेव० इत्यादि—** उसी प्रकार के कार्यों का बुद्धिमाद हेतुकत्व का अनुमान किया जाता है। फलतः महीमही घर महार्णव आदि के कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। उनके कार्यत्व में शक्य क्रियत्व तथा शक्य ज्ञानोपादानादिकत्व उपाधि है।

नैयायिकों के अभिमत कार्यत्व हेतु में मीमांसकों द्वारा विरुद्धत्व दोष का उपपादन

मूल— **अपि चानीश्वरेण परिमितशक्तिज्ञानेन विग्रहवताऽन-वाप्तकामेन कृतमवगतं घटादि कार्यमिति तथाविधं बोद्धारमुपस्थापयन् हेतुरभिमतंपुरुषसार्वज्ञ्यसर्वैश्वर्यादिविपर्यय-साधनाद्विरुद्धः स्यात्, न चैवं सति सर्वानुमानव्यवहारोच्छेद-प्रसङ्गः शङ्कितव्यः प्रमाणान्तर-गोचस हि लिंगिनि लिंगबलादापततो विपरीतविशेषाँस्तत्प्रमाणमेव प्रतिरुणद्धि इह पुनरतिपतितकलमानान्तरकर्मभावे सर्वनिर्माणनिपुणे सिषाधयिषिते यावन्तोऽन्वयव्यतिरेकावधारिताबिनाभावभाजो धर्मास्तान्य्यविशेषेणोपस्थापयति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— उपिचानीश्वरेण० इत्यादि— लोक में देखा जाता है कि घटादि जितने कार्य हैं, उन सबों के कर्ता अनीश्वर, सीमित शक्तिवान् सीमित ज्ञानवान्, शरीरधारी तथा अनवाप्त काम होते हैं, यदि ईश्वर भी जगत् रूपी कार्य का कर्ता होगा तो ईश्वर भी, अनीश्वर, अल्प शक्ति अल्पज्ञानवान् तथा शरीरि होगा है अतएव इस कार्यत्व हेतु के द्वारा नैयायिकों के अभिमत सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्य सम्पन्न पुरुष के विपरीत ही कर्ता ईश्वर को सिद्ध करता है अतएव कार्यत्व हेतु विरुद्धत्व दोष से दूषित है। **न चैवं सति० इत्यादि—** यहाँ पर नैयायिक यह नहीं कह सकते हैं कि सपक्ष के सभी धर्मों को पक्ष में मानने पर तो सभी अनुमानों के विनाश का प्रसङ्ग होगा । ऐसा होने पर तो जिससे महानस में धूम तथा अग्नि के साहचर्य को देखकर पर्वत में अग्नि का अनुमान करे तो पर्वत पर भी करीष आदि के होने का प्रसङ्ग होगा इस पर मीमांसक कहते हैं **प्रमाणान्तरगोचरे० इत्यादि** अर्थात् प्रमाणान्तर ग्राह्य साध्य के होने पर प्रसञ्जित होने वाला विरुद्ध विशेषों का प्रमाणान्तर के द्वारा अवरोध हो जाता है । पर्वत के बहिन के अनुमान करते समय प्रत्यक्ष के द्वारा करीषादि के प्रसङ्ग का बाध हो जाता है । **इहपुनः इत्यादि—** किन्तु ईश्वर तो किसी भी दूसरे प्रमाण का विषय नहीं है । अतएव सम्पूर्ण

जगत् के निर्माण में समर्थ रूप सिषाधयिषित ईश्वर में तो अन्वयव्यतिरेक के द्वारा निर्धारित अविनाभाव वाले सपक्ष के सभी धर्म समान रूप से पक्ष में प्रसञ्जित होंगे ही ।

मीमांसकों द्वारा ईश्वर के जगत् कर्तृत्व का खण्डन

मूल— **अपि च ।**

स्वार्थकारुण्यभावेन ब्याप्ताः प्रेक्षावतः क्रियाः ।
ईश्वरस्योभयाभावाज्जगत्सर्गो न युज्यते ॥११॥

अवाप्तकामत्वान्न तावदात्मार्थे सृजति प्रलय समये प्रलीनसकल-करणकलेवरादिभोगोपकरणतया च चेतनानां दुःखाभावात् दुःखिद-र्शनजनितकृपाप्रयुक्तिरपि नास्तीति व्यापकभूतस्वार्थ कारुण्य-निवृत्तेर्व्याप्यभूतया प्रेक्षावत्प्रबृत्त्यापि निवर्तितब्यम् ।

सुखैकतानं जनयेज्जगत्करुणया सृजन् ।
कत्कर्मानुविधायित्वे हीयेतास्य स्वतन्त्रता ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च इत्यादि— संसार में बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा जितने भी कार्य किए जाते हैं वे या तो स्वार्थ से किये जाते हैं अथवा करुणा की भावना से किए जाते हैं जगत् की सृष्टि करने में ईश्वर का न तो कोई स्वार्थ प्रतीत होता है क्योंकि ईश्वर तो अवाप्त समस्त काम है और न तो इस जगत की सृष्टि में ईश्वर की करुणा ही प्रतीति होती है । अतएव ईश्वर जगत् का स्रष्टा नहीं हो सकता है ॥११॥

अवाप्तकामत्वात्० इत्यादि— ईश्वर अपने लिए जगत् की सृष्टि इसलिए नहीं कर सकते हैं, कि वे अवाप्त समस्त काम हैं, उनकी कोई कामना रह ही नहीं गयी है । **प्रलयसमये० इत्यादि—** दयार्द्र होकर भी जगत् की सृष्टि नहीं करते हैं, क्योंकि प्रलय काल में तो जीवों के भोगों के जो साधन हैं, वे कारण कलेवर इत्यादि प्रलीन हो जाते हैं अतएव कोई भी जीव दुःखी नहीं रहता है । अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता है कि दुःखी जीवों को देखकर ईश्वर दयार्द्र होकर जगत् की सृष्टि कर देते हैं । जब सृष्टि काल के आने पर कोइ दया का पात्र रहता ही

नहीं है तो दया किस पर की जायेगी । **व्यापभूत० इत्यादि**— प्रेक्षावत् प्रवृत्ति रूपी व्याप्य के व्यापक भूत स्वार्थ तथा कारुण्य दोनों का अभाव होने के कारण सर्वज्ञ ईश्वर के जगत् की सृष्टि रूपी कार्य में प्रवृत्ति का कोई अवसर ही नहीं है ।

सुखैकतानम्० इत्यादि— किञ्च दु:खमय जगत् की सृष्टि करने वाले ईश्वर में कारुण्य का लेश भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है । यदि वे करुणाक्रान्त होकर जगत् की सृष्टि करते तो वे जगत् की सुखमय सृष्टि करते । **तत्कर्मानुविधायित्वे० इत्यादि**— यदि यह कहा जाय कि ईश्वर करुणा करके ही जगत् की सृष्टि करते हैं, किन्तु जिस जीव का पूर्व जन्मार्जित जैसा कर्म रहता है, उसी के अनुसार उस जीव को ईश्वर सुखी एवं दु:खी बनाते हैं तो इस पर मीमांसक कहते हैं कि यदि ईश्वर को जीवों के कर्मानुसार ही जगत् की सृष्टि करनी पड़ती है, तब तो वे कर्माधीन न होकर ही जगत् सृष्टि करते हैं यही मानना होगा ऐसी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी और ईश्वर अवाप्तकाम भी नहीं रह जायेंगे ।।१२।।

नैयायिकाभिमत उपादानाद्यभिज्ञ कर्ता को सिद्ध करने में मीमांसकों द्वारा अनैकान्त्य दोष की उद्भावना

मूल— **न चोपादानादिकसाक्षात्कारिण एव कर्तृत्वमित्यपि नियमः उपादानमुपकरणं चाविदुष एवात्मनो ज्ञानादिषु कर्तृत्वात्।**

तत्त्वप्रकाशिका— न चोपादानादि० इत्यादि— नैयायिकों ने यह जो कहा है कि कार्य का कर्ता वही होता है जो उसके उपादान तथा उपकरण आदि का ज्ञाता होता है । नैयायिकों का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि कर्ता को कार्य के उपादान तथा उपकरण आदि का ज्ञाता होना चाहिए । **उपादानम्० इत्यादि**— ज्ञानादि क्रियाओं को करने वाला आत्मा ज्ञानादि क्रियाओं के उपादान आदि का ज्ञाता नहीं होने पर भी ज्ञानादि क्रियाओं को करता है यह देखा जाता है । अतएव उपादानादि के ज्ञाता के ही कार्य कर्तृत्व का नियम अनैकान्त्य नियम है ।

मीमांसकों द्वारा ईश्वर साधक कर्तृत्वानु मन में दोषों की उद्भावना

मूल—

अतः असिद्धत्वाद्विरुद्धत्वादनैकान्त्याच्च बर्णितात् ।
कार्यत्वहेतोर्जगतो न यथोदितकर्तृता ॥१३॥

प्रयोगश्च भवति महीमहीधरादि कार्यं न भवति प्रसिद्धकार्यविलक्षणत्वात् गगनवत् अशक्यदर्शनोपादानोकरणतवाद्वा व्यतिरेकेण घटादिवत्, परमाणवो न प्रत्यक्षाः निरतिशयसूक्ष्मद्रव्यत्वात् तथैव घटादिवत्, विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वात् इदानीन्तनकालवत्, तनुभुवनादि ईश्वरकर्तृकं न भवति कार्यत्वात्तद्वदेव, ईश्वरः कर्ता न भवति प्रयोजनरहितत्वादशरीरत्वाद्वा मुक्तात्मवदिति ।

तत्त्वप्रकाशिका— नैयायिकाभिमत ईश्वारानु में निम्नाकित दोष हैं ।

१. असिद्धवत् इत्यादि— पृथिवी इत्यादि के कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि पृथिवी इत्यादि अशक्य क्रिया हैं । अतएव उनके उपादानादि का ज्ञान होना भी अशक्य है ।

२. विरुद्धत्वाद्— यह कार्यत्व हेतु नैयायिकों के अभिमत ईश्वर के विरुद्ध हेतु है । क्योंकि यदि पृथिव्यादि का कर्ता होगा तो वह लोक दृष्ट कर्ताओं क़े समान अनवाप्तकाम तथा शरीरादि से युक्त होगा । अतएव हेतु विरुद्धत्व दोष से दूषित है ।

३. अनैकान्त्यात्— कार्यत्व हेतु अनैकान्त्य दोष से भी ग्रस्त है। उपादानाद्य भिज्ञ पूर्वक कर्तृत्व की सिद्ध करने पर अनैकान्तिक दोष भी है । इन सभी दोषों से कार्यत्व हेतु के ग्रस्त होने के कारण, उपादानाद्यभिज्ञ पूर्वक कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥१३॥

प्रयोगश्च भवति इत्यादि— यहाँ पर निम्नांकित प्रकार के प्रतिप्रयोग भी होते हैं मही, महीधर, महार्णवादि कार्य नहीं हैं, क्योंकि वे प्रसिद्ध कार्य घटादि से विलक्षण हैं । आकाश के समान अथवा उनके उपादान कारण, उपकरण निमित्त कारण आदि को जान पाना अशक्य है । जो

अशक्य क्रिया तथा अशक्य दर्शनोपादानोपकरण नहीं होते हैं, वे ही कार्य होते हैं, जैसे— घट आदि । **परमाणवः इत्यादि**— परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य हैं । जो अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य नहीं होते हैं, उनका ही प्रत्यक्ष है घटादि के समान। **विमतिविषयः इत्यादि**— विवादास्पद काल कभी भी लोक शून्य (संसार से रहित) नहीं होता है, क्योंकि वह काल है, वर्तमान काल के समान शरीर तथा संसार आदि ईश्वर कृत नहीं हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, घटादि के समान । **ईश्वरः इत्यादि**— ईश्वर जगत् के कर्ता नहीं है, क्योंकि जगत् की सृष्टि में उनका कोई भी प्रयोजन नहीं है, अथवा शरीर रहित होने के कारण मुक्त जीव के समान ।

पृथिव्यादि के सकृर्तकत्व साधक कार्यत्व हेतु प्रदर्शित असिद्धत्व दोष का परिहार

मूल—

अत्र ब्रूमो न कार्यत्वं क्षित्यादौ शक्यनिन्हवम् ।
सभागत्वात् क्रियावत्त्वान्महत्त्वेन विशेषितात् ॥१४॥
तादृशादेव मूर्तत्वाद्वाह्यप्रत्यक्षताऽन्वितात् ।
ससामान्यविशेषत्वाद्वित्त्यादिभ्यो घटादिवत् ॥१५॥

न चेद्दृश एव सन्निवेशः कार्यो नेतर इत्यवयवसन्निवेशविशेष-प्रतिनियतं रूपभेदमुदीक्षामहे । यत्तु शक्यक्रियं शक्यज्ञानोपादाना-पकरणं च क्रियते इति तदस्तु नाम किं तु ते क्रियाज्ञानशक्तो क्रियाज्ञानाभ्यामेव समधिगमनीये, ते च क्षित्यादिषु यथोक्तसाधन-बलसमुपस्था पते इति न विशेषः प्रसिद्धप्रकारगोपुरादिकार्येभ्य-स्तनुभुवनादेः न चैतावानेव क्रियागोचर इति विषयनियमः कश्चित् क्रियाया दृष्टः, येनेदमशक्यक्रियमध्यवरूयेम, सिद्धे च कार्यत्वे तदुपादानादिसाक्षात्करणतदधिष्ठानतत्प्रेरणनिपुणः पुरुषविशेषः सिद्ध्यत्येव ।

तत्त्वप्रकाशिका— पृथिवी इत्यादि के सकर्तृकत्व साधक कार्यत्व हेतु में मीमांसको द्वारा उपन्यस्त असिद्धि दोष के परिहारक प्रारम्भ करते हुए नैयायिक कहते हैं । **अत्रब्रूमः इत्यादि**— अर्थात् मीमांसकों के उपर्युक्त कथन विषय में मेरा कहना है कि पृथिवी इत्यादि के कार्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है, पृथिवी आदि सभाग (सावयव) हैं जो-जो सावयव होता है वह-वह कार्य होता है, जैसे घटादि । किञ्च वे क्रियावान हैं अर्थात् वे परिचिछन्न परिमाण से युक्त रूप मूर्त हैं । जो-जो परिच्छिन्न परिमाण वाला होता है, वह कार्य होता है जैसे घटादि । तथा उद्भूत महत्त्वगुण विशिष्ट हैं । जो-जो उद्भूत महत्त्व गुण सम्पन्न होता है, वह-वह कार्य होता है, घटादि के समान । **तादृशादेवा० इत्यादि**— पृथिवी इत्यादि घटादि के ही समान मूर्त, बाह्य प्रत्यक्ष के विषय बनते हैं, द्रव्यत्वादि तथा पृथिवित्यादि रूपी सामान्य विशेष से युक्त हैं । अतएव वे घटादि के समान कार्य (उप्पत्तिमान्) हैं ॥१४-१५॥

इस पर यदि मीमांसक कहें कि उपर्युक्त हेतुओं से पृथिवी इत्यादि के कार्यत्व की सिद्धि हो जाती है किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि जो कार्य हो वह कर्तृ विशेष वाला हो । अतएव कर्ता के अभाव में भी दूसरे कारणों के द्वारा पृथिवी इत्यादि की उत्पत्ति मान लेनी चाहिए । इस पर नैयायिक कहते हैं **न चे दृश० इत्यादि**— अर्थात् पृथिवी आदि सावयव हैं । अवयव सन्निवेश विशेष रूप आकृति से युक्त होने को सावयव कहते हैं । अतएव सन्निवेश विशेष रूप आकृति युक्तता तो पुरुष द्वारा किए जाने वाले कार्य के ही द्वारा सम्भव है । वह विशेष पृथिवी आदि में भी है अतएव पृथिवी आदि कार्यों को सकर्तृक ही मानना चाहिए । **यत्तुशक्य० इत्यादि**— मीमांसकों ने यह जो कहा है कि कार्य वही होता है जिसको किया जा सके तथा जिसके उपादान उपकरण आदि को जाना जा सके तो उसे हम मानते हैं किन्तु पृथिवी इत्यादि में उस तरह की अशक्य क्रियता तथा अशक्य ज्ञानता का अभाव है । किन्तु क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति को क्रिया तथा ज्ञान के द्वारा ही मान लेना चाहिए । **ते च क्षित्यादिषु० इत्यादि**— शक्यक्रियत्व

तथा शक्य ज्ञानोपादानत्वादि को पृथिवी आदि के कार्यत्व की सिद्धि से ही सिद्ध हो जाती है । अर्थात् यदि पृथिवी इत्यादि कार्य हैं तो उनकी उत्पत्ति रूप क्रिया होती ही होगी तथा उनके उपादान आदि को उनको उत्पन्न करने वाला जानता ही होगा । अतएव पृथिवी आदि के अशक्य क्रियत्व तथा अशक्य ज्ञानोपादानादित्व रूपी विशेष नहीं है । **प्रसिद्धप्रकार० इत्यादि**— जिस तरह से किसी प्रसिद्ध प्रकार (चहार दिवारी) तथा गोपुर को देखकर उसके कर्ता रूप से उसके उपादानदि के ज्ञाता का अनुमान हो ही जाता है । इस तरह शरीर तथा संसार के भी कार्यत्व को देखकर उसके उपादानादि के ज्ञाता उसके कर्ता का अनुमान कर ही लिया जाता है । **न चैतावानेव० इत्यादि**— क्रिया के विषय में ऐसा कोई भी नियम नहीं देखा गया कि क्रिया का विषय इतना ही हो सकता है । क्रिया (कार्य) की कोई सीमा नहीं है । ऐसी स्थिति में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि यह अशक्य क्रिया है । **सिद्धेच कार्यत्वे० इत्यादि**— पृथिवी इत्यादि के कार्यत्व की सिद्धि हो जाने पर उन कार्यों के उपादान, उपकरण आदि के ज्ञाता, अधिष्ठाता तथा प्रेरणा में निपुण पुरुष विशेष की सिद्धि हो ही जाती हैं ।

मीमांसकों द्वारा उपन्यस्त सकर्तृत्वानुमान में व्यभिचार तथा असिद्धत्व इन दोनों दोषों का नैयायिकों द्वारा उद्धार

मूल— **अधिष्ठानं च तत्प्रवृत्त्यनुगुणसंकल्पवदीश्वरसन्निकर्षः क्षेत्रज्ञेनेव स्वशरीरादौ, स च द्रव्यैः संयोगलक्षणस्तद्गुणैस्तु संयुक्तसमवायख्यः, प्रवृत्तिश्च परमाणूनां परिस्पन्दलक्षणा, धर्माधर्मयोस्तु फलोदयानुकूलतादृशदेशकालादि- सहकारिसहितता, ताभ्यां धर्माधर्माभ्यामेव फलं चेतनानधिष्ठितानां सर्वेषामेतेषामचैतन्ये-नाकिंचित्करत्वात्, न हि चेतनेन वर्धकिनाऽनधिष्ठिता वासी देशकालादिसहकारिशतसमधिगमेऽपि यूपादीन्यापादयितुमलम् वीजांकुरादयस्तु पक्षान्तर्भूता इति तैर्व्यभिचारवचनमनभिज्ञतयैव श्रोत्रियाणाम् । एतेन सुखादिभिर्व्यभिचारोऽपि प्रत्युक्तः न**

चोभयवादिसिद्धतामात्रेण क्षेत्रज्ञानामेवेदृ शाधिष्ठातृत्वकल्पनमुचितं तेषां सूक्ष्मव्यवहितादिदर्शनाशक्तेर्निश्चितत्वात् दृष्टानुसारिणी हि सर्वत्र कल्पना न दृष्टविरोधिनी, न चैवमीश्वरस्याशक्तिर्निश्चिता प्रमाणान्तरतस्तत्सिद्धेः, यथोदितप्रमाणबलेन सिद्ध्यन् सांसिद्धिकसर्वार्थदर्शनतत्प्रेरणशक्तिसंपन्न एव सिद्ध्यति कार्यत्वस्य समर्थकर्तृपूर्वकत्वेन प्रतिबन्धात् ।

तत्त्वप्रकाशिका— सकर्तृकत्वानुमान के जीवों द्वारा सिद्ध साधनता दोष का उद्धार करने के लिए कर्तृत्व के स्वरूपान्तर्गत अधिष्ठान आदि की व्याख्या करते हुए नैयायिक कहते हैं **अधिष्ठानं च० इत्यादि**— जिस तरह जीव अपने शरीर के अवयवों आदि का अधिष्ठाता शरीर में होने वाली प्रवृत्ति के अनुकूल सङ्कल्प के द्वारा होता है उसी तरह ईश्वर भी परमाणु तथा अदृष्ट के अधिष्ठा उनमें होने वाली प्रवृत्ति के अनुकूल सङ्कल्प के द्वारा होते हैं । **स च द्रव्यै० इत्यादि**— परमाणु आदि में ईश्वर का सन्निकर्ष संयोग रूप होता है और अदृष्ट में संयुक्त समवेत रूप होता हे, ऐसा दो विभुओं के संयोग को मानने पर होता है । दो विभुओं के संयोग को नहीं मानने पर अदृष्ट में ईश्वर का सन्निकर्ष संयुक्त संयोगी समवाय रूप होता है । **प्रवृत्तिश्च० इत्यादि**— परमाणुओं में होने वाली प्रवृत्ति भी परिस्पन्द (आरम्भक संयोगानुकूल क्रिया) स्वरूप होती है । **धर्माधर्मयोः इत्यादि**— पुण्य पाप रूप धर्मों तथा अधर्मों में प्रवृत्ति तो यह पुण्य अथवा यह पाप इस देश में तथा इस काल में फल प्रदान करे इस प्रकार से होने वाले ईश्वर के सङ्कल्प से होती है । वह फल प्रदान करने के अनुकूल देश तथा काल रूप सहकार की प्राप्ति रूप होती है । **ताभ्याम्० इत्यादि**— चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही धर्म तथा अधर्म फल प्रदान करने का काम करते हैं । **सर्वेषाम्० इत्यादि**— जितने भी अचेतन हैं वे चैतन्य से रहित होने के कारण चेतनाधिष्ठित हुए बिना कुछ भी नहीं कर सकतें हैं । **नहि० इत्यादि**— चेतन बढ़ई के द्वारा अधिष्ठित हुए बिना अचेतन वासी (वंसूली) देश तथा काल की सहकारिता को प्राप्त करके भी यूप (स्तम्भ) आदि का निर्माण नहीं कर

पाती है यह लोक में देखा जाता है । अतएव कारक समूह के प्रयोक्ता कर्ता की सभी कार्यों में अनिवार्यता होती है । फलतः पृथिवी आदि के सकर्तृकत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है । उपादानादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना उनके अधिष्ठान स्वरूप कर्तृत्व हो नहीं सकता है। पृथिवी इत्यादि के निर्माता को परमाणु आदि के साक्षात्कार का भी होना आवश्यक है । चिकीर्षा पूर्वक कारक समूह में हेने वाली प्रवृत्ति के कारण भूत कृति निरूप्यता ही प्रेरणा कहलाती है । कारक समूह के प्रयोक्तृत्व रूप ही अधिष्ठातृत्व का तथा उपादानादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमत्त्व रूप कर्तृत्व ये दोनों अत्यन्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं । पहले उपादानादि विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमत्त्व रूप कर्तृत्व कहा गया है और यहाँ पर अधिष्ठातृत्व रूप कर्तृत्व का समर्थन किया जा रहा है । इस प्रकार का पृथिव्यादि सर्वद सबकुछ साक्षात्कार करने वाले सर्व समर्थ ईश्वर से भिन्न जीवों में नहीं हो सकता है अतएव जीवों द्वारा सिद्ध साधनता सकर्तकत्वानुमान में नहीं हो सकती है ।

बीजाङ्कुरादयः इत्यादि— बीज तथा अङ्कुर इत्यादि तो पक्षान्तर्गत ही हैं, अतएव इस बात को नहीं समझ पाने के कारण मीमांसकों ने सकर्तृत्वानुमान में व्यभिचार दोष को उपन्यस्त किया है । कहने का अभिप्राय है कि जहाँ कहीं भी कार्य में कर्ता नहीं दिखायी देता उन सभी कार्य को यहाँ पर पक्षान्तर्गत ही मानना चाहिए । पक्ष में होने वाली व्यभिचार की शङ्का दोष वह नहीं होती है । पक्ष में व्यभिचार की शङ्का हुए बिना कही भी अनुमान का प्रसङ्ग ही नहीं होगा । **एतेन० इत्यादि**— इस प्रतिपादन से ही सुखादि में मीमांसकों द्वारा उपन्यस्त व्यभिचार का खण्डन हो गया । क्योंकि सुखादि भी पक्षान्तर्गत ही हैं । **न चोभयवादि० इत्यादि**— उभयवादी (वादी और प्रतिवादी) दोनों के अभिमत होने के मात्र के कारण क्षेत्रज्ञों के ही परमाणु तथा अदृष्ट आदि के अनुकूल अधिष्ठातृत्व की कल्पना करना उचित नहीं है । **तेषाम्० इत्यादि**— क्योंकि यह निश्चित है कि क्षेत्रज्ञों में सूक्ष्म तथा व्यवहित द्रव्यों का साक्षात्कार करने की शक्ति नहीं है । **दृष्टानुरोधिनी० इत्यादि**— सर्वत्र दृष्टनुकूल

ही कल्पना करनी चाहिए दृष्ट प्रतिकूल कल्पना नहीं करनी चाहिए । **न चैवमी० इत्यादि**— यहाँ पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर की भी परमाणु तथा अदृष्ट में प्रवृत्ति के अनुकूल अशक्ति निश्चित है । क्योंकि ईश्वर की शक्ति भी अदृष्ट है किन्तु वह दृष्ट विरोधिनी नहीं है । यदि मीमांसक पूछें कि क्यों नहीं दृष्ट विरोधिनी है ? तो इसका उत्तर है **प्रमाणतः इत्यादि**— क्योंकि परमाणुओं तथा अदृष्ट में प्रवृत्ति के अनुकूल शक्ति रूपी अधिष्ठातृत्व प्रमाणान्तर से सिद्ध है । श्रुति कहती है **सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः** अर्थात् ईश्वर सबों को अपने वश में रखते हैं तथा सबों के स्वामी हैं । **परास्यशक्तिविविधैव श्रूयते** श्रुति कहती है कि ईश्वर में अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं । **यथोदित० इत्यादि**— उपर्युक्त प्रमाणों से ही सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर स्वाभाविक रूप से ही सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करने में तथा उन द्रव्यों को प्रेरित करने की शक्ति से सम्पन्न हैं । **कार्यत्वस्येत्यादि**— क्योंकि जहाँ कहीं भी कार्यत्व होता है, वहाँ-वहाँ समर्थकर्तृ पूर्वक ही होता है, यह देखा जाता है ।

मीमांसकों द्वारा कल्पित कार्यत्व हेतु में विरुद्धत्व दोष का परिहार

मूल— **यत्तु परिमितशक्तिज्ञानानैश्वर्याद्यापादनाद्धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वमुद्भावितं तदतिस्थवीयः, अप्रयोजकत्त्वात्तेपां न हि किंचित्क्रियमाणं कर्तुरर्थान्तरविषयमसामर्थ्यं ज्ञानं वा स्वोत्पत्तयेऽपेक्षते स्वसंपादनसमर्थकर्तृमात्राक्षेपात् केवलव्यतिरेकासिद्धेः, तावतैवोपपद्यमाने कार्योदये संबन्धिनोऽकिंचित्करस्यार्थान्तरविषयस्याभावस्य हेतुत्वकल्पनानुपपत्तेः । अपि च किं तदितरसमस्तवस्तुविषयमज्ञानादिव्यापकमुत कतिपयगोचरमितिं विवेचनीयं न तावदशेषविषयम् अनुपलब्धेः, न खलु कुम्भकारः कुम्भातिरेकि किमपि न विजानाति। अथ कतिपयविषयं, तदपि न अनियतविषयतया तस्यतस्य व्यभिचारदर्शनात् न चास्ति किंचिद्व्यवस्थितं यदविद्यादि- मानेव कर्तृतामनु भवति ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यत्तु० इत्यादि— मीमांसकों ने यह जो कहा है कि यदि ईश्वर जगत् का कर्ता होगा तो वह घटादि के कर्ता कुम्भकारादि के ही समान अल्प शक्तिमान, अल्पज्ञानवान् तथा ऐश्वर्यादि रहित होगा अतएव कार्यत्व हेतु नैयायिकों के अभिमत ईश्वर के विरुद्ध ही ईश्वर को सिद्ध करने के कारण विरुद्ध हेतु हैं । तो मीमांसकों का यह कथन उनकी अत्यन्त स्थूल बुद्धि का सूचक हैं । क्योंकि कुलालादित्व किञ्चिज्ज्ञत्व आदि घटादि के प्रति कारणत्व का प्रयोजक नहीं अपितु कुलाला इसलिए घट का कर्ता है कि वह घट के उपादान, उपकरण आदि का साक्षात् कर्ता है । प्रकृत कार्य की उत्पत्ति में अन्य विषयक ज्ञान या अज्ञान की, शक्ति या अशक्ति की प्रयोजकता नहीं होती है । इस अप्रयोजकता का ही उपादान करते हुए नैयायिक कहते हैं **नहि किञ्चित० इत्यादि—** क्रिया जाने वाला कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के लिए कर्त्ता में अर्थान्तर विषयक अज्ञान या असमर्थ्य की अपेक्षा नहीं करता है । वह अपनी उत्पत्ति के सम्पादन के लिए समर्थ कर्तृत्व मात्र की ही अपेक्षा रखता है। **केवलव्यतिरेकस्य इत्यादि—** केवल पूर्ववर्ति मात्र अनुपयोगी अर्थान्तर विषयक शक्ति आदि का अभाव की प्रकृति कार्य में प्रयोजकता की सिद्धि नहीं हो सकती है । **तावतैव० इत्यादि—** स्वनिष्पादनोपयोगी ज्ञान तथा शक्ति से ही कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने से कार्य नियत पूर्ववर्ती प्रकृत कार्यानुपयोगी (अन्यथा सिद्ध) अर्थान्तर विषयक अभाव के हेतुत्व की कल्पना करना अनुपन्न है ।

नियत पूर्ववृत्तित्व का विकल्प करते हुए नैयायिक पूछते है **अपि च० इत्यादि—** किञ्च कार्य व्यतिरिक्त समस्त वस्तु विषयक अज्ञान को आप व्यापक (कार्य नियत पूर्वभावी) मानते हैं अथवा कतिपय विषय विषयक अज्ञान अज्ञानादि को ? **न तावदशेष० इत्यादि—** समस्त वस्तु विषय अज्ञान को तो इस लिए नहीं माना जा सकता है कि उसकी उपलब्धि नहीं होती । घटकर्ता कुलाल को घट निर्माण विषयक ज्ञान के अतिरिक्त किसी दूसरे विषय का ज्ञान न हो ऐसा नहीं हो सकता है । **अथ कतिपय० इत्यादि—** यदि कहें कि कतिपय अज्ञान नियत पूर्वभावी

हैं तो यह भी नहीं कहा जा सकता है । अर्थान्तर यत् किञ्चित् अज्ञानादि व्यवस्थित नहीं है । जैसे कोई वस्त्रकार घट को नहीं जानता है और कोई जानता है । कोई दूसरी वस्तु को नहीं जानता है और कोई जानता है । इस तरह प्रकृत कर्ता का अन्यान्य विषयक ज्ञान तथा अज्ञान अव्यवस्थित ही रहता है । अतएव घट विषयक अज्ञान अथवा पट विषयक अज्ञान नियत पूर्वभावी हो यह निश्चय करना कठिन है । अतएव विभिन्न अज्ञान का विभिन्न स्थानों में अनैकान्त्य होने के कारण वह हेतु नहीं हो सकता है । **न चास्ति० इत्यादि**— यह भी कहना कठिन है कि सभी कर्त्ताओं को कुछ वस्तु का नियमतः अज्ञान रहता है । जिसकी अविद्यमानता आदि का होना कर्तृत्व के लिए अपेक्षित होता है ।

मूल— **न च शरीरिणैव कर्त्राभाव्यम् शरीरग्रहणेनैवानैकान्त्यात्, न खलु शरीरविशिष्टः सन्नेवायमात्मा शरीरमुपादत्ते योगिनो युगपदनेकशरीरग्रहणायोगात् पूर्वदेहपरित्यागेन देहान्तरप्रापककर्मप्रेरितप्राणसहाय एव देहान्तरं प्रविशतीत्युपपादितमात्मचिन्तायाम् ।**

तत्त्वप्रकाशिका— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जो शरीरी होता है वही कर्ता होता है । क्योंकि जीव जब एक शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, उस समय तो वह अशरीरी रहता है । फलतः कर्तृत्व के लिए शरीरित्व होना अनैकान्तिक है । **न खलु० इत्यादि**— यह भी नहीं कहा जा सकता है कि शरीर विशिष्ट ही यह आत्मा अन्य शरीर को धारण कर लेता है । क्योंकि ऐसा मानने पर योगी व्यतिरिक्त भी जीवों के अनेक शरीरों को एक ही समय में धारण करने का प्रसङ्ग होगा । किन्तु वे एक ही समय में अनेक शरीर को धारण ही करते हैं । **पूर्वदेहपरिव्यागेन० इत्यादि**— जीव जब पूर्व शरीर का परित्याग करके दूसरे देह को प्राप्त करने वाले कर्म से प्रेरित होकर प्राणों के साथ दूसरे देह में प्रवेश करता है इस बात का प्रतिपादन आत्मसिद्धि ग्रन्थ में किया जा चुका है ।

यदि कहें कि श्रुति बतलाती है कि भूत सूक्ष्मों से युक्त ही जीव की गत्यादि होती है तो प्राणों से संसृष्ट वे इन्द्रियाँ ही सूक्ष्म शरीरक कहलाती

हैं । फलतः कर्ता शरीरित्व नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है। तो इसका उत्तर है कि ऐसा होने पर भी स्थूल शरीरत्व के नियम में व्यभिचार तो बना ही रहता है । सूक्ष्म शरीर को मुख्य शरीर नहीं कहते हैं । यदि अमुख्य शरीर विशिष्ट कर्ता मानें तो परमाणु ही परमात्मा के अमुख्य शरीर हैं । उससे विशिष्ट होकर ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं, यह मान लेना चाहिए उदयनाचार्य ने परमाणुओं को ईश्वर का शरीर माना ही है ।

मूल— **किंचात्मनः शरीरमधितिष्ठतोऽधिष्ठानक्रियाकर्मभूतस्य देहस्याधिष्ठातृदेहानुप्रवेशोऽनुपपन्नः, युगपदेकक्रियायामेकस्य कर्मकर्तृत्वविरोधात्, अधितिष्ठासितदेहसंयोगवत एव तत्प्रवृत्त्यनुगुणप्रयत्नयोगलक्षणमधिष्ठानं दृष्टमिति चेत् अस्त्वेकतत्त्वसंबन्धस्याधिष्ठानानुपपत्तेः प्रेर्यवस्तुसंबन्धिना प्रेरकेण भवितव्यमिति न पुनर्देहसंबन्धेन भाव्यमिति कुतो निर्णयः, इत एव यतोऽन्यदप्यधिष्ठीयमानं मानदण्डादिस्वसंबन्धिनैवाधिष्ठीयते तेनाधिष्ठानक्रियापेक्षिताधिष्ठेयपदार्थसंबन्धमात्रातिरेकेण देहसबन्धो नामापरो नादर्तव्यः। अस्ति चेश्वरस्यापि जगदुपादानोपकरणैः संबन्ध इत्युक्तमेव ।**

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्च शरीर को अधिष्ठित करने वाला आत्मा की अधिष्ठ क्रिया का विषय बनाने वाला शरीर का अधिष्ठातृत्व भी अनुपन्न है । क्योंकि एक ही समय में एक ही क्रिया में एक ही वस्तु कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकते है । अतएव मानना यह चाहिए कि आत्मा अपने सङ्कल्प के द्वारा ही शरीर को अपना अधिष्ठान बनाता है शरीर भी अधिष्ठातान ही हो सकता है । **अधितिष्ठासित० इत्यादि**— यदि मीमांसक कहें कि आत्मा जिस शरीर को अपना अधिष्ठान बनाना चाहता है , उस देह के संयोग प्राप्त ही उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयत्न से युक्त होना ही अधिष्ठान होता है यह देखा जाता है तो इसका उत्तर है कि **अएत्वेक तत्त्व० इत्यादि**— एक तत्त्व से संबद्ध की अधिष्ठानानुपपत्ति होने के कारण प्रेर्य वस्तु का संबन्धी प्रेरक हो सकता

है किन्तु देह संबन्धी आत्मा तो वैसा नहीं हो सकता है । जैसे अत्यन्त असम्बद्ध जो अधिष्ठेय के साथ उसका अधिष्ठाता काष्ठ से असम्बद्ध कुठार (कुल्हाड़ी) का छेतृत्व जैसे असंभव है उसी तरह अधिष्ठेय का संबन्धी अधिष्ठाता होता है । किन्तु देह सम्बन्धी अधिष्ठाता नहीं हो सकता है । इस पर यदि कोई यह पूछे कि ऐसा कैसे निर्णय किया जा सकता है तो इसका उत्तर है **इतरव० इत्यादि** इसका निर्णय इसी तरह किया जा सकता है कि देखा जाता है कि दूसरे भी अधिष्ठित (प्रेरित) की जाने वाली मान तथा दण्ड का प्रवर्तक केवल शरीर ही नहीं होता है, उसके हाथ इत्यादि भी प्रेरक होते है । **तेनधिष्ठान० इत्यादि**— अतएव अधिष्ठान की क्रिया में अपेक्षित जो अधिष्ठेय पदार्थ के केवल सम्बन्ध से भिन्न दूसरे देह सम्बन्ध को महत्त्व नहीं देना चाहिए । **अस्ति च० इत्यादि**— ईश्वर का भी जगत् के उपादान कारण तथा निमित्त कारण के साथ सम्बन्ध है इस बात को पहले मैं कह चुका हूँ ।

मूल— **अथ स्वदेहव्यतिरिक्ते वस्तुनि प्रवृत्तिविशेषकरत्वं देहद्वारेणैव, दृष्टं हि दण्डचक्रादिषु करसंयोगादिना कुलालादेः प्रवर्तयितृत्वमित्युच्येत तदपि न अभिध्यानमात्रेणैव परशरीरगतगर-निरसनविसारणदर्शनात्, कथमसति शरीरे परप्रेरणात्मकः सङ्कल्प इति चेत्, किं शरीरं सङ्कल्पयति येन तदभावे न भवेत् करणमिति चेन्न मनस्करणत्वात् किमस्तीश्वरस्य मनः, वाढ़म् । नन्वेवं विग्रह-धर्माधर्मानैश्वर्यादयः साधारणधर्मा प्रादुःष्युः मैवं कार्यत्वाक्षिप्तसमर्थ-कर्तृमत्त्वाद् द्रढ़िम्नैवापास्तत्वात् मनसो नित्येन्द्रियतया देहापगमेऽपि संबन्धाभ्युपगमादनैकान्तिकश्च यावद्धि दृष्टानुगुणं व्याप्त्युपयोगि तावदनुज्ञायते, न चास्मदादेर्मनसाऽप्यचिन्त्यरचनस्यापर्यन्तविस्तारस्य महाभूतभौतिकप्रपञ्चस्य प्रादेशिकशरीरकः किञ्चिज्ज्ञः पुण्यपापपर-वशगतिरलं निर्माणायेत्यपरिमितज्ञानैश्वर्यशक्तिः शरीराद्यनपेक्षः सङ्कल्पादेव सकलभुवननिर्माणक्षमः कर्ता सिद्धः।**

तत्त्वप्रकाशिका— **अथ० इत्यादि**— यदि मीमांसक यह कहें कि

दूसरे में होने वाले व्यापार के प्रयोजक प्रयत्न से युक्त होने को ही प्रवर्तन कहते हैं । अपने देह से भिन्न वस्तु में प्रवृत्ति विशेष को शरीर के माध्यम से ही उत्पन्न किया जाता है, यह लोक में देखा जाता है । यह भी देखा जाता है कि कुलाल आदि हस्त संयोग इत्यादि के द्वारा ही दण्ड तथा चक्र आदि को प्रवर्तित (प्रेरित) करते हैं । तो ऐसा वे नहीं कह सकते हैं **अभिध्याननात्रेण० इत्यादि**— क्योंकि देखा जाता है कि मन्त्रज्ञ पुरुष अपने मानसिक सङ्कल्प से ही दूसरे के शरीर में विद्यमान विष को शरीर से बाहर निकाल देते हैं । अतएव देह तथा उसके अवयवी के अधिष्ठान में देह आदि के व्यापार की अपेक्षा का नियम नहीं है । यह भी जानना चाहिए कि प्रेरक का प्रेर्य के साथ सम्बन्ध ज्ञान के ही द्वारा होता है । यदि मीमांसक पूछें **कथमसति० इत्यादि**— शरीर के नहीं रहने पर भी दूसरों को प्रेरित करने का सङ्कल्प कैसे सम्भव हैं ? तो यह प्रश्न होता है कि **किं शरीरम्० इत्यादि**— शरीर ही सङ्कल्प करने का काम करता है क्या ? कि शरीर के अभाव में सङ्कल्प नहीं हो सकता है । यदि मीमांसक कहें कि शरीर सङ्कल्प की क्रिया में करण (साधकतमा) हैं । तो मीमांसकों का यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि मन भी करण है । **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि** यह भगवद् वाक्य ही मन के करणत्व में प्रमाण है । कहने का अभिप्राय है कि बद्ध जीवों को ही ज्ञानादि क्रियाओं में शरीर की अपेक्षा होती है । अन्यों को नहीं मुक्त जीवों का वर्णन करती हुयी श्रुति कहती है **मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म लोके** अर्थात् ब्रह्मलोक में विद्यमान काम्य पदार्थों का अनुभव मुक्त जीव मन से ही अनुभव करते हुए त्रिपाद विभूति में रमण करता है । इसी तरह ईश्वर के भी विषय में श्रुति कहती है **तन्मनोऽकुरुत** अर्थात् ईश्वर ने सत्य सङ्कल्प किया स्मृति भी कहती है **मनसैव जगत् सृष्टम्** ईश्वर के मन के द्वारा किए गये सत्य सङ्कल्प के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुयी ।

इस पर मीमांसक पूछते हैं **किमस्ति० इत्यादि**— क्या ईश्वर का मन है ? तो नैयायिक कहते हैं हाँ इस पर मीमांसक कहते हैं **नन्वेवं०**

इत्यादि— अर्थात् शरीरधारी का ही मन होता है । शरीरी होने पर तो ईश्वर में शरीरी के धर्म, अधर्म, अनैश्वर्य इत्यादि सभी साधारण धर्मों के होने का प्रसङ्ग होगा । इस पर नैयायिक कहते हैं **मैवम्० इत्यादि**— ऐसा नहीं कहा जा सकता है । **कार्यत्वा० इत्यादि**— चूकि जो-जो कार्य होता है, उसका कोई-न-कोई समर्थ कर्ता होता है । इस सुदृढ नियम के अनुसार पृथिवी इत्यादि कार्य हैं अतएव उनका भी निर्माण करने वाले समर्थ कर्त्ता ईश्वर हैं, यह सिद्ध होता है । ईश्वर के अशरीरित्व तथा ऐश्वर्यादि सम्पन्न की सिद्धि होती ही है । मन के शरीरित्व व्याप्यत्व का नियम इसलिए भी अनैकान्तिक है कि मन नित्य इन्द्रिय है अतएव शरीर के नहीं रहने पर भी उसका सम्बन्ध आत्मा के साथ बना ही रहता है । यदि मीमांसक कहें कि लोक में देखा जाता है कि शरीर ही कर्ता होता है अतएव कार्यत्व की व्याप्ति शरीरी कर्तृत्व के ही साथ क्यों न स्वीकार किया जाय तो इसका उत्तर है **यावद्धि० इत्यादि**— जितना दृष्टानुगुण व्याप्ति के लिए उपयोगी होता है, उतना ही स्वीकार करना चाहिए । कार्य के लिए ज्ञान तथा शक्ति का ही होना उपयोगी होता है। वे दोनों कर्माधीन रहने वाले कुलाल आदि में रहते है, फिर भी उन दोनों के लिए शरीरी का होना आवश्यक नहीं है । शरीर रहित ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं ।

न चास्मद्रादे० इत्यादि— जिसकी रचना का चिन्तन हमलोग मन से भी नहीं कर सकते ऐसे निस्सीम विस्तार वाले महाभूतों तथा भौतिक प्रपञ्च का निर्माण करने में परिमित देशवर्ती तथा परिच्छिन्न शरीर वाला अल्पज्ञ तथा जिसकी गति पुण्य पाप के अधीन होती है, ऐसा काई भी जीव समर्थ नहीं हो सकता है, अतएव सिद्ध होता है कि इस जगत् की रचना करने वाले अपरिर्मित ज्ञात तथा शक्ति के सम्पन्न, शरीरादि निरपेक्ष, अपने सङ्कल्प मात्र से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करने में समर्थ कर्ता ईश्वर ही हैं ।

ईश्वर में समानान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रामाण्य प्रतिपादन

मूल— **ईदृशेन कर्त्रा घटादिषु कार्यत्वस्य संबन्धो न दृष्ट इति चेत् अतिगहनगिरितटाधिष्ठानेनातिप्रकृष्टादृष्टचरेन्धननिवहसंबन्धिना हुतवहविशेषेण महानसादौ धूमस्य वा किं संबन्धो दृष्टः येन धूमविशेषदर्शनाद् गिरिशिखरे तथाविधाग्निरनुमीयते, यादृशो धूमो यत्रावगतस्तत्रैव तादृशस्तत्संपादनसमर्थो दृष्टान्तभूमावपरिदृष्टोऽपि सामान्यव्याप्तिबलेन पक्षधर्मतावशात्सिध्यतीति चेत्, तदिदमस्माभिरभिधायमानं किमिति न हृदयमधिरोहति भवताम् इहापि कार्यत्वं समर्थकर्तृपूर्वकत्वेन घटादिषु विदितसंबन्धनियमं क्षित्यादिषु दृश्यमानं स्वसंपादनसमर्थमदृष्टपूर्वमे बुद्धिमत्कर्तारमुपस्थापति, यथैव हि देशकालेन्धनपरिमाणादि विशेषानादरेण धमूस्य स्वोदयानुगुणहुतवहमात्रेण संबन्धनियमः तथैवानीश्वरत्वकिंचिज्ज्ञत्वशरीरित्वपुण्यपापपरवशत्वमनुष्यत्वादिविशषग्रहाणेन कार्यस्य स्वनिर्माणसमर्थ बुद्धिमत्कर्तृमात्रेण संबन्धनियमनिनश्च इति न कश्चिद्विशेषः ।**

तत्त्वप्रकाशिका— इदृशेन० इत्यादि— यदि मीमांसक कहें कि अकर्मवश्य, अशरीरी तथा सर्वज्ञ कर्ता के साथ कार्यत्व का अविनाभाव रूप सम्बन्ध घटादि में नहीं देखा गया है । इस पर ईश्वरवादी कहते हैं **अतिगहन० इत्यादि—** क्या अत्यन्त दुर्गम पर्वत पर विद्यमान अत्यधिक इन्धन समूह से प्रज्ज्वलित अग्नि विशेष के सादि महानसीय धूम का सम्बन्ध कहीं देखा गया है ? **येन धूमविशेषा० इत्यादि—** कि धूम विशेष को देखकर पर्वत पर उस प्रकार की अग्नि का अनुमान किया जाता है ? वास्तविकता है कि सामान्य धर्म से विशिष्ट व्याप्ति ग्रह के द्वारा पक्ष धर्मता के द्वारा पक्ष में विद्यमान साध्य विशेष की सिद्धि होती है । **यादृशो धूमः इत्यादि—** यदि मीमांसक कहें कि जहाँ पर जिस प्रकार का धूम देखा गया रहता है वहाँ पर उस प्रकार का साध्य के सम्पादन में समर्थ दृष्टान्त नहीं देखे गये रहने पर भी सामान्य व्याप्ति के द्वारा पक्ष धर्मता की सहायता से साध्य की सिद्धि होती है । अतएव

पर्वत पर अत्यधिक धूम को देखकर उस प्रकार की पर्वत पर विपुल मात्रा में विद्यमान अग्नि का अनुमान किया जाता है। **तदिदम्० इत्यादि**— तो फिर हमारा यह कथन आप की बुद्धि में क्यों नहीं बैठता है कि जो-जो कार्य होता है, वह समर्थ कृत पूर्वक ही होता है। घट आदि में ज्ञात कार्यत्व तथा समर्थ कर्तृकत्व का नियम पृथिवी आदि कार्यों में देखे जाने वाला कार्यत्व उनके निर्माण में समर्थ अदृष्ट पूर्वक बुद्धिमान कर्ता को सिद्ध करता है। **यथैव० इत्यादि**— जिस तरह धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करने में देश विशेष, काल विशेष तथा इन्धन विशेष का महत्त्व नहीं होता है, अपितु धूम का अपनी उत्पत्ति के अनुकूल अग्नि मात्र के सम्बन्ध नियम होता है। **तथैव० इत्यादि**— उसी तरह कार्य की उत्पत्ति में अनीश्वरत्व, किञ्चिज्ञत्व शरीरित्व, पुण्य पाप, पाखत्व तथा मनुष्यत्व इत्यादि को छोड़कर कार्य के लिए स्वनिर्माण समर्थ बुद्धिमत् कर्तृता मात्र से सम्बन्ध होने का नियम है। जिस तरह धूम को देखकर पर्वत में अग्नि विशेष की सिद्धि होती है, उसी तरह पृथिव्यादि के कार्यत्व के द्वारा उनके निर्माण में समर्थ कर्ता विशेष की सिद्धि होती है दोनों मैं कोई भी अन्तर नहीं है।

मूल— **अपि च विभुद्रव्यसंयोगिनः परिस्पन्दवतश्च सर्वत्र स्वर्शवत्त्वाव्यभिचारेऽपि ज्ञानसुखादिनित्यद्रब्यविशेषगुणानुमितात्मसंयोगिनो मनसः कथमिव स्पर्शरहितत्व, कथं च वायवीयद्रव्यस्य महिमगुणशालिनो नियताधिष्ठानस्पार्शनत्वनियमदर्शनेऽपि त्वगिन्द्रिये तद्विपर्ययः तैजसस्य वा रूपस्पर्शयोरन्यतरस्य वा प्राकट्यनियमेऽपि रूपोपलम्भसाधनतानुमिततैजसभावस्य चक्षुषो नियमेन तदुभयानुद्भवाभ्युपगमः। अथ कार्यदर्शनानुमितसद्भावानां तैजसादिभावेऽपि तत्तद्विशेषाणां योग्यानुपलब्धिबाधितत्वात् तदभ्युपगमेऽनेकनियमभङ्गप्रसङ्गाच्च तथाऽभ्युपगमः।**

हन्त तर्हि प्रकृतविषयेऽपि प्रसंजितधर्मविशेषाणामनपलम्भबाधाविशेषादनेकनियमदर्शन विघातप्रसङ्गाच्च तथाभ्युपगम इति सर्वं समानमन्यत्राभिनिवेशात्।

तत्त्वप्रकाशिका— अपि च० इत्यादि— किञ्च विभद्रव्य से जिसका संयोग सम्बन्ध होता है तथा जिसमें परिस्पन्द होता है ऐसा द्रव्य सर्वत्र स्पर्श गुणवान् होता है । ज्ञान सुख आदि नित्य द्रव्य के विशेष गुण रूप से जिसका अनुमान किया जाता है ऐसे आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध वाले मन का स्पर्श क्यों नहीं होता है ? यहाँ मीमांसकों के कहने का अभिप्राय यह है कि नैयायिक मन को विभुद्रव्य नहीं मानते हैं और आत्मा को विभुद्रव्य मानते हैं । मन को वे विभुद्रव्य इसलिए भी नहीं मानते हैं कि न्याय दर्शन के अनुसार दो विभुद्रव्य का संयोग नहीं होता है । ज्ञान इत्यादि असमवायी करण के संयोग के आश्रय रूप से ही मन की सिद्धि होती है । आत्मा तथा मन का संयोग ही ज्ञान इत्यादि के आश्रय हैं ऐसा नैयायिक मानते हैं । नैयायिक यह भी मानते हैं कि मन अणु और स्पर्श रहित इसीलिए एक ही समय में अनेक ज्ञान नहीं होते हैं यदि मन को स्पर्शवान् माना जाय तो उसके भूत मानना होगा। यदि वह भूत होगा तो वह भूत व्यतिरिक्त आत्मा के विशेष गुण का ग्राहक नहीं होगा । यहाँ पर मीमांसकों का अभिप्राय है कि मन यदि सीमित परिमाण वाला तथा क्रियावान् होगा तो उसको स्पर्शवान् होना चाहिए । इस पर नैयायिक कहते हैं **कथं च वायवीय० इत्यादि—** अर्थात् यह नियमत: देखा जाता है कि जो वायवीय द्रव्य होता है उद्भूत महत्त्वगुण सम्पन्न होता है तथा अनियताधिष्ठान होता है उसका स्पर्श होता है, उसका स्पर्श अवश्य होता है किन्तु वायवीय त्वगिन्द्रिय का स्पर्श क्यों नहीं होता है ? **तैजसस्यवा० इत्यादि—** अथवा जो तैजस होता है, उसका रूप और स्पर्श इन दोनों में एक के प्राकट्य नियमत: होता है और चक्षुरिन्द्रिय का रूप के ग्रहण का साधन होने के कारण उसका तेजस रूप से अनुमान कर लिया जाता किन्तु न तो उसके रूप की उपलब्धि होती है और न स्पर्श की ऐसा क्यों होता है ? इससे स्पष्ट होता है कि जिसका बार-बार सहचार देखा गया उसका भी कहीं व्यभिचार होता है । इस तरह अविभुद्रव्य मन का स्पर्श नहीं होता है ।

अथ कार्यदर्शना० इत्यादि— यदि मीमांसक कहें कि कार्य को

देखकर जिनके सद्भाव का अनुमान किया जाता है ऐसा जो त्वगिन्द्रिय का वायवी यत्व, तथा चक्षुरिन्द्रिय का तैजसत्व, होने पर भी उनके क्रमशः स्पर्शवत्य तथा प्राकट्य का बाध योग्यानुपलब्धि के द्वारा ही बाधित है, यदि त्वगिन्द्रिय का स्पर्शवत्व तथा चक्षुरिन्द्रिय का प्राकट्य स्वीकार किया जाय तो अनेक नियमों के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा । इस पर नैयायिक कहते हैं **हन्ततर्हि० इत्यादि**— इसी तरह मन का भी स्पर्श स्वीकार करने पर अनेक नियमों के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा । मन को स्पर्शवान् मानने पर उसको भूत मानने का प्रसङ्ग होगा और भूत मानने पर अन्य इन्द्रियों के समान भूत व्यतिरिक्त आत्मा के सुखादि गुणों के ग्रहण भाव का प्रसङ्ग होगा । यदि भूतत्वषच्छिन्न मन को आत्मा के गुण का ग्राहक मान लिया जाय तो भौतिक इन्द्रियों से अभूत द्रव्य के गुण के आग्रहकर्ता के नियम का भङ्ग होगा इसी तरह से चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय के भी विषय में अनेक प्रकार के प्रसङ्ग होंगे । अतएव अनुपलब्धि प्रमाण से बाधित होने एवं अनेक नियमों के भङ्ग के प्रसङ्ग के कारण मन का स्पर्शव नहीं स्वीकार किया जाता है ।

इसी तरह ईश्वर को शरीरी इसलिए नहीं माना जाता है कि ईश्वर को शरीरी मानने पर उनकी शरीर के द्वारा उपलब्धि का प्रसङ्ग होगा । कर्म सम्बन्ध से युक्त मानने पर ईश्वर के सर्वज्ञ होने का प्रसङ्ग होगा । इसी तरह पृथिवी आदि के कार्यत्व की सिद्धि हो जाने पर उनका निर्माण करने में समर्थ सर्वज्ञ कर्ता ईश्वर को स्वीकार करना चाहिए ।

ईश्वर के सद्भाव में अनुमान प्रमाण का उपन्यास

मूल— **दृश्यते हि नीतयः, तथा विवादास्पदं परमाण्वादि-प्रेक्षावत्प्रेरितं चेष्टते अचेतनत्वात् यदचेतनं तत्तथा यथा तथाविधं कन्दुकादि तथा विवादाध्यासिता वाह्याभ्यन्तरप्रवृत्तयः प्रकृत्यु-पकरणप्रत्यक्षपूर्विकाः कार्यत्वात्तद्वदेव ।**

प्रत्यक्षं तत्प्रमेयत्वत्पदार्थत्वाद्घटादिवत् ।
एवेच्छानुविधायीयमाचैतन्या-त्स्वदेहवत् ॥१६॥

एकेनाधिष्ठिताः कार्यं कुर्वते सर्वचेतनाः ।
देहसम्बन्धसापेक्षकार्यकृत्त्वात् त्वगादिवत् ॥१७॥
एकप्रधानपुरुषं विवादाध्यासितं जगत् ।
चैतनाचेतनातमत्वा देकराजदेशवत् ॥१८॥

एतावानेवेश्वरसिद्धिभाग उपलभ्यते ।

इति श्रीमद्विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तनधुरन्धर परमाचार्य श्रीभगवद्यामुनमुनि समनुगृहीते सिद्धित्रये ईश्वर सिद्धिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— ईश्वर के अभिमत विशेषताओं के विषय में निम्नांकित प्रकार के अनुमान भी किए जाते हैं । विवादास्पद परमाणुओं में अनेक प्रकार की चेष्टाएँ किसी बुद्धिमान पुरुष के द्वारा की जाने वाली प्रेरणाओं के द्वारा ही होती है । क्योंकि परमाणु अचेतन हैं । जितने भी अचेतन द्रव्य होते हैं, उनमें चेतन प्रेरित ही चेष्टाएँ होती हैं । गेन्द के समान गेन्द भी चेतन प्रेरित ही चेष्टाएँ देखी जाती हैं । अतएव सिद्ध होता है कि इन परमाणुओं में भी गति लाने वाला कोई-न-कोई चेतन होगा, वह चेतन ईश्वर ही हैं । **तथा विवादाध्यसिता० इत्यादि**— उसी तरह विवादास्पद बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रवृत्तियाँ भी प्रकृति रूपी उपकरण के प्रत्यक्ष पूर्वक ही होती है, क्योंकि वे कार्य हैं, कन्दुकादि के समान। **प्रत्यक्षम्० इत्यादि**— परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी कोई साक्षात्कार करने वाला होगा क्योंकि वे प्रमेय हैं । जो-जो प्रमेय होता है, उसका कोई न कोई साक्षात्कार करने वाला होता है घटादि के समान इसी तरह दूसरा भी अनुमान होता है परमाणु आदि का भी कोई साक्षात्कार करने वाला होगा, क्योंकि वे पदार्थ हैं, घटादि के समान ।

एकेच्छा० इत्यादि— यह सम्पूर्ण अचेतन समूह किसी एक चेतन (ईश्वर) के सङ्कल्प का अनुसरण करते हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं, अपने शरीर के समान, जिस तरह अपना शरीर उसके भीतर रहने वाले आत्मा को ही सङ्कल्प का अनुसरण करता है, उसी तरह **एकेनाधिष्ठितान्० इत्यादि**— सभी चेतनों का समूह किसी एकचेतन (ईश्वर) के ही द्वारा

अधिष्ठित होकर, कार्यों को करते हैं, क्योंकि वे देह सापेक्ष होकर ही कार्यों को करते हैं त्वगादि इन्द्रियों के समान । **एक प्रधान पुरुषम्० इत्यादि**— विवादास्पद जगत् का प्रधान पुरुष (स्वामी, नियामक आदि) एक ईश्वर ही हैं जगत् के चेतना चेतनात्मक होने के कारण, यह उसी तरह से है जिस तरह चेतनात्मक देश का एक ही राजा होता है, उसी तरह ।

नोट— ईश्वर सिद्धि का इतना ही भाग उपलब्ध होता है ।

इस तरह श्रीमद्भगवद्यामुनाचार्य स्वामी प्रणीत सिद्धित्रय के ईश्वर सिद्धि की जगद् गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तविद् स्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य कृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या सम्पूर्ण हुयी ।



नमः श्रियै, श्रीधराय नमः
श्रीमद् भागवद्यामुनमुनये नमः
श्रीमते रामानुजाय नमः

परमाचार्य श्रीमद्यामुनमुनि समनुगृहीत सिद्धित्रये

संवित्सिद्धिः

तत्त्वप्रकाशिकाख्यव्याख्यया समन्विता

अद्वैत्यभिमत अद्वितीय श्रुति के अर्थ में दोषों का निरूपण

मूल— **एकमेवाद्वितीयं तद्ब्रह्मेत्युपनिषद्वचः ।**
ब्रह्मणोऽन्यस्य सद्भावं ननु तत्प्रतिषेधति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका— प्रमाणों का फल ज्ञान है वही प्रमेय तत्त्व का व्यवस्थापक है । उस ज्ञान के स्वरूप आदि का निरूपण इस संवित् सिद्धि नामक ग्रन्थ में किया गया है । **एकमेवा० इत्यादि—** उपनिषत् वाणी है कि ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है । श्रुति का स्वरूप है **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।** इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् के कारण स्वरूप सत् शब्द वाच्य परं ब्रह्म अद्वितीय हैं । इस श्रुति का अर्थ करते हुए अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि यह श्रुति सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म को अद्वितीय बतलाती है और **सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म** यह श्रुति ब्रह्म को ज्ञान मात्र बतलाती है अतएव परंब्रह्म सजातीय विसजातीय तथा स्वगत भेद शून्य चिन्मात्र हैं । वे ही परमार्थ सत् हैं । उनसे भिन्न प्रतीय मान प्रपञ्च उस ब्रह्म में अविद्या परिकल्पित होने के कारण मिथ्या है । **तद्ब्रह्म** श्रुति का तत् शब्द प्रसिद्धि का परामर्शक है और अद्वितीयं पद सत् पद का विशेषण है अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करने के लिए अद्वितीय वृत्ति का विकल्प करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं।

मूल— **अत्र ब्रूमोऽद्वितीयोक्तौ समासः को विवक्षितः ।**
किंस्वित्तत्पुरुषः किं वा बहुव्रीहिरथोच्यताम् ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका— यहाँ पर प्रश्न है कि अद्वितीय पद में अद्वैती विद्वान् कौन सा समास मानते हैं ? तत्पुरुष समास अथवा बहुब्रहि समास?।

मूल—

पूर्वस्मिन्नुत्तरस्तावत्प्राधान्येन विवक्ष्यते ।
पदार्थस्तात्र तद्ब्रह्म ततोऽन्यत्सादृशं तु वा ॥३॥
तद्विरुद्धमथो वा स्यात् त्रिष्वप्यन्यं न बाधते ।
अन्यत्वे सदृशत्वे वा द्वितीयं सिध्यति ध्रुवम् ॥४॥
विरुद्धत्वो द्वितीयेन तृतीयं प्रथमं तु वा ।
ब्रह्म प्राप्नोति यस्मात्तद द्वितीयेन विरुध्यते ॥५॥
अतः सप्रथमाः सर्वे तृतीयाद्यार्थराशयः ।
द्वितीयेन तथा स्पृष्ट्वा स्वस्थास्तिष्ठन्त्यबाधिताः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका— पूर्वस्मिन्० इत्यादि— यदि तत्पुरुष समास मानें तो तत्पुरुष समास में **उत्तरपदार्थ प्रधानः तत्पुरुषः** इस नियम के अनुसार तत्पुरुष समास में उत्तर पद की ही प्रधानता होती है । अतएव अद्वितीयं पद का अर्थ होगा तदन्यत्व, तत्सदृशत्व या तद्विरुद्धत्व । अर्थात् ब्रह्म से भिन्न, ब्रह्म के सदृश या ब्रह्म के विरुद्ध, इन तीनों अर्थों में से किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर द्वितीय का बाध नहीं होता । तदन्य अर्थ मानने पर द्वितीय शब्द वाच्य प्रपञ्च ब्रह्म से भिन्न सिद्ध होता है । तत्सदृशत्व रूप अर्थ मानने पर प्रपञ्च ब्रह्म के सदृश सिद्ध होता है तथा विरुद्ध अर्थ मानने पर प्रपञ्च द्वितीय न होकर प्रथम या तृतीय सिद्ध होता है । क्योंकि ब्रह्म से द्वितीय का विरोध है । इस तरह तत्पुरुष समास में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय आदि अर्थों का बाध नहीं होता है । वे सबके सब स्वस्थ बनी रहते हैं ।

मूल— **ननु नञ् ब्रह्मणोऽन्यस्य सर्वस्यैव निषेधकम् ।**
द्वितीयग्रहणं यस्मात्सर्वस्यैवोप-लक्षणम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि द्वितीय पद मुख्यार्थक नहीं है अपितु वह सम्पूर्ण भेद प्रपञ्च का उपलक्षण है और नञ् पद अत्यन्ताभावार्थक है । इस तरह अद्वितय पद का अर्थ है द्वितीय का अभाव । यहाँ पर अर्थाभाव के अर्थ में अव्ययीभाव समास समझना चाहिए । इस तरह **अद्वितीयम्** पद के द्वारा भेद प्रपञ्च के बाध की सिद्धि हो जाती है । तो उसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं ।

मूल— **नैवं निषेधो न ह्यस्माद् द्वितीयस्याऽवगम्यते ।**
ततोऽन्यत्तद्विरूद्धं वा सदृशं वात्र वक्ति सः ॥८॥
द्वितीयं यस्य नैवास्ति तद्ब्रह्मेति विवक्षिते ।
सत्यादिलक्षणोक्तीनामपलक्षणता भवेत् ॥९॥
अद्वितीये द्वितीयार्थनास्तितामात्रगोचरे ।
स्वनिष्ठ त्वान्नञर्थस्य न स्याद्ब्रह्मपदान्वयः ॥१०॥
द्वितीयशून्यता तत्र ब्रह्मणो न विशेषणम् ।
विशेषणे वा तद्ब्रह्म तृतीयं प्रथमं तु वा ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वान् इस तरह की बात इसलिए नहीं कह सकते हैं कि अद्वितीयम् पद से द्वितीय और तृतीय का निषेध नहीं ज्ञात होता है । अद्वितीय पद के द्वारा ब्रह्म से द्वितीय से भिन्न या ब्रह्म से विरुद्ध तथा ब्रह्म के सदृश रूप ही अर्थ का ज्ञान होता है । वह प्रञ्चच मात्र का निषेध नहीं प्रतीत होता है । फलतः **अद्वितीयम्** पद में अव्ययी भाव समान नहीं माना जा सकता है । किञ्च ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् का निषेध भी अनुपन्न है । क्योंकि अद्वितीय पद का विवक्षित अर्थ जिसका द्वितीय नहीं है ऐसा मानने पर ब्रह्म के **सत्यं ज्ञानम् नन्त ब्रह्म इत्यादि**— लक्षण नहीं होकर उपलक्षण हो जायेंगे । किञ्च अव्ययी भाव का सत् पद से अन्वय भी नहीं होगा । इस बात को बतलाते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अद्वितीये० इत्यादि**— अद्वितीय पद को यदि द्वितीयार्थ अभाव मात्र का बोधक माना जाय तो नञर्थ के स्वप्रधान होने के कारण उसका ब्रह्म पद के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकेगा।

अर्थात् वह ब्रह्म के बाच का सत् पद का विशेषण नहीं होगा । यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि द्वितीय का अभाव ब्रह्म स्वरूप ही हैं अतएव उसका ब्रह्मपद के समानाधिकरण होगा । तो इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं **द्वितीयशून्यता० इत्यादि—** अर्थात् द्वितीय का अभाव अभेद सम्बन्ध से ब्रह्म का विशेषण नहीं हो सकता है । क्योंकि अभाव तुच्छ होता है तथा ब्रह्म सत्य है । सत्य और तुच्छ की कभी एकता नहीं होती है । यदि उसको ब्रह्म का विशेषण भी मान लिया जाय तो वह ब्रह्म तृतीय अथवा प्रथम होगा । अर्थात् द्वितीय का प्रतियोगी प्रथम होगा, और प्रथम का अभाव द्वितीय होगा और तृतीय विशेष्य ब्रह्म होगा । अथवा ब्रह्म प्रथम होगा दूसरा प्रतियोगी द्वितीय होगा और द्वितीय का अभाव तृतीय होगा । इस तरह ब्रह्म प्रथमत्व अथवा तृतीयत्व अवश्य स्वीकार करना होगा । फलतः अव्ययी भाव पक्ष को भी स्वीकार करने पर अद्वैती सिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

मूल—

प्रसक्तं पूर्ववत्सर्वं बहुब्रीहौ समस्यति ।
ब्रह्मणः प्रथमा ये च तृतीयाद्या जगत्त्रये ॥१२॥
ब्रह्म प्रत्यद्वितीयत्वात्स्वस्थास्तिष्ठन्त्यबाधिताः ।
किञ्च तत्र बहुब्रीहौ समासे संश्रिते सति ॥१३॥
वत्यर्थस्य नञर्थस्य न पदार्थान्तरान्वयः ।
सत्यार्थान्तरसम्बन्धे षष्ठी यस्येति युज्यते ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका— प्रसक्तमित्यादि— अद्वितीयम् पद में बहुब्रीहि समास स्वीकार करने पर भी तत्पुरुष समास के ही समान प्रथम तथा तृतीय आदि का सद्भाव स्वीकार करना ही होगा । अद्वितीय पद का **नास्ति द्वितीयं यस्य** यह विग्रह स्वीकार करने पर अर्थ होगा कि ब्रह्मनिष्ठ द्वित्व संख्या पूरक नहीं है । इस तरह से तो ब्रह्म ही द्वितीय सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म की अपेक्षा प्रथम तथा तृतीय आदि का बाध नहीं होगा । यही अद्वितीय श्रुति का अर्थ होगा । आद्य संख्या के पूरकत्व

को प्रथमत्व कहते हैं और तृतीयत्वादि संख्या के पूरकत्व कहते हैं । ब्रह्म के प्रति अद्वितीय होने के करण तृतीयत्व इत्यादि अबाधित होने के कारण स्वस्थ अक्षुण्ण बने रहते हैं । यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि बहुव्रीहि घटक द्वितीय पद का अर्थ द्वित्व संख्या पूरकार्थत्व नहीं माना जाता है और न तो यत् शब्द का अर्थ ब्रह्मण निष्ठत्व सम्बन्ध से अन्वय माना जाता है, फलत: प्रथम तृतीयादि का यहाँ प्रसङ्ग नहीं हो सकता है । अपितु द्वितीय पद भिन्न परक है और भेद के साथ ब्रह्म प्रतियोगिकत्व का अन्वय है । अद्वितीयक पद का अर्थ होगा कि चूकि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है । इस प्रकार का अद्वितीय ब्रह्म है । फलत: अद्वितीय श्रुति के द्वारा द्वितीय (उससे भिन्न) का बाध ज्ञात ही होता है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **किञ्च इत्यादि**— अर्थात् चूकि बहुव्रीहि समास अन्य पदार्थ प्रधान होता है । उस बहुव्रीहि समास को मानने पर बहुव्रीहि वृत्त पदोपस्थाप्य द्वितीय के अभाव को ब्रह्म का विशेषण मानना होगा । किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है , क्योंकि ब्रह्म सबों को शून्य मानने वालों के मत में द्वितीय का अभाव के भी शून्य रूप होने के कारण वह ब्रह्म का विशेषण नहीं हो सकता है । यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि वृत्त्यर्थ (बहुब्रीह्यर्थ) नर्ञ्थ जो द्वितीया भाव रूप है उसका पदार्थान्तर के साथ अन्वय क्यों नहीं हो सकता है तो उसका उत्तर देते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं **सत्यार्थान्तर० इत्यादि**— अर्थात् नास्ति द्वितीयं यस्य, इस विग्रह घटक **यस्य** यह जो षष्ठी है उसका अर्थान्तर से सम्बन्धत्व ही होगा जब कि अर्थान्तर सम्बन्ध सत्य हो । किन्तु निर्षिष ब्रह्म प्रकृत्यर्थ में पदार्थान्तर सम्बन्ध के असत्य होने के कारण षष्ठी बहुव्रीहि का उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।

मूल—

द्वितीयवस्तुनास्तित्वं न ब्रह्म न विशेषणम् ।
आसत्त्वान्न ह्यसद्ब्रह्म भवेन्नापि विशेषणम् ॥१५॥
तस्मात्प्रपञ्चसद्भावो नाद्वैतश्रुतिबाधितः ।
स्वप्रमाणबलात्सिद्धः श्रुत्या चाप्यनुमोदितः ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि **राहोशिरः इत्यादि**— में भेद का अभाव होने पर भी जैसे षष्ठी देखी जाती है । इसी तरह यहाँ अर्थ होगा कि **यदृभिन्नो द्वितीयाभावः तद्द्वितीयम् ब्रह्म** यही अद्वितीयं पद का विवक्षित अर्थ है । तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **द्वितीय वस्तु॰ इत्यादि**— द्वितीय वस्तु का अभाव न तो ब्रह्म है और न विशेषण है क्योंकि वह अभाव रूप है । अभाव रूप होने के ही कारण वह न तो ब्रह्म हो सकता है और न विशेषण हो सकता है कहने का अभिप्राय है कि असत् पदार्थ का सत्पदार्थ ब्रह्म से न तो अभेद हो सकता है और न तो वह सत् ब्रह्म का विशेषण हो सकता है । **तस्मात्॰ इत्यादि**— अतएव निर्दोष तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध तथा श्रुति के द्वारा परमार्थ रूप से वर्णित प्रपञ्च के सद्भाव का अद्वितीय श्रुति से बाध नहीं हो सकता हैं; क्योंकि प्रपञ्च निर्दोष है, प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध है तथा श्रुति भी उसको सत्य बतलाती है ।

प्रपञ्च ब्रह्म की विभूति है, इस अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक सिद्धान्ती द्वारा अद्वितीय श्रुति का अपने सिद्धान्तानुसार अर्थ वर्णन

मूल—

तेनाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतेरर्थोऽपमुच्यते ।
द्वितीयगणनायोग्यो नासीदस्ति भविष्याति ॥१७॥
समो वाऽभ्यधिको वाऽस्य यो द्वितीयस्तु गण्यते ।
यतोऽस्य विभवव्यूहकलामात्रमिदं जगत् ॥१८॥
द्वितीयवागास्पदतां प्रतिपद्येत तत्कथम् ।
यथा चोलनृपः सम्राड्द्विती योऽद्य भूतले ॥१९॥
इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः ।
न तु तद्भृत्यतत्पुत्रकलत्रादिनिषेधकम् ॥२०॥
तथा सुरासुरनरब्रह्मब्रह्माण्डकोटयः ।
क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः ॥२१॥

ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः ।
विष्णोर्विभूतिमहिमसमुद्रप्सविप्लुषः ॥२२॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि तो फिर अद्वितिय श्रुति का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **तेनाद्वितीयम्० इत्यादि**— अर्थात् चूकि अद्वैव्यभिमत अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता है, अतएव अद्वितीय श्रुति का अर्थ यह है कि परं ब्रह्म को प्रथम रूप से मानने उनकी अपेक्षा द्वितीय रूप से गणना करने योग्य कोई भी उनके समान अथवा उनसे अधिक वस्तु न तो अतीत काल में थी, न वर्तमान काल में है और न तो भविष्यत् काल में होगी । इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हुयी दूसरी श्रुति स्पष्ट रूप से कहती है **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते** अर्थात् उस परं ब्रह्म के न तो कोई समान है और न उनसे कोई बढ़कर है । स्मृति भी कहती है **न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः** अर्थात् हे भगवन् ! जब आपके समान ही कोई नहीं है तो आपसे अधिक कहाँ से कोई होगा यदि कोई यह कहे कि अनेक प्रकार के अद्भुत चेतना चेतनात्मक प्रपञ्च में कोई भी परंब्रह्म के समान नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **यतोऽस्य० इत्यादि**— चूकि परंब्रह्म महाविभूति सम्पन्न हैं । चतुर्दशभुवनात्मक अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड परंब्रह्म के ऐश्वर्य के एक अंश मात्र हैं । फलतः ब्रह्मा इत्यादि देवताओं में भी परं ब्रह्म परमात्मा के साम्य का गन्ध भी नहीं है । अतएव परंब्रह्म के साथ उन सबों की द्वितीय रूप से गणना कैसे की जा सकती है ?

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में तो अद्वितीयम् पद में तत्पुरुष तथा बहुब्रीहि ये दोनों वृत्तियाँ स्वीकार की जाती है । श्रीमद् वेदान्तदेशिक ने शतदूषणी में कहा है । **अस्मत्पक्षेतु वृतिद्वयामपि सम्यक द्वितीय व्यतिरेकोक्त्या सतः स्यादग्र गण्यता द्वितीय शून्यतोक्त्याच तत्समान निषेधनम् ।** अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वस्तु की गणना के प्रसङ्ग में ब्रह्म को ही प्रथम गिनना उचित है । क्योंकि ब्रह्म ही सर्वाधिक मुख्य हैं । लोक में देखा भी जाता है कि जो मुख्य होता है उसी को प्रथम गिना जाता है जैसे मुख्य होने के ही

कारण कालिदास को कवियों में प्रथम गिना जाता है । महर्षि जैमिनि भी मुख्य को ही प्रथम कहते हैं । उनका सूत्र है **मुख्यं वा चोदनाल्लोकवत्** नञ्तत्पुरुष में ब्रह्म की प्रगण्यता होती है अतएव ब्रह्म की ही सर्वाधिकत्व की सिद्धि होती है । अतः ब्रह्म से अधिक (श्रेष्ठ) का निषेध सिद्ध हो जाता है । किञ्च बहुब्रीहि वृत्ति के द्वारा ब्रह्म के सदृश का निषेध हो जाता है । मुक्त जीवों की भी भोगमात्र के ही विषय में समता है अतएव ब्रह्म ही नित्य मुक्त जीवों से भी श्रेष्ठ होने के कारण श्रेष्ठ हैं । इस तरह ब्रह्म समाभ्यधिक रहित सिद्ध होते है । **यथा चोहमानृपः इत्यादि**— जैसे कहा जाता है कि इस समय चोल राज्याधिपति की अद्वितीय हैं इस कथन का यही अभिप्राय है कि चोलाधिपति के समान कोई दूसरा राजा नहीं है । वे ही सर्वश्रेष्ठ राजा हैं अद्वितीय पद का अभिप्राय राजा के भृत्य, पुत्र तथा कलत्र का निषेधक नहीं है । **तथासुरासुर० इत्यादि**— उसी तरह क्लेश, कर्म, कर्मों के परिणाम तथा कर्मों की वासना के गन्ध से भी रहित, इस सम्पूर्ण जगत् के नियामक ज्ञान, शिक्ति, बल ऐश्वर्य वीर्य तथा तेज नामक है । छंह ऐश्वर्यों के एक मात्र आश्रय अचिन्त्य वैभव सम्पन्न भगवान् विष्णु की महिमा रूपी सागर के जलगण के समान हैं देवता, असुर, मनुष्य, ब्रह्म तथा करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं ।

मूल—

कः खल्वङ्गुलिभङ्गेन समुद्रान् सप्तसङ्ख्यया ।
गणयन् गणयेदूर्मिफेनबुद्बुदविप्लुषः ॥२३॥
यथैक एव सविता न द्वितीयो नभःस्थले ।
इत्युक्तया न हि सावित्रा निषिध्यन्तेऽत्र रश्मयः ॥२४॥
यथा प्रधानसङ्ख्येयसङ्ख्यायां नैव गण्यते ।
सङ्ख्या पृथक्सती तत्र सङ्ख्येयान्यपदार्थवत् ॥२५॥

तत्त्वप्रकाशिका— कः खलु० इत्यादि— कौन ऐसा मनुष्य है जो अपनी अङ्गुलियों को मोड़-मोड़कर सातो समुद्रों की गणना करते हुए उन समुद्रों की लहरियों, फेनों तथा बुन्दों को भी गिन सके । **यथैक**

एव० इत्यादि— जिस तरह आकाश में एक ही सूर्य हैं दूसरा नहीं है इस तरह से कहने वाले का अभिप्राय सूर्य की रश्मियों का निषेध करने में नहीं हैं अपितु उसका कार्य ही अभिप्राााय है कि आकाश सूर्य के अतिरिक्त कोई दूसरा सूर्य नहीं है । **यथा संख्येय० इत्यादि—** जिस तरह प्रधान भूत संख्येय द्रव्य की गणना के प्रसङ्ग में संख्येये द्रव्य के गुणभूत उनकी संख्या की गणना नहीं की जाती है उसी तरह सभी द्रव्यों में प्रधान भूत ब्रह्म की गणना के प्रसङ्ग में स्वरूप के अन्तर्गत विद्यमान देवता असुर, ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड इत्यादि की गणना का कोई भी प्रसङ्ग नही है, यही अद्वितीय श्रुति का अभिप्राय है ।

मूल—

तथा, पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।
इति ब्रुवन् जगत्सर्वमित्थंम्भावे न्यवेशयत् ॥२६॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह पूछे कि ब्रह्मव्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म की विभूति है, इस कथन में क्या प्रमाण है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **तथापादोऽस्य० इत्यादि—** सम्पूर्ण जगत् परंब्रह्म की विभूति में चारो वेदों में पठित पुरुष सूक्त की पाक्षेऽस्य विश्वाभूतानि इत्यादि श्रुति ही प्रमाण है । इस श्रुति का अर्थ है कि परंब्रह्म परमात्मा के ऐश्वर्य के एक चरण में ही सम्पूर्ण जगत् है, और उस परंब्रह्म परमात्मा के ऐश्वर्य का तीन भाग त्रिपाद् विभूति नामक द्युलोक में है । इस तरह से प्रतिपादन करती हुयी श्रुति सम्पूर्ण जगत् को परंब्रह्म के अपृथक् सिद्ध प्रकार रूप से बतलाती है ।

मूल—

तथा एतावानस्य महिमा ततो ज्यायस्तरो हि सः ।
यत्रान्यन्न विजानाति स भूमोदरमन्तरम्-
कुरुतेऽस्य भयं व्यक्तमित्यादिश्रुतयः पराः ॥२७॥
मेरोरिवाणुर्यस्येदं ब्रह्माण्डमखिलं जगत् ।
इत्यादिकाः समस्तस्य तदित्थंम्भावतापराः ॥२८॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि कोई यह कहे कि जगत् को ब्रह्म के स्वरूप का एक देश क्यों न मान लिया जाय तो इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं **तथा एतावानस्य० इत्यादि**— अर्थात् श्रुति स्वयं कहती है कि लीला विभूति तथा त्रिपाद्विभूति दोनों परं ब्रह्म की विभूतियाँ हैं, इससे परंब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता सूचित होती है । फलत; ये विभूतियाँ परंब्रह्म अतिशया वह गुण हैं क्योंकि ये परंब्रह्म की महिमा है । **ततोज्यायांश्च पूरुषः** श्रुत्यंश ब्रह्म जगत् की अपेक्षा वैलक्ष्ज्ञण्य बतलाती है । अतएव ये विभूतियाँ ब्रह्म के स्वरूप का एक देश नहीं हो सकती हैं । अतएव परंब्रह्म के अपृथक सिद्ध विशेषण होने के कारण विशिष्ट वस्त्वैक देशत्व रूप ही अंशत्व जगत् का अभिमत है ।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के स्वरूपान्तर्गत है इस अर्थ का प्रतिपादन करती हुयी तैत्तिरीयोपनिषत् की श्रुति कहती है **यदा ह्येवैष हयेतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति** । अर्थात् उपासक जब इस प्रपञ्च में ब्रह्म से थोड़े सा भी विच्छेद का अनुभव करता है तो उसको संसार का भय होता है । यद्यपि यह अर्थ अद्वैत्यभिमत ही अर्थ है फिर भी इससे जगत् के मिथ्यात की सिद्धि नहीं होती है । इस श्रुति का सिद्धान्तानुसार अर्थ है कि परमात्मा में निष्ठा शब्द से अभिहित ध्रुवानु स्मृति का अल्पकालिक विच्छेद होने पर भी संसार का भय होता है । किञ्च **मेरोरिवाणुर्यस्येदं ब्रह्माण्डमखिलं जगत्** यह स्मृति कहती है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड श्रीभगवान् की महिमा का उसी तरह से अंश है जिस तरह सुमेरु पर्वत का एक कण सुमेर पर्वत का एक अंश मात्र होता है । उसी तरह यह जगत् परंब्रह्म के महिमा का एक अंश है । ये सभी श्रुतियाँ और स्मृतियाँ सम्पूर्ण जगत् को परं ब्रह्म का अपृथक् सिद्ध प्रकार बतलाती हैं ।

मूल— **वाचाऽऽरम्भणमात्रं तु जगत्स्थावरजङ्गमम् ।**
विकारजातं कूटस्थं मूलकारणमेव सत् ॥२९॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि यद्यपि उपर्युक्त वाक्यों में जगत् को ब्रह्म की विभूतित्व का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु दूसरे वाक्य है जो यह बतलाते हैं कि कारण मात्र ही सत्य है,

तद्‌यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है । अतएव उन वाक्यों के अनुसार जगत् व्यवहारिक ही मानना चाहिए । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **वाचारम्भण० इत्यादि**— अर्थात् उन वाक्यों में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है, अपितु जगत् को ब्रह्मात्मक बतलाकर जगत् को भी सत्य बतलाया गया है । छान्दोगय श्रुति कहती है **वाचारम्मणं विकारोनामधेम मृत्तिकेत्येव सत्यम्** यह श्रुति बतलाती है कि जितने भी कार्य समूह हैं तथा नामधेय हैं वे सम्पूर्ण वाक्य पूर्वक व्यवहार पूर्वक ही स्पृष्ट हैं । वाचा = वाक्य पूर्वक व्यवहारेण वाचा पद में प्रयोजन के हेतुत्व की विवक्षा से तृतीया विभक्ति है । **आरम्यते =** आलभ्यते इत्यारम्भणम् । **संसृष्टम् =** अर्थात् स्पृष्ट आलम्भः स्पर्श हिंसयोः यह धातु पाठ है । अब प्रश्न उठता है कि किसके द्वारा स्पृष्ट हैं सम्पूर्ण विकार समूह ? तो इसका उत्तर है कि इसके पहले की श्रुति है **वेत्थ सोम्य यथैकेन मृण्डेन** इस श्रुति में उक्त मृत्पिण्ड योग्य होने के कारण स्पर्शकर्ता के रूप से अन्वित होता है । मृत् पिण्ड की घटत्वादि अवस्थाओं से युक्त होता है। घट आदि उसके विकार हैं और घट आदि उनके नाम हैं । अतएव सभी विकार जात मृत्पिण्ड के ही द्वारा स्पष्ट हैं जिसकी उनका वाक् पूर्वक व्यवहार हो सके । इस तरह कारण द्रव्य ही अनेक अवस्थाओं का पात्र होने के कारण अनेक कार्यात्मक होने से कार्य तथा कारण का अनन्यत्व होता है । इसी बात को श्रुति कहती है **मृत्ति केत्येन सत्यम्** यहाँ पर सम्पूर्ण मृण्मय विशेष्य है । इति शब्द प्रकार का वाचक है । इस तरह श्रुति का अर्थ हुआ सम्पूर्ण मृण्मय मृत्तिकात्व प्रकारक होने के ही कारण प्रामाणिक है । मदनात्मक होकर वह प्रामाणिक नहीं हो सकता है। इस तरह से कागाद महर्षि ने जो कारण और कार्य में अत्यन्त भेद बतलाया है उसका खण्डन हो गया । इस श्रुति का तात्पर्य एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा के उपपादन में है । इसीलिए श्रुति उपपादन और उपादेय में अनन्यता का प्रतिपादन करती है । सम्पूर्ण कार्य के मिथ्यात्व का प्रतिपादन श्रुति नहीं करती है । सम्पूर्ण को मिथ्या मानने पर तो सम्पूर्ण ज्ञातव्यों का अभाव होने के कारण सबको ज्ञात मानना असङ्गत

होता । इस तरह यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गात्मक जगत् वाचारम्भण है और, जगत् के जो मूल कारण परंब्रह्म हैं उनमें कोई भी विकार नहीं होता । वे सदा एक रूप बने रहते हैं । यह उसी तरह से होता है जिस तरह घटत्वादि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करने वाली मिट्टी अक्षुण्ण बनी रहती है ।

अद्वि अद्वैती विद्वान् कहें कि जो उपादान होता है वह निर्विकार कैसे हो सकता है तो इसका उत्तर है कि ब्रह्म सम्पूर्ण चेतना चेतन शरीरक है । अतएव सूक्ष्म चेतना चेतन विशिष्ट रूप से उपादान है और स्थूल चेतना चेतन विशिष्ट रूप से उपादेय है । इस तरह जगत् और ब्रह्म में शरीरात्म भाव सम्बन्ध है । इसी बात को श्रुति कहती है **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः ।** अर्थात् हे सोम रस पानार्ह सच्छिष्य इन सारी प्रजाओं का मूल सत् शब्द वाच्य परंब्रह्म ही है । इन सारी प्रजाओं का आश्रय सत् शब्द वाच्य परं ब्रह्म ही हैं । दूसरी श्रुति कहती है **रेतदात्म्यमिदं सर्वम्** यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक ही है । यदि अद्वैती विद्वान पूछें कि चेतना चेतनात्मक प्रपञ्च की ब्रह्म से अनन्यता कैसे हो सकती है ? तो इसका उत्तर है कि प्रपञ्च के ब्रह्मात्मक होने के कारण एवं ब्रह्म का शरीर होने के कारण ब्रह्म और जगत् में अनन्यता होती है ॥२९॥

मूल— **अनन्यतकारणात्कार्यं पावकाद्विस्फुलिङ्गवत् ।**
मृत्तिकालोहवीजादिनानादृष्टान्तविस्तरैः ॥३०॥

तत्त्वप्रकाशिका— समान प्रकरणों में उपादान तथा उपादेय की एकता का ही प्रतिपादन किए जाने के कारण **वाचारम्भण** श्रुति का अर्थ कार्य के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं है । अपितु कार्य को कारणात्मक ही बतलाया गया है । इस बात को बतलाते हुए सिद्धान्ती कहते हैं । **अनन्यत् इत्यादि**— अर्थात् कार्य कारण से अनन्य है । यह उसी तरह से होता है जिस तरह पावक का कार्यभूत विस्फुलिङ्ग (चिन्गारी) पावक से अनन्य है, क्योंकि वह भी पावकात्मक है । इसी तरह ब्रह्म से उत्पन्न कार्य ब्रह्म से अनन्य हैं क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है । इस अनन्यता का प्रतिपादन श्रुति ने मृत्तिका, लोह तथा बीज के दृष्टान्तों से विस्तार

पूर्वक किया है । जिस तरह मृदात्मक होने के कारण सभी मृण्मय मृत्तिका से अभिन्न हैं उसी तरह ब्रह्मात्मक होने के कारण जगत् ब्रह्म से अनन्य है ।।३०।।

मूल— **नाशकद्दग्धुमनलस्तृणं मञ्जयितुं जलम् ।**
न वायुश्चलितुं शक्तःतच्छत्तयाप्यायनादृते ।।३१।।

तत्त्वप्रकाशिका— ब्रह्म की शक्ति के अभाव में अग्नि तिनके को नहीं जला सका और न वायु उस तृण को उड़ा सकी । इस बात को केनोपनिषद् में स्पष्ट रूप से यक्षोपाख्यान के माध्यम से बतलायी गयी है ।।३१।।

मूल— **एक प्रधानविज्ञानाद्विज्ञातमखिलं भवेत् ।**
इत्यादिवेदवचनतन्मूलाप्तागमैरपि ।।३२।।
ब्रह्मात्मनाऽऽत्मलाभोऽयं प्रपञ्चश्चिदचिन्मयः ।
इति प्रमीयते ब्राह्मी विभूतिर्न निषिध्यते ।।३३।।

तत्त्वप्रकाशिका— छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में महर्षि उद्दालक एक विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान का उपपादन करते हुए श्वेतकेतु से पूछते हैं **उत तमादेशम प्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति** । अर्थात् क्या तुमने अपने आचार्यों से उस आदेश तत्त्व को पूछकर जाना है जिसके जान लेने से अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है । अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्मात्मक होने के ही कारण सर्व प्रधान ब्रह्म तत्त्व के ही ज्ञान से तदात्मक रूप से सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म शरीरत्व रूप से ज्ञान हो जाता है । क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर है अतएव केवल ब्रह्म का ही अपृथक् सिद्ध प्रकार है । फलतः उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से कुछ भी ज्ञातव्य रूप से नहीं बचता है यही एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा वाक्य का अर्थ है । इस अर्थ का प्रतिपादन वेद वाक्य तथा वेद मूलक प्राप्त प्रणीत स्मृतियाँ भी करती हैं । अतएव यही ज्ञात होता है कि जगत् ब्रह्मात्मक है । इन श्रुतियों द्वारा प्रपञ्च का निषेध नहीं किया गया है । **ब्रह्मात्मना इत्यादि—** यह चेतना चेतनात्मक जगत् ब्रह्मात्मनात्म

लाभ है । अर्थात् ब्रह्म रूपी अन्तरात्मा के द्वारा प्रयोज्य स्वरूप लाभवान् है । इस तरह से जगत् परंब्रह्म की विभूति रूप से ही तत्त्वतः ज्ञात होता है, शास्त्रों में कहीं भी जगत् का निषेध नहीं किया गया है ॥३२-३३॥

मूल— **तन्निषेधे समस्तस्य मिथ्यात्वाल्लोकवेदयोः ।**
व्यवहारास्तु लुप्येरँस्तथा स्याद्ब्रह्मधीरपि ॥३४॥

तत्त्वप्रकाशिका— तन्निषेधे— यदि शास्त्र वाक्यों के द्वारा प्रपञ्च का निषेध किया जाय तो लोक तथा वेद में होने वाले जो विभिन्न अर्थ विशेष के प्रतिपादक तथा उपादानाद्यर्थक सभी व्यवहारों का लोप सब कुछ के मिथ्या होने के कारण हो जायेगा । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि भेद व्यवहारों की अप्रामाणिकता इष्ट ही है तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **तथा स्याद् ब्रह्मधीरसि** ब्रह्म से भिन्न सबों के मिथ्या होने पर ब्रह्म व्यतिरिक्त होने के कारण उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म ज्ञान भी मिथ्या हो जायेगा । वह ज्ञान असत्य कारण से उत्पन्न होने के कारण असत्य होगा तथा उसका विषयभूत ब्रह्म भी असत्य सिद्ध होगा ॥३४॥

मूल— **व्यावहारिकसत्यत्वान्मृषात्वेऽप्यविरुद्धता ।**
प्रत्यक्षादेरिति मतं प्रागेव समदूदुषम् ॥३५॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि परमार्थ दृष्टया ब्रह्मव्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् का मिथ्यात्व होने पर भी उससे पहले अविद्या के ही कारण प्रमाण प्रमेय आदि भेदों की प्रतीति होती है । तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **व्यावहारिक० इत्यादि**— अर्थात् अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि व्यवहारिक सत्य होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा प्रमेयों के मिथ्या होने पर भी हमारे मत से कोई विरोध नहीं है, कि अद्वैतियों के इस सिद्धान्त का हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक सत्ता के द्वारा प्रमाणों और प्रमेयों के व्यवहारों का प्रतिपादन करने पर व्यावहारिक प्रमाण रूप होने के कारण श्रुतियों आदि से उत्पन्न परं ब्रह्म का ज्ञान भी आपके अभिमत व्यवहार मात्र विषयक होगा । क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म मात्र का परमार्थ भी व्यावहारिक ही है ।

मूल— **अतश्चोपनिषज्जातब्रह्मा द्वैतधिया जगत् ।**
न बाध्यते विभूतित्वाद्ब्रह्मणश्चेत्यवस्थितम् ॥३६॥

तत्त्वप्रकाशिका— जगत् के ब्रह्म की विभूति होने के कारण उपनिषत् वाक्यों से उत्पन्न ब्रह्माद्वैत ज्ञान के द्वारा जगत् का बाध नहीं होता है, यह निश्चित हो गया ॥३६॥

जगत् के सत्यत्व का समर्थन

मूल— **ननु सत्त्वे प्रपञ्चस्य नास्तीति प्रत्ययः कथम् ।**
असत्त्वे वा कथं तस्मिन्नस्तीति प्रत्ययो भवेत् ॥३७॥

तत्त्वप्रकाशिका— ननु इत्यादि— यदि प्रपञ्च सत्य है तो उसके विषय में नहीं है इस प्रकार की बाध विषयक ज्ञान कैसे होता है ? इस पर सांख्य मतावलम्बी कहते हैं कि यदि प्रपञ्च असत्य है तो फिर उसमें अस्तित्वविषयिणी बुद्धि कैसे होती है ?॥३७॥

मूल— **सदसत्त्वं तथैकस्य विरुद्धत्वादसम्भवि ।**
सदसत्प्रत्ययप्राप्तविरुद्धद्वन्द्वसङ्गमे ॥३८॥

तत्त्वप्रकाशिका— इस पर जैन मतावलम्बी कहते हैं कि एक ही वस्तु का परस्पर विरोधी सत्त्व एवं असत्त्व दोनों का होना असम्भव है। इस पर जैन मतावलम्बी कहते हैं जहाँ पर दो विरोधी आकार का प्रसङ्ग होता है, वहाँ पर परस्पर में विरोध होने के कारण इसका आकार दोनों है या दोनों में से कोई एक है, इस प्रकार का निर्णय नहीं हो सकने के कारण विचार करने की आवश्यकता होती है । इस पर जैनों ने कहा जगत् न सत् है और न असत् है अपितु वह सदसत् है । उनका अभिप्राय है कि प्रतीति होने के कारण सत् एवं असत्त्व का परस्पर में विरोध नहीं है ।

मूल— **तयोरुयतरार्थस्य निश्चयाभावहेतुतः ।**
सदसत्त्वं प्रपंचस्य जैनास्तु प्रतिपेदिरे ॥३९॥
सत्त्वप्राप्तिं पुरस्कृत्य नास्तीति प्रत्ययोदयात् ।
सदा सत्त्वं प्रपञ्चस्य साङ्ख्यास्तु प्रतिपेदिरे ॥४०॥

तत्त्वप्रकाशिका— जैन मत के विरोधी सांख्य मतावलम्बी कहते हैं चूकि पहले प्रपञ्च के सत्त्व की ही प्रतीति होती है तथा सत्त्व की प्रतीति निषेध का उपजीव्य है फलतः सत्त्व की प्रतीति ही प्रबल है। अतएव प्रपञ्च का सदा सत्त्व ही रहता है प्रपञ्च के नास्तित्व की अभिव्यति अभाव परक प्रतीति है ॥४०॥

मूल— **सदसत्प्रत्यय प्राप्तविरुद्धद्वन्द्वसङ्कटे ।**
विरोधपरिहारार्थं सत्त्वासत्त्वांशभङ्गतः ॥
सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं प्रपञ्चं केचिदूचिरे ॥४१॥

तत्त्वप्रकाशिका— सदसत्० इत्यादि— उपयुक्त जैन तथा सांख्य दोनों मतों का विरोध करते हुए शाङ्कर मतावलम्बियों ने कहा **सदसत् प्रत्यय० इत्यादि**— प्रतीति के कारण सत्त्व तथा असत्त्व रूप परस्पर विरुद्ध दो धर्मों की उपस्थिति रूप सकङ्ट के होने पर उस विरोध को दूर करने के लिए सत्त्व एवं असत्त्व इन दोनों धर्मों को त्यागकर जगत् को सदसदभिर्वचनीय मान लेना चाहिए ॥४१॥

मूल— **सत्त्वासत्त्वे विभागेन देशकालादिभेदतः ।**
घटादेरिति मन्वाना व्यवस्थामपरे जगुः ॥४२॥

तत्त्वप्रकाशिका— इस पर नैयायिक विद्वानों का कहना है **सत्त्वासत्त्वे० इत्यादि**— देश तथा काल आदि के भेद रूपी विभाग के कारण घटादि का सत्त्व एवं असत्त्व समन्वित होता है यह लोक में देखा जाता है। इसी तरह से देश कालादि के भेद के कारण का सत्त्व एवं असत्त्व दोनों समन्वित हो जाता है ॥४२॥

मूल— **तदेवं वादिसम्मर्दात्संशये समुपस्थिते ।**
निर्णयः क्रियते तत्र मीमांसकमतेन तु ॥४३॥

तत्त्वप्रकाशिका— तदेवम्० इत्यादि— इस तरह से वादियों का परस्पर में विवाद होने के कारण सन्देह की उत्पत्ति होती है। संदिग्धअर्थ का निर्णय करने के लिए मीमांसक मतानुसार निर्णय किया जाता है।

अर्थात् दूसरे पक्षों के सदोषत्व का प्रतिपादन पूर्वक सद्युक्ति के द्वारा मीमांसकाभिमत निर्णय किया जा रहा है ॥४३॥

मूल—

घटस्वरूपे नास्तित्वमस्तित्वं यद्यबूबुधत् ।
स्यादेव युगपत्सत्त्वमसत्त्वं च घटादिषु ॥४४॥
इदानीमिदमत्रास्ति नास्तीत्येवंविधा यतः ।
देशकालदशाभेदादस्ति नास्तीति नो धियः ॥४५॥
अतो देशादिभेदेन सदसत्त्वं घटादिषु ।
व्यवस्थितं निरस्तत्वा द्वादस्येह न सम्भवः ॥४६॥

तत्त्वप्रकाशिका— निरूपाधिक सत्त्वासत्त्व समुच्चय पक्ष का खण्डन पूर्वक सिद्धान्त का वर्णन **घटस्वरूपे० इत्यादि**— के द्वारा किया जा रहा है । घट के स्वरूप के विषय में नास्तित्व की ही प्रतीति होती है। यदि उसका अस्तित्व भी प्रतिपादित किया जाता तब तो सत्त्व एवं असत्त्व दोनों का समुच्चय स्वीकार किया जाता है किन्तु ऐसा तो किया नहीं गया है । प्रतीतियाँ तो किसी देश काल तथा अवस्था विशेष में सत्त्व का प्रतिपादन करती हैं तथा दूसरे देश आदि में प्रपञ्च के औपाधिक असत्त्व का प्रतिपादन करती हैं । इसलिए देश आदि के भेद के कारण घटादि में सत्त्व एवं असत्त्व दोनों का समन्वय हो जाता है । इस तरह से स्याद् वाद के दोष दूषित होने के कारण उस स्याद् वाद का अथवा अन्यवाद को नहीं स्वीकारा जा सकता है । इसी बात की व्याख्या करते हुए श्रीमद् वेदान्त देशिक ने शतदूषणी के साठवें वाद में कहा है देश, काल आदि उपाधियों के भेद के कारण सत्त्व एवं असत्त्व दोनों को स्वीकार करने वाले नैयायिकों का मत हमारे मत के सन्निकट है, अतएव उसे हम स्वीकार करते हैं । उपाधि भेद का स्वरूप बतलाते हुए श्रीदेशिक कहते हैं घटादि का स्वात्मना सत्त्व और अन्य रूप से असत्त्व रूप है, या अपने काल में सत्त्व और अन्य काल में असत्त्व की प्रतीति रूप है। इसी तरह अपने देश में सत्त्व और अन्य देश में असत्त्व की प्रतीति

रूप है । यहाँ पर तदातन्य या सम्बन्ध को सत्त्व शब्द से अभिहित किया जाता है और दूसरे रूप से वस्तु में असत्त्व का व्यपदेश होता है। यह छठे पक्ष में विरुद्ध धर्म का योग को ही वस्तु में असत्त्व व्यपदेश का हेतु बतलाया गया है । घट-घट रूप से सत् रूप से तथा पट रूप से असत् व्यपदिष्ट होता है । अपने देश तथा काल में सत् वस्तु ही अपने विरोधी देश तथा काल में असत् रूप से व्यपदिष्ट होता है । उपलब्धि के अनुकूल होने के कारण तथा लाघव के कारण वृद्ध पुरुष इसी पक्ष का समादन करते हैं ।

कहने का अभिप्राय है कि सत्ता तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूपिणी अथवा उससे भिन्न सम्बन्ध स्वरूपिणी होती है । यह घट है इस प्रतीति में घट में तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूपा है और यह पट नहीं है इस प्रतीति में घट में तादात्म्य के अभाव रूप पट रूप से असत्ता की प्रतीति होती है। इसी तरह से वहाँ पर उस समय घट नहीं था इस प्रकार की प्रतीति में उस देश तथा काल संयोगाभाव रूप असत्ता की प्रतीति होती है । इस तरह से भाव तथा अभाव रूप सत्त्व और असत्त्व की घटादि में देश, भेद तथा काल भेद के कारण उपपत्ति हो जाती है, यह एक पक्ष है तथा अभाव भी भावान्तर रूप से होता है, यह दूसरा पक्ष है जैसे घटत्व ही जब यह घट है इस रूप से प्रतीति होती है तो घट की सत्ता प्रतीत होती है । वही (घटत्त्व ही) यह पट नहीं है इस रूप से होने वाली प्रतीति में पट से भेद रूप रहता है । इस तरह स्वदेश काल सम्बन्ध स्वरूप सत्ता ही अन्य देश तथा काल में नास्तिता (अभाव) की प्रतीति में देशान्तर आदि से सम्बन्ध भाव रूप से विषय बनती है । इस तरह से सिद्ध होता है कि भाव पदार्थों की धर्म विशेष ही सत्त्व और असत्त्व प्रतीति का विषय बनता है । यही सिद्धान्तियों को अभिप्रेत है ।।४४-४६।।

मूल— **ननु देशादिसम्बन्धः सत एवोपपद्यते ।**
न देशकालसम्बन्धादसतः सत्त्वमिष्यते ।।४७।।
सम्बन्धोद्व्याश्रयस्तस्मात्सतः सत्त्वं सदा भवेत् ।
असतः कारकैः सत्त्वं जन्मनेत्यतिदुर्घटम् ।।४८।।

आद्यन्तवान् प्रपञ्चोऽतः सत्कक्ष्यान्तर्निवेश्यते ।
'आदावन्ते च यन्नास्ति नास्ति मध्येऽपि तत्तथा' इति ।
अतो निश्चितसद्भावः सदा सन्नभ्युपेयताम् ॥४९॥

तत्त्वप्रकाशिका— अविरोध पूर्वक सत्त्व एवं असत्त्व को नहीं मानने वाले सांख्यमतावलम्बी कहते हैं **ननुदेशादि० इत्यादि**— देश आदि का सम्बन्ध केवल सत् का ही होता है । असत् का देश काल आदि के साथ नहीं स्वीकार किया जा सकता है । चूकि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है अतएव यही मानना चाहिए कि सदा सत् वस्तु का ही सत्त्व होता है । कहने का अभिप्राय है कि पहले असत् घटादि का अपने देश काल से सम्बन्ध के कारण सत् की उत्पत्ति होती है, इस अर्थ का उपपादन नहीं किया जा सकता है । दो सम्बन्धियों से उत्पन्न होने वाला संयोग सम्बन्ध एक सम्बन्ध के नहीं रहने पर दूसरे में भी संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतएव अपने देश और काल के सम्बन्ध के होने पर ही सत्त्व हो सकता है और सत्त्व के होने पर ही स्वदेश काल का सम्बन्ध हो सकता है । इस तरह से परस्परापेक्षकत्व रूप अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतएव भाव पदार्थों का सदा सत्त्व ही स्वीकार करना चाहिए । यदि कहें कि सर्वदा सत्त्व को ही स्वीकार करने पर कारक चक्र का आनर्थक्य होगा अतएव पहले अविद्यमान वस्तु का ही कारक व्यापार के द्वारा उत्पत्ति स्वीकार करना चाहिए इस पर कहते हैं **असतः कारकैः सत्त्वम्० इत्यादि**— जिस तरह सारे प्रयास के पश्चात् भी बालू से तेल नहीं निकल सकता है, उसी तरह असत् वस्तु की उत्पत्ति कारक चक्र के द्वारा सैकड़ों प्रयास के किए जाने पर भी नहीं हो सकती है । दूसरी बात यह है कि यदि असत् वस्तु की उत्पत्ति होती है दण्ड चक्र इत्यादि के द्वारा घट की ही उत्पत्ति क्यों होती है, उससे घट की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है । अतएव यही मानना चाहिए कि असत् की उत्पत्ति नहीं होता है । यदि कहें कि उपादान कारण विशेष से ही कार्य विशेष की उत्पत्ति का नियम होने के कारण ही दण्ड चक्रादि से पट की उत्पत्ति नहीं होती है । तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि कार्य

गर्भत्व के बिना सामर्थ्य नियम का भी निरूपण नहीं किया जा सकता है। अतएव यही मानना चाहिए कि पहले से विद्यमान कार्य कारक व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है ॥४७-४८॥

आद्यन्तवान्० इत्यादि— अविर्भाव को आदि कहते हैं और तिरोभाव को ही अन्त कहते हैं उसी को ही उत्पत्ति विनाश कहते हैं । अतएव प्रपञ्च सदा सत् ही रहता है । इसीलिए कहा भी गया है कि जो आदि में और अन्त में नहीं रहता है, वह मध्य में भी नहीं रहता है । अतएव सद्भाव के निश्चित होने के कारण यही मानना चाहिए कि प्रपञ्च सदा रहता ही है ।

मूल— **असतः सर्वदाऽसत्त्वं जन्ययोगात् खपुष्पवत् ।**
असत्त्वे न विशेषोऽस्ति प्रागत्यन्तासतोरिह ॥५०॥

तत्त्वप्रकाशिका— सांख्य मत का उपसंहार करते हुए कहते हैं वस्तु असत् होती है उसका सदा असत्त्व ही रहता है क्योंकि असत् वस्तु का कभी जन्म नहीं होता है, आकाश पुष्प के समान । अतएव प्रपञ्च का सदा सद्भाव ही रहता है ॥५०॥

'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अद्वैत्यभिमत अर्थ का खण्डन

मूल— **श्वेतकेतुमुपादाय तत्त्वमित्यपि यच्छ्रुतम् ।**
षष्ठप्रपाठके तस्य कुतो मुख्यार्थसम्भवः ॥५१॥
कार्पण्यशोकदुःखार्तश्वेतनस्त्वं पदोदितः ।
सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पो निस्सीमसुखसागरः ॥
तत्पदार्थस्तयोरैक्यं तेजस्तिमिरवत्कथम् ॥५२॥
त्वमर्थस्थे तटस्थे वा.... (तदर्थस्थे विभेदके) ।
गुणे तत्त्वंपदश्रुत्योरैकार्थ्यं दूरवारितम् ॥५३॥

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वान मानते हैं कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म का जीवात्मा के साथ ऐक्य विज्ञान अविद्या का निवर्तक है । निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान तत्त्वमसि वाक्य से ही होता है । अद्वैती विद्वानों

के इस कथन का खण्डन करने के लिए सिद्धान्ती तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ के विचार का उपक्रम करते हुए कहते हैं— **श्वेतकेतुमुपादाय० इत्यादि**— छान्दोग्योपनिषत् के छठे प्रपाठक में श्वेतकेतु को संबोधित करके **'तत्त्वमसि'** यह जो वाक्य कहा गया है, उसका मुख्यार्थ अद्वैतवादियों के मत में कैसे सम्भव हैं ? यह वाक्य सामानाधिकरण्य वाक्य है, इसका मुख्यार्थ अद्वैत मत में सम्भव नहीं है ॥५१॥ **कार्पण्य० इत्यादि**— तत्त्वमसि वाक्य का **त्वम्** पद दैन्य, शोक तथा दुःख से आर्त बने रहने वाले चेतन (जीव) को बतलाता है और **तत्** पद सर्वज्ञ, सत्य, सङ्कल्प, निस्सीम सुख के एकमात्र आश्रय को बतलाता है। उन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? इस तरह परस्पर में विरुद्ध स्वभाव वाले ईश्वर तथा जीव की एकता कैसे सम्भव है ?॥५२॥ **त्वमर्थस्थे० इत्यादि**— त्वमर्थ के गुण अज्ञत्व तथा दुःखित्व इत्यादि हैं तदर्थ में रहने वाले गुण सर्वज्ञत्व जगत् कारणत्व हैं। अद्वैती विद्वान सर्वज्ञत्वादि गुणों को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण मानते हैं। इन गुणों के भेदक होने के कारण तत् पदार्थ एवं त्वं पदार्थ की एकता होना बिल्कुल असम्भव है ॥५३॥

मूल—

अज्ञत्वसर्ववेदित्वदुःखित्वसुखितादिके ।
विशेषणे वा चिद्धातोरथवाऽप्युपलक्षणे ॥
विरुद्धगुणसङ्क्रान्तेर्भेदः स्यात् त्वंतदर्थयोः ॥५४॥
वाच्यैकदेशभङ्गेन चिदेकव्यक्तिनिष्ठता ।
सोऽयं गौरिवत्तत्त्वंपदयोरित्यपेशलम् ॥५५॥
देशकालदशाभेदादेकस्मिन्नपि धर्मिणि ।
विरुद्धद्वन्द्वसङ्क्रान्तेः सोऽयं गौरिति युज्यते ॥५६॥
स्वप्रकाशस्य चिद्धातोर्विरुद्धद्वन्द्वसङ्गतौ ।
न व्यवस्थापकं किञ्चिद्देशकालदशादिके ॥५७॥
निर्धूतनिखिलद्वन्द्वस्वप्रकाशे चिदात्मनि ।
द्वैतानर्थभ्रमाभावाच्छास्त्रं निर्विषयं भवेत् ॥५८॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अज्ञत्वादि तथा सर्वज्ञत्वादि चेतन के विशेषण नहीं हैं, अपितु उपलक्षण है । उन दोनों के द्वारा उपलक्षित वस्तु एक ही है । अतएव इन दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अज्ञत्व० इत्यादि**— अल्पज्ञत्वादि तथा सर्वज्ञत्वादि को चित् तत्त्व का उपलक्षण मानने पर भी अज्ञत्वादि के द्वारा उपलक्ष्य जीव भाव का तथा सर्वज्ञत्वादि के द्वारा उपलक्ष्य ईश्वर भाव का वैयधिकरण्य होने के कारण त्वं पदार्थ और तत् पदार्थ का ऐक्य सम्भव नहीं है ॥५४॥ **वाच्यैक० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि विरोध होने के कारण यहाँ मुख्यार्थ का परित्याग हो जाता है और दोनों पदों की चिन्मात्र में ही लक्षण स्वीकार की जाती हैं । यह उसी तरह से होता है जिस तरह **सोऽयंगौः** इस वाक्य के तच्छब्द वाच्य अतीत देश कालावच्छिन्न गौ तथा इदं पद वाक्य वर्तमान देश कालावच्छिन्न गौ, इन दोनों का परस्पर में विरोध होने के कारण लक्षणावृत्ति के द्वारा अतीत देश कालावच्छिन्नत्व तथा वर्तमान देश का कालवच्छिन्नत्व रूप मुख्यार्थ का परित्याग हो जाता है और दोनों पदों की गौ मात्र में लक्षण होती है । फलतः दोनों की एकता हो जाती है । तो यह भी अद्वैती विद्वानों का कथन असुन्दर हैं क्योंकि एक पद में ही लक्षणा करने से विरोध का परिहार हो जाता है तो फिर दोनों पदों में लक्षणा करना ही ठीक नहीं है ॥५५॥ **देशकालादि० इत्यादि**— दृष्टान्त भूत **सोऽयं गौः** इस वाक्य में दोनों पदों में से किसी भी पद में लक्षणा नहीं है । देश, काल तथा दशा के भेद के कारण एक भी धर्मी में परस्पर विरोधी दो प्रकार के धर्मों का सम्बन्ध होता है । सः पद के द्वारा अतीत देश काल का सम्बन्ध बतलाया गया है, तथा अयम् पद के द्वारा वर्तमान देश काल का सम्बन्ध बतलाया गया । इस तरह से अतीत देश काल योगी का वर्तमान देश काल योगी के साथ अन्वय, का बाध होने पर भी, एक ही धर्मी में उन दोनों का अन्वय होने में विरोध नहीं है । परिच्छिन्न वस्तु के काल विरोध का परिहार देश भेद के द्वारा हो जाता है और देश द्वय विरोध का परिहार

काल भेद के द्वारा हो जाता है । अर्थात् अतीत काल में गौ अतीत देश में थी और वर्तमान काल में वही गौ वर्तमान देश में है । अतएव सोऽयं गौः इस वाक्य में लक्षणा का कोई अवसर ही नहीं है ॥५६॥

स्वप्रकाशस्य० इत्यादि— स्वयम्प्रकाशचिन्मात्र निर्विशेष वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का सम्बन्ध होने उनके विरोधाभाव का उपपादक देश, काल तथा दशा इत्यादि में से कोई भी नहीं हो सकता है । यदि कहें कि उन दोनों धर्मों में अविरोध का उपपादक अज्ञान है तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वयम्प्रकाश हैं। अतएव उनके साथ अज्ञान का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है ॥५७॥ ब्रह्म से चूकि अविद्या का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, अतएव अविद्या कृत भेद भेद दर्शन की निवृत्ति के लिए शास्त्र निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन करता है, यह जो अद्वैती विद्वानों का कहना है वह भी ठीक नहीं है, इसी बात को बतलाते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **निर्धूत निखिल० इत्यादि—** अर्थात् सभी भेदों से रहित स्वयम्प्रकाश चिन्मात्र ब्रह्म में चूकि दैत (भेद) रूपी अर्थ जन्य भ्रम हो ही नहीं सकता है, अतएव अद्वैती विद्वानों के मत में शास्त्र का कोई भी विषय नहीं हो सकता है । फलतः शास्त्र निर्विषय हो जायेगा ॥५८॥

मूल—

एतेन सत्यकामत्वजगत्कारणतादयः ।
मा......परे (मायोपाधौ परे)ऽध्यस्ताः शोकमोहादयः पुनः ॥५९॥
अविद्योपाधिके जीवे विनाशे नेति यन्मतम् ।
क्षुद्रब्रह्मविदामेतन्मतं प्रागेव दूषितम् ॥६०॥

तत्त्वप्रकाशिका— इस बात का प्रतिपादन किया जा चुका है, कि अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता है । इसको देखकर अज्ञान के दो भेदों की कल्पना की माया और अविद्या । उन लोगों ने कहा कि अविद्या की समष्टि को माया कहते हैं और माया की व्यष्ठि को अविद्या कहते हैं । मायोपहित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं और अविद्योपहित चैतन्य

को जीव कहते हैं । सत्यकामत्व, जगत् कारणत्व इत्यादि मायोपहित चैतन्य में अध्यस्त हैं और शोक, मोह इत्यादि जीव में अध्यस्त हैं । तत्त्वमसि वाक्य जन्य ज्ञान के द्वारा जब ऐक्य का साक्षात्कार हो जाता है तब माया और अविद्या इन दोनों उपाधियों का नाश हो जाने पर उपाधि कल्पित ईशभाव तथा जीव भाव का भी नाश हो जाता है । इस तरह से कहने वाले अद्वैती विद्वानों का जो मत है वह क्षुद्र ब्रह्म वादियों का मत है । इसका खण्डन मैं (ग्रन्थकार) पहले ही कर चुका हूँ ।।५९-६०।।

मूल—

चित्स्वरूपे विशिष्टे वा मायाऽविद्याद्युपाधयः ।
पूर्वस्मिन् सर्वसाङ्कर्यं परजीवाविभागतः ।।६१।।
उत्तरस्मिन्नपि तथा विशिष्टमपि चिद्यदि ।
चित्स्वरूपं हि निर्भेदं मायाऽविद्याद्युपाधिभिः ।
विभिन्नमिव विभ्रान्तं विशिष्टं च.....(मतं तव) ।।६२।।

तत्त्वप्रकाशिका— यह कहा जा चुका है कि उपाधि के भेदों को नहीं स्वीकार किया जा सकता है । अब यह बतलाया जा रहा है कि उपाधि का भेद स्वीकार करने पर दूसरे प्रकार के दोष होंगे । **चित्स्वरूपे० इत्यादि**— अर्थात् अपाधियों का सम्बन्ध चिन्मात्र ब्रह्म से होता है अथवा विशिष्ट ब्रह्म से ? यदि निरंश चिन्मात्र ब्रह्म में उपाधियों का लगना मानें तो फिर उपाधि के कारण स्वभाव का भेद एक ही चिन्मात्र में होगा । फलतः जीव तथा ईश्वर के स्वभाव का साङ्कर्य होगा क्योंकि उसमें ईश्वर तथा जीव का विभाग नहीं है । यदि विशिष्ट में अविद्या का सम्बन्ध मानें तो प्रश्न है कि वह विशेषण क्या है, जिससे विशिष्ट चिन्मात्र होता है। यदि उस विशेषण को माया तथा अविद्या रूप माने तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि जब जीवत्व ईश्वरत्व हो तो माया और अविद्या का सम्बन्ध हो और जब अविद्या का सम्बन्ध तब चिन्मात्र में जीवत्व ईश्वर आये । दूसरी बात यह है कि माया अथवा अविद्या के द्वारा ज्ञान स्वरूप का विभाग नहीं हो सकता है अतएव एक ज्ञान मात्र माया तथा अविद्या

से उपहित होगा। जिस तरह एक ही आकाश घट एवं मठ रूपी उपाधियों से उपहित होकर घटाकाश और मठाकाश कहलाता है उसी तरह अतएव एक ही चिन्मात्र उन दोनों उपाधियों के कारण सार्वज्ञ्यादि ऐश्वर्य तथा दुःख आदि का अनुभव करेगा। फलतः जीव एवं ईश्वर के स्वभाव का भेद नहीं हो सकता है ॥६१-६२॥

मूल—

तटस्थावस्थिता धर्माः स्वरूपं न स्पृशन्ति किम्।
न हि दण्डिशिरश्छेदाद्देवदत्तो न हिंसितः ॥६३॥
अचिदंशव्यपोहेन चिदेकपरिशेषता।
अतस्तत्त्वमसीत्यादेरर्थ इत्यप्यसुन्दरम् ॥६४॥

तत्त्वप्रकाशिका— यदि अद्वैती विद्वान् कहे कि औपाधिक भेद को स्वीकार किए जाने के कारण ब्रह्म में जीव तथा ईश्वर के स्वभाव का साङ्कर्य नहीं हो सकता है तो इस पर सिद्धान्ती पूछते हैं **तटस्थावस्थाः इत्यादि**— क्या तटस्थ में होने वाले धर्म स्वरूप का स्पर्श नहीं करते हैं ? ऐसा तो नहीं हो सकता है कि दण्डी का शिर काट देने पर दण्डी देवदत्त की मृत्यु न हो ? कहने का अभिप्राय यह है कि माया अथवा अविद्या के द्वारा उपहित ब्रह्म तटस्थ ब्रह्म कहलाता है। उस तटस्थ में रहने वाले सार्वज्ञ्यादि तथा अल्पज्ञत्व आदि तथा तज्जन्य सुख तथा दुःख आदि का ब्रह्म में उसी तरह से सम्बन्ध होगा, जिस तरह दण्ड तथा कुण्ड रूपी उपाधि से उपहित कादाचित्क दण्डादि रूपी विशेषण से विशिष्ट होने के कारण तटस्थ शब्द से कहे जाने वाले देवदत्त की आत्मा से दण्डित्व एवं कुण्डलित्व का सम्बन्ध होता है। देखा जाता है कि दण्डी का शिर काट देने पर दण्डी देवदत्त की भी मृत्यु हो ही जाती है। अतएव तटस्थ के धर्मों का स्वरूप से सम्बन्ध होना दुर्निवार है। फलतः औपाधिक भेद स्वीकार करने पर भी परस्पर विरोधी जीवत्व और ईश्वरत्व के प्रवेश का प्रसङ्ग होगा ही फलतः माया और अविद्या रूपी उपाधि के भेद की कल्पना करने से कोई भी लाभ नहीं है ॥६३॥ **अचिदंश० इत्यादि**— अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि तत् शब्द एवं त्वं शब्द

के मुख्यार्थ गत, सर्वज्ञता तथा अल्पज्ञता रूप अंश का लक्षणा वृत्ति के द्वारा परित्याग हो जाने से तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा चिन्मात्र के ही प्रतिपादन किया जाता है, यह भी अर्थ असुन्दर (उचित नहीं) है । क्योंकि ऐसा करने से तत् एवं त्वं दोनों पदों में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है तथा ब्रह्म में जीवत्व एवं ईश्वरत्व के स्वभाव का साङ्कर्य होता है ॥६४॥

अद्वैत सिद्धान्त में तत्त्वमसि वाक्य में समानाधिकरण भी नहीं हो सकता है

मूल—

अब्रह्मानात्मताभावे प्रत्यक् चित् परिशिष्यते ।
तत्त्वंपदद्वयं जीवपरतादात्म्यगोचरम् ।
तन्मुख्यवृत्ति तादात्म्यमपि वस्तुद्वयाश्रयम् ॥६५॥
भेदाभेदविकल्पस्तु यस्त्वया परिचोदितः ।
अभेदाभेदिनोऽसत्ये बन्धे सति निरर्थकः ॥६६॥
अभेदो भेदमर्दी तु स्वाश्रयीभूतवस्तुनोः ।
भेदः परस्परानात्म्यं भावानामेवमेतयोः ॥६७॥
स्वरूपमभ्युपेत्यैव भेदाभेदविकल्पयोः ।
...(बाधनं) तेन वाग्बाधा विरोधेन निगृह्यसे ॥६८॥
भिन्नाभिन्नत्वसम्बन्धसदसत्त्वकल्पनम् ।
प्रत्यक्षानुभवापास्तं केवलं कण्ठशोषणम् ॥६९॥
नीले नीलमतिर्यादृगुत्पले नीलधीर्हि सा ।
नीलमुत्पलमेवेदमिति साक्षाच्चकास्ति नः ॥७०॥
यथा विदितसंयोगसम्बन्धेऽप्यक्षगोचरे ।
भेदाभेदादिदुस्तर्कविकल्पाधानविभ्रमः ॥७१॥
तद्वत्तादात्म्यसम्बन्धे श्रुतिप्रत्यक्षमूलके ।
श्रुतिदण्डेन दुस्तर्कविकल्पभ्रमवारणम् ॥७२॥

निर्दोषाऽपौरुषेयी च श्रुतिरत्यर्थमादरात् ।
असकृत्तत्त्वमित्याह तादात्म्यं ब्रह्मजीवयोः ॥७३॥
ब्रह्मानन्दहृदान्तःस्थो मुक्तात्मा सुखमेधते ।
फले च फलिनोऽभावान्मोक्षस्यापुरुषार्थता ।
एकशेषे हि चिद्धातोः कस्य मोक्षः फलं भवेत् ॥७४॥

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैत सिद्धान्त में सामानाधिकरण्य के तादाम्य की भी अनुपपत्ति का प्रतिपादन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **अब्रह्मनात्मताभावे० इत्यादि**— अर्थात् ब्रह्म से भिन्न को यदि अनात्मा माना जाय तब तो तत् पद तथा त्वं पद का लक्ष्यार्थ एक प्रत्यक् तत्त्व चिन्मात्र बच जाता है । ऐसी स्थिति में समानाधिकरण वाक्यार्थ के तादात्मय की अनुपपत्ति होगी क्योंकि एकमात्र चिन्मात्र के बचे रहने पर चिन्मात्र में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है । किन्तु **तत्त्वमसि** इस वाक्य के तत् पद एवं त्वं पद ईश्वर एवं जीव के तादात्म्य सम्बन्ध को बोधित करते हैं । **तन्मुख्यवृत्ति० इत्यादि**— समानाधिकरण की मुख्यवृत्ति तादात्म्य है और तादात्म्य भी दो वस्तुओं में ही होता है । वह अत्यन्त अभेद में हो नहीं सकता है । क्योंकि तादात्म्य भेद समानाधिकरण अभेद रूप होता है । **वस्तु द्वयाश्रयम्** पद का अर्थ है प्रवृत्ति निमित्त धर्म भेदवदेक वस्त्वाश्रित होना और धर्म जन्य भेद से विशिष्ट स्वरूप के अभेद को ही तादात्म्य कहते हैं ॥६५॥ यदि कहें कि भेदाभेद को ही तादात्म्य कहते हैं तो यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अभेद तथा अत्यन्त भेद में भी भेदाभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **भेदाभेद० इत्यादि**— आपने जो तादात्म्य के विषय में भेदाभेद रूपी विकल्प की कल्पना की है उसके विषय में प्रश्न है कि आप दो भिन्न वस्तुओं का तादात्म्य मानते हैं, या दो अभिन्न वस्तुओं का ? भिन्न वस्तुओं में तादात्म्य मानें तो घट और पट में तादात्म्य का प्रसङ्ग होगा। यदि अभिन्न वस्तुओं में तादात्म्य मानें तो घटः घटः का समानाधिकरण्य होगा । किन्तु न तो घटः का सामानाधिकरण्य होता है और न तो घटः घटः का सामानाधिकरण्य होता है । नीलोघटः में ही समानाधिकरण्य

होता है । अतएव भेदाभेद में ही तादात्म्य मानना चाहिए । अतएव भेदाभेद में भी भेद ही रहता है । यदि कहें कि भेद के रहने पर दोनों का विरोध होने के कारण ही एकत्र समावेश नहीं हो सकता है तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है क्योंकि नील और घट में सामानाधिकरण्य देखा जाता है । अथवा यह मानें कि धर्मतः भेद होने पर भी स्वरूपतः अभेद होने पर तादात्म्य होता है । अतएव अभेद और अभेदी में तादात्म्य सम्बन्ध मानना व्यर्थ है ॥६६॥ **अभेदः इत्यादि**— अभेद अपने आश्रयी भूत दो वस्तुओं के अत्यन्त भेद का निरास करने वाला होता है तथा भेद अपने आश्रयीभूत दो वस्तुओं में होने वाला तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव को बतलाया है । अतएव स्वरूप मात्र को लेकर भेदाभेद को मानने वाले आप अपनी माया के द्वारा बाधित होकर निगृहीत हो जा रहे हैं ॥६७-६८॥ **भिन्नाभिन्न० इत्यादि**— किञ्च प्रश्न उठता है कि भिन्न भिन्नत्व का स्वरूप से सम्बन्ध हैं कि नहीं यदि सम्बन्ध है तो उसका सम्बन्धान्तर क्या होगा ? उस सम्बन्धान्तर का भी सम्बन्धान्तर क्या होगा ? इस तरह से अनन्तापेक्षत्वरूप अनवस्था होगी । यदि कहें कि भिन्ना भिन्नत्व का स्वरूप से सम्बन्ध नहीं होता है वह असम्बद्ध भिन्न भिन्न विशिष्ट बुद्धि का निर्वाहक नहीं हो सकता है । इस तरह से प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा बाधित भिन्नाभिन्नत्त्व रूपी विकल्प निरर्थक प्रयास है ॥६९॥ **नीले नीलमति० इत्यादि**— नील रूपवान् घट में जिस तरह नील की बुद्धि होती है और उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है उसी तरह से नीलमुत्पलम् में भी प्रसिद्ध नील से तादात्म्य बुद्धि का भी अपलाप नहीं किया जा सकता है । होने वाला अनवस्था का खण्डन स्वरूप संबन्धन के द्वारा अथवा स्वपर निर्वाहक न्याय से कर देना चाहिए ॥७०॥ यथा **विदितसंयोग० इत्यादि**— प्रख्यात संयोग सम्बन्ध का साक्षात्कार होने पर भी तादात्म्य सम्बन्ध का विरोध करने वालों से प्रश्न है कि आप दो भिन्न पदार्थों का संयोग मानते हैं अथवा दो अभिन्न पदार्थों का संयोग मानते हैं । यदि दो भिन्न पदार्थों का संयोग मानें तो फिर हिमालय और विन्ध्य पर्वत के भी संयोग का प्रसङ्ग होगा । यदि अपने से अपना

संयोग माने तों प्रश्न होता है कि संयोग धर्मी से भिन्न है कि नहीं ? यदि भिन्न है तब तो यदि भिन्न है तो उसका सम्बन्धान्तर क्या होगा ? और उस सम्बन्धान्तर के भी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा होने से अनवस्था होगी । यदि संयोग का धर्मी से अभेद माने तो फिर उसके सम्बन्ध की ही सिद्धि नहीं हो सकेगा । इस तरह से स्पष्ट रूप से संयोग की प्रतीति होने के विषय में भिन्नाभिन्नत्व का दुस्तर्क रूपी दुस्तर्क प्रत्यक्ष के ही द्वारा बाधित हो जाता है ।।७१।। **तद्वत्० इत्यादि**— उसी तरह से नीलोत्पलादि के तादात्म्य का प्रत्यक्ष मूलक होने पर भी तथा जीव और ब्रह्म में तादात्म्य के श्रुति मूलक होने पर भिन्न-भिन्नत्व रूप दुस्तर्क का वरण तत्त्वमसि वाक्यार्थ के अभिप्राय से ही बाधित हो जाता है ।।७२।। जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का अत्यन्त आदर पूर्वक प्रतिपादन निर्दोष अपौरुषेयी श्रुति बार-बार **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य का अभ्यास करके करती है । **'तत्त्वसि'** वाक्य में त्वम् पद ब्रह्मात्मक जीव को बतलाता है तथा तत् पद जीव शरीर ब्रह्म को बतलाता है ।।७३।। इन सभी प्रतिपादनों के इस बात को बतलाया गया है कि अद्वैत सिद्धान्त में जिस तरह प्रतिपादिकों की मुख्यार्थता नहीं हैं उसी तरह समान विभक्तेरपि मुख्यार्थता नहीं है । यद्यपि अभेद समान विभक्तयर्थता होती है फिर भी प्रवृत्ति निमित्त रूपी, धर्मभेद का परित्याग कर दिए जाने के कारण अद्वैत मत में समानाधिकरण्य की मुख्यार्थता नहीं है । अब इस बात को सिद्धान्ती बतला रहें हैं कि मुख्यार्थ परित्याग करके चिन्मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है यह जो अद्वैती विद्वान कहते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर मोक्ष भी पुरुषार्थ से नहीं रह जायेगा । सिद्धान्ती कहते हैं **ब्रह्मानन्द० इत्यादि**— मुक्तावस्था मुक्त जीव ब्रह्मा नन्द रूपी सरोवर में प्रवेश करके सुख का अनुभव करता है । श्रुति भी कहती हैं **एष ब्रह्मप्रविष्टोऽस्मि ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम्** मुक्त जीव कहते हैं कि ग्रीष्म ऋतु में सुख देने वाले शीतल ह्रद के समान में इस ब्रह्मतत्त्व में प्रवेश कर गया है । इस वाक्य के अनुसार ब्रह्मानन्द को ह्रद के समान बतलाया गया है क्योंकि ब्रह्मानन्द सम्पूर्ण सांसारिक क्लेशों को दूर करने

वाला होने के कारण नि:सीम आनन्द प्रदान करने वाला है । मुक्तात्मा निस्सीम आनन्द सागर में निमग्न होकर निस्सीम सुख को प्राप्त करता है, यही शास्त्र बतलाता है । मोक्ष रूपी फल के रहने पर भी यदि उसका भोक्ता नहीं पर मोक्ष रूपी फल भी अपुरुषार्थ हो जाता है । अद्वैत दर्शन में जब निर्विशेष चिन्मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है तो फिर मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति किसको होगी ? जीव को या ब्रह्म को ब्रह्म को तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्मनित्यमुक्त है । जीव को मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति इसलिए नहीं कही जा सकती है कि मुक्तावस्था में अद्वैत सिद्धान्तानुसार जीव का विलय हो जाता है । यदि कहें कि चिन्मात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है तब तो यही मानना होगा कि अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव हो जाता है । किन्तु श्रुतियों और युक्तियों के द्वारा यह बाधित अर्थ है । इस तरह इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया कि अविद्या परिकल्पित जीव तथा ईश्वर आदि भेदों का परित्याग करके निर्विशेष चिन्मात्रैक्य को तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ मानना अनेक दोषों से दूषित हैं ॥७४॥

मूल—

किञ्च प्रपञ्चरूपेण का नु संविद्विवर्तते ।
न तावद्घटधीस्तस्यामसत्यामपि दर्शनात् ॥७५॥
न हि तस्यामजातायां नष्टायां वाऽखिलं जगत् ।
नास्तीति शक्यते वक्तुमुक्तौ प्रत्यक्षबाधनात् ।
नाप्यन्यसंवित् तन्नाशेऽप्यन्योषामुपलम्भनात् ॥७६॥
ननु संविदभिन्नैका न तस्यामस्ति भेदधीः ।
घटादयो हि भिद्यन्ते न तु सा चित् प्रकाशनात् ॥७७॥
घटधीः पटसंवित्तिसमये नावभाति चेत् ।
नैवं, घटो हि नाभाति सा स्फुरत्येव तु स्फुटम् ॥७८॥
घटव्यावृत्तसंवित्तिरथ न स्फुरतीति चेत् ।
तद्व्यावृत्तिपदेनापि किं सैवोक्ताऽथ वेतरत् ।
सैव चेद्भासतेऽन्यच्चेन्न ब्रूमस्तस्य भासनम् ॥७९॥

किञ्चास्याः स्वप्रकाशाया नीरूपाया न हि स्वतः ।
ऋते विषय नानात्वान्नानात्वावग्रहभ्रमः ॥८०॥
न वस्तु वस्तुधर्मो वा न प्रत्यक्षो न लैङ्गिकः ।
घटादिवेद्यभेदोऽपि केवलं भ्रमलक्षणः ॥८१॥
यदा, तदा तदायत्तो धीभेदावग्रहोदयः ।
कुतः, कुतस्तरां तस्य परमार्थत्वसम्भवः ॥८२॥
किञ्च स्वयंप्रकाशस्य स्वतो वा परतोऽपि वा ।
प्रागभावादिसिद्धिः स्यात्, स्वतस्तावन्न युज्यते ॥८३॥
स्वस्मिन् सति विरुद्धत्वादभावस्यानवस्थितेः ।
स्वनिमितप्रकाशस्य स्वस्याभावेऽप्यसम्भवात् ।
अनन्यगोचरत्वेन चितो न परतोऽपि च ॥८४॥
किञ्च वेद्यस्य भेदादेर्न चिद्धर्मत्वसम्भवः ।
रूपादिवत्, अतः संविदद्वितीया स्वयंप्रभा ॥८५॥
अतस्तद्भेदमाश्रित्य यद्विकल्पादिजल्पितम् ।
तदविद्याविलासोऽयमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥८६॥

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्च० इत्यादि— यहाँ प्रश्न होता है कि कौन सा ज्ञान प्रपञ्च रूप से प्रतीत होता है ? घटादि ज्ञान को तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि उसके नहीं रहने पर भी प्रपञ्च की प्रतीति होती है । चूकि अधिष्ठान के बिना आरोप्य की प्रतीति का होना सम्भव नहीं है अतएव आगमपायी घटादि का ज्ञान इस प्रपञ्च का अधिष्ठान नहीं हो सकता है ॥७५॥ ऐसा कभी नहीं होता है कि घटादि के ज्ञान के नहीं उत्पन्न होने पर अथवा घटादि के ज्ञान के नष्ट हो जाने पर प्रपञ्च की प्रतीति न हो क्योंकि प्रत्यतः यह प्रतीत होता है कि घटादि ज्ञान रहे या न रहे किन्तु प्रपञ्च की प्रतीति होती है । **नाप्यन्य० इत्यादि—** यह भी नहीं कहा जा सकता है कि घटादि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर उससे भिन्न प्रपञ्च भ्रम का अधिष्ठान हो जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति को

घटादि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर दूसरों को तो घटादि ज्ञान रहता ही है।।७६।। **ननु संविद० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि अखण्ड संवत् एक है वह नित्य तथा विभु है । संवित् में कोई भी भेद नहीं है । अन्य ज्ञानों में नहीं प्रतीत होने वाले घटादि में ही भेद है । सभी ज्ञानों में प्रकाशित होने वाली संवित् में कोई भी भेद नहीं हैं। संवित् में होने वाली भेद बुद्धि औपाधिक विषयिणि है यथार्थ संवित् विषयिणी नहीं है । वह संवित् ही प्रपञ्च भ्रम का अधिष्ठान है ।।७७।। **घटधीः इत्यादि**— पट ज्ञान के समय घट बुद्धि नहीं प्रकाशित होती है अपितु उस समय पट ज्ञान ही प्रकाशित होता है तो अद्वैती विद्वान् ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पट ज्ञान के समय घट नहीं प्रकाशित होता है किन्तु ज्ञान तो प्रकाशित ही होता है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि पट ज्ञान के समय घट विषयकत्व विशिष्ट संवित् की प्रतीति नहीं होती है तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है । घट विषयकत्व रूपी घटव्यावृतत्व भी संवित् स्वरूप ही है । अतः पट के ज्ञान में उसकी प्रतीति ही होती है । किन्तु घट वहीं प्रकाशित होता है । उसकें अतिरिक्त होने पर भी तथा पट ज्ञान में उसकी प्रतीति नहीं होने पर ज्ञान की प्रतीति तो होती ही है । इसी बात को **तदव्यावृत्ति० इत्यादि**— से कहा गया है । इसका अर्थ है कि घटव्यावृत्ति पद से भी वह संवित् कही गयी है अथवा उससे भिन्न कही गयी हैं । यदि वही प्रकाशित होती है उससे भिन्न नहीं प्रकाशित होती है तो उसे हम प्रकाशित होना ही मानते हैं ।।७८-७९।। **किञ्चास्याः इत्यादि**— यदि कोई यह कहे कि यदि संवित् में भेद नहीं है तो यह घट ज्ञान है, वह पट ज्ञान है एक ज्ञान उत्पन्न हो गया दूसरा ज्ञान विनष्ट हो गया इत्यादि प्रकार की प्रतीतियाँ कैसे होती हैं तो इस पर अद्वैती विद्वान् कहते हैं **किञ्च० इत्यादि** संवित् निर्विशेष है वह स्वप्रकाश है । स्वप्रकाश शब्द हेतु गर्भ है । यहाँ इस प्रकार से अनुमान होता है भेद वाली नहीं हैं क्योंकि वह स्वप्रकाश है । जो भेद वाला होता है, वह स्वप्रकाश नहीं होता है जैसे घटादि । संवित् होने वाली नानात्व प्रतीति भी विषय भेद रूपी उपाधि के कारण

ही होती है, अतएव वह भ्रम ही है । उसमें वास्तविक भेद नहीं है ॥८०॥ यदि कोई यह कहे कि उपाधि के भेद के द्वारा भी संवित् में भेद हो सकता है, क्योंकि देखा जाता है कि स्थान-स्थान पर संसर्ग जन्य धर्म भी उदित होता है तो इस पर अद्वैती विद्वान् कहते हैं **न वस्त० इत्यादि**— भेद वस्तु (संवित्) स्वरूप है क्योंकि भेद प्रतियोगी ग्रह सापेक्ष होता है । वह वस्तु का धर्म भी नहीं हो सकता हैं क्योंकि धार्मिक भेद ही भेद का धर्मान्तर होगा ˙ उसका भी स्वधर्मि भेद धर्मान्तर होगा । इस तरह भेद को वस्तु का धर्म मानने पर अनवस्था दोष होगा। भेद का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष क्षणिक होता है वह स्वरूप तथा प्रतियागी ग्रह पूर्वक भेद ग्रहण काल तक रह ही नहीं सकता है । यदि कहें कि प्रत्यक्ष स्वरूप प्रतियोगी तथा भेद इन तीनों का एक ही समय में ग्रहण कर लेता है तो फिर समूलम्बन के समान उपश्लेष विशेषासिद्धि नामक दोष होगा । भेद का अनुमान से भी ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षाभाव के ही कारण भेद के साथ व्याप्ति ग्रह नहीं हो सकता है और व्याप्ति ग्रह के बिना अनुमान नहीं हो सकता है ।

कहने का अभिप्राय है कि विषयों के भेद के ही अवास्तविक होने के कारण संवित् का भेद भी अवास्तविक ही है । फलत: भेद का निरूपण नहीं किया जा सकता है । इसी तरह घट आदि वेद्य पदार्थों का भेद भी केवल भ्रम ही है ॥८१॥ **यदातदा० इत्यादि**— इस तरह संवित् प्रतीति होने वाला भेद जब अवास्तविक है तो फिर उसके अधीन होने वाला औपाधिक भेद भी अवास्तविक ही है क्योंकि उपाधि के भेद का अभाव है । अतएव वह भेद पारमार्थिक कैसे हो सकता है ? कहने का अभिप्राय है कि अनादि अविद्या जन्य अवास्तविक उपाधि के कारण प्रतीत होने वाली नानात्व प्रतीति भ्रम मात्र ही है ॥८२॥ **किञ्च० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि संवित् स्वयम्प्रकाश है उसके प्रागभाव, प्रहवंषाभाव का ग्रहण कैसे हो सकता है ? संवित् स्वयम् अपने प्रागभावादि की सिद्धि करती है अथवा दूसरी संवित् के द्वारा उसके प्रागभावादि की सिद्धि होती है ? **स्वतस्तावत्० इत्यादि**— प्रथम विकल्प को इसलिए

नहीं स्वीकारा जा सकता है कि स्वयं वर्तमान रहकर संवित् स्वयम् अपने अभाव को कैसे सिद्ध कर सकती है, जिस समय वह है उस समय उसका अभाव हो ही नहीं सकता है । **अनन्यगो० इत्यादि**— संवित् के प्रागभावादि का ग्रहण संविदन्तर के द्वारा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि संवित् स्वप्रकाश है, वह पर प्रकाश नहीं है ॥८३-८४॥ **किञ्च वेयस्य० इत्यादि**— भेद ज्ञान का धर्म नहीं है, क्योंकि वह वेद्य है, रूपादि के समान । **अतः इत्यादि**— चूकि भेद दुर्निरूप्य है तथा वह संवित् का धर्म भी नहीं है अतएव संवित् अद्वितीय है अर्थात् सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य है । किञ्च वह स्वयम्प्रकाश होने के कारण तुच्छ व्यावृत्त भी है ॥८५॥ **अतस्तदभेद० इत्यादि**— चूकि संवित् भेद रहित है अतएव यह पूछना कि भ्रम का अधिष्ठान घट संवित् है कि पट संवित् है, वह संवित् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण, केवल अज्ञान का कार्य इस तरह से ब्रह्मज्ञानी अद्वैती विद्वान् कहते हैं ॥८६॥

सिद्धान्ती द्वारा संवित् के नानात्व का प्रतिपादन

मूल—

हन्त ब्रह्मोपदेशोऽयं श्रद्दधानेषु शोभते ।
वयमश्रद्दधानाः स्मो ये युक्तिं प्रार्थयामहे ॥८७॥
प्रतिप्रमातृविषयं परस्परविलक्षणाः ।
अपरोक्षं प्रकाशन्ते सुखदुःखादिविद्धियः ॥८८॥
सम्बन्धिव्यङ्ग्यभेदस्य संयोगेच्छादिकस्य नः ।
न हि भेदः स्वतो नास्ति नाप्रत्यक्षश्च सम्मतः ॥८९॥
यदि सर्वगता नित्या संविदेवा (काऽ)भ्युपेयते ।
ततः सर्वं सदा भायात्, न वा किञ्चित्कदाचन ॥९०॥
तदानीं न हि वेद्यस्य सन्निधीतरकारिता ।
व्यवस्था घटते, वित्तेर्व्योमवद्वैभवाश्रयात् ॥९१॥

नापि करणभेदेन, नित्यायास्तदभावतः ।
न च स्वरूपनानात्वात्, तदेकत्वपरिग्रहात् ॥९२॥
ततश्च बधिरान्धादेः शब्दादिग्रहणं भवेत् ।
गुरुशिष्यादिभेदश्च निर्निमित्तः प्रसज्यते ॥९३॥

तत्त्वप्रकाशिका— हन्त इत्यादि— सिद्धान्ती कहते हैं कि यह खेद का विषय है कि अद्वैती विद्वानों का इस प्रकार का ब्रह्मोपदेश उन लोगों के ही बीच में शोभा देता है जो लोग उनके अन्धभक्त हैं । हम तो ऐसे नहीं है, अतएव हम यह चाहते हैं कि वे अपने कथन में सद युक्तियों को तथा प्रमाणों को उपन्यस्त करें । उनके शुष्कोपदेश में हम श्रद्धा नहीं रखते हैं ॥८७॥ एक ही पुरुष में विषय के भेद से ज्ञान का भेद घट ज्ञान, पट ज्ञान इत्यादि रूप से प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है । इस तरह एक ही विषय के विषय में काल के भेद से ज्ञान की भिन्नता प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्क्षतः ज्ञात होती है । इस तरह से इन्द्रियों की भिन्नता के कारण भी ज्ञान के भेद का प्रत्यक्ष सबको है । सुख दुःख आदि के समान ज्ञान के नानात्व का अपलाप करने पर सुख दुःखादि के भी भेद के अपलाप का प्रसङ्ग होगा । यदि अद्वैती विद्वान् इसमें इष्टापति बतलायें तो फिर उनके कथन का अनुभव से विरोध होगा ॥८८॥ यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें **संबन्धिव्यङ्ग्य इत्यादि—** अर्थात् जिस तरह से निभेद आकाश के रहने पर भी संबन्धिव्यङ्ग्य भेद का घटाकाश, पटाकाश इत्यादि रूप से व्यवहार होता है । इसी तरह संवित् में भी विषय भेद तथा आश्रय भेद के कारण भेद होता है, वह भेद वास्तविक नहीं है । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **संबन्धीभेद० इत्यादि—** जिस तरह यह भूतल घट संयोग है और वह भित्तिमुसल संयोग है इस तरह संबन्धि भेद के कारण एक दूसरे से भिन्न रूप से प्रतीत होने वाला संयोग का भेद वास्तविक है क्योंकि वह संबन्धि होता है । अथवा चैत्र की घटेच्छा मैत्र की पटेच्छा इस तरह से संबन्धी के भेद से होने वाली इच्छा में भेद भी भिन्न-भिन्न ही है । इसी तरह विषय एवं आश्रय के भेद से प्रतीत होने वाला संवित् का भेद भी वास्तविक ही है । उसी काल भेद के भी होने वाला संवित् का भेद वास्तविक ही होता है ।

सिद्धान्त में भी स्वीकार किया जाता है कि विभिन्न पुरुषों में होने वाला धर्मभूत ज्ञान यद्यपि एक और नित्य है फिर भी वह भिन्न विषयों का प्रकाशन करने के लिए प्रसरणावस्था से विशिष्ट ज्ञान नाना तथा अनित्य होता है यह उसी तरह से होता है जिस तरह प्रकृति के एक होने पर भी उसके परिणाम भेदों को स्वीकार किया जाता है ॥८९॥ **यदि सर्वगता० इत्यादि—** यदि नित्य, विभु तथा एक प्रकाशक ज्ञान का सभी विषयों के साथ सम्बन्ध होता तो फिर सभी विषयों का सदैव ही प्रकाश होते रहना चाहिए कभी ही किसी विषय का किसी को प्रकाश नहीं होता क्योंकि प्रकाश का तो एक मात्र ज्ञान का सम्बन्ध ही हेतु है॥९०॥ **तदानीम० इत्यादि—** अद्वैती विद्वान यह नहीं कह सकते हैं कि जिस विषय के साथ ज्ञान का सन्निधान होता है वह विषय प्रकाशित होता है और जिस विषय के साथ ज्ञान का सन्निधान नहीं होता है, उस विषय का प्रकाश नहीं होता है । अद्वैत सिद्धान्त में ज्ञान का सभी विषयों से सम्बन्ध इसलिए होता है कि वह नित्य और व्यापक है । आकाश के समान सिद्धान्त में तो ज्ञान में सङ्कोच तथा विकास रूपी अवस्था भेद के कारण ज्ञान के सन्निधान तथा असन्निधान की व्यवस्था हो जाती है ॥९१॥ **नापि कारणभेदेन० इत्यादि—** अद्वैती विद्वान् यह भी नहीं कह सकते है कि इस इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान इसी ही अर्थ का ग्रहण करता है, क्योंकि आपके अनुसार ज्ञान नित्य है, उसमें करण भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है । किञ्च विषय की भिन्नता के कारण भी ज्ञान भेद नहीं हो सकता है क्योंकि आपके यहाँ ज्ञान एक हैं ॥९२॥ **ततश्च० इत्यादि—** ज्ञान की एकता के ही कारण बहरे और अन्धे को भी शब्दादि के ज्ञान का प्रसङ्ग होगा फलतः आपके सिद्धान्तानुसार कोई भी अन्धा या बहरा नहीं होगा । इसी तरह ज्ञान की एकता के कारण गुरु शिष्य की मर्यादा भी भङ्ग होगी क्योंकि सबों का ज्ञान एक है । इस तरह अद्वैत मत में लौकिक एवं वैदिक मर्यादा के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा । यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि चैतन्य के एक होने पर भी चक्षुरादि के माध्यम से फैलने वाली अन्तःकरण की वृत्ति जो विषय से संबद्ध होती

है उसके द्वारा अविद्या के आवरण के दूर कर दिए जाने पर ही ज्ञान विषय का प्रकाश करता है अतएव हमारे यहाँ व्यवस्था बन जाती है तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वृत्ति तो जड़ा है वह अविद्या के आवरण का निवर्तन नहीं कर सकती है । यदि वृत्ति ही आवरण करती है तो वही विषयों का प्रकाशन भी करे, अनावश्यक रूप से ज्ञान को प्रकाशक मानने की क्या आवश्यकता है ? ।

अविद्या के स्वरूप की अनिर्वचनीयता का खण्डन

मूल—

ननु नः संविदो भिन्न सर्वं नाम न किञ्चन ।
अतः सर्वं सदा भायादित्यकाण्डेऽनुयुज्यते ॥९४॥
इदमाख्याहि भोः किं नु नीलादिर्न प्रकाशते ।
प्रकाशमानो नीलादिः संविदो वा न भिद्यते ॥९५॥
आदौ प्रतीतिसुभगो निर्वाहो लोकवेदयोः ।
यतः पदपदार्थाहि न किञ्चिदवभासते ॥९६॥
द्वितीये संविदोऽद्वैतं व्याहन्येत समीहितम् ।
यद्वायं विविधाकारप्रपञ्चः संविदात्मकः ।
साऽपि संवित्तदात्मेति यतो नाना प्रसज्यते ॥९७॥
नचाविद्याविलासत्वाद्भेदाभेदानिरूपणा ।
सा हि न्यायानलस्पृष्टा जातुषाभरणायते ॥९८॥
तथाहि यद्याविद्योयं विद्याभावात्मिकेष्यते ।
निरुपाख्यस्वभावत्वात्सा न किञ्चिन्नियच्छति ॥९९॥
अर्थान्तरमविद्या चेत्साध्वी भेदानिरूपणा ।
अर्थानर्थान्तरत्वादिविकल्पोऽस्या न युज्यते ।
विद्यातोऽर्थान्तरं चासाविति सुव्याहृतं वचः ॥१००॥
अथार्थान्तरभावोऽपि तस्यास्ते भ्रान्तिकल्पितः ।
हन्तैवं सत्यविद्यैव विद्या स्यात्परमार्थतः ॥१०१॥

किञ्च शुद्धाऽजडा संवित्, अविद्येयं तु नेदृशी ।
तत्वेन हेतुना सेयमन्यैव न निरूप्यते ॥१०२॥
अपि चेयमविद्या ते यद्भावादिरूपिणी ।
सा विद्या किं नु संवित्तिवेद्यं वा वेदिताऽथवा ॥१०३॥
वेद्यत्वे वेदितृत्वे च नास्यास्ताभ्यां निवर्तनम् ।
न हि ज्ञानादृतेऽज्ञानमन्यतस्तो निवर्तते ।
संविदेवेति चेत्तस्या ननु भावादसम्भवः ॥१०४॥
किञ्चेयं तद्विरुद्धा वा, न तस्याः क्वापि सम्भवः ।
यतोऽखिलं जगद्व्याप्तं विद्ययैवाद्वितीयया ॥१०५॥
अभावोऽन्यो विरुद्धो वा संविदोऽपि यदीप्यते ।
तदानीं संविदद्वैतप्रतिज्ञां दूरतस्त्यज ॥१०६॥

तत्त्वप्रकाशिका— ननु नः इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि हमारे मत में संवित् से भिन्न कुछ भी नहीं है, अतएव सिद्धान्ती ने यह जो कहा है कि अद्वैत सिद्धान्त में सबों के सदा प्रकाशित होने का प्रसङ्ग होगा, यह सिद्धान्ती का अनुचित प्रश्न है ॥९४॥ इस पर सिद्धान्ती अद्वैती विद्वान् से पूछते हैं कि यह बतलाइये कि आपको नीलादि की प्रतीति नहीं होती है अथवा ऐसा है कि प्रकाशित होने वाले निलादि संवित् से अभिन्न है ?॥९५॥ **आदौ० इत्यादि—** यदि कहें कि नीलादि की प्रतीति होती है तब तो अनेक प्रकार की होने वाली प्रतीतियों का अपलाप करके आपने अनेक पदार्थ की प्रतीतियों के द्वारा निर्वाहय तथा अबाधितानुभव सिद्ध सभी लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों का बड़ा अच्छा निर्वाह किया । अर्थात् आपकी यह मान्यता लौकिक एवं वैदिक व्यवहार एवं अनुभव के विपरीत है क्योंकि आपको किसी भी पद पदार्थ की प्रतीति ही नहीं होती है ॥९६॥ यदि दूसरा कल्प माने तब तो संवित् के भेदाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि प्रतीयमान नाना प्रपञ्च की एकता होने पर संवित् का नानात्व होयेगा ही । यदि यह अनेक आकारों वाला प्रपञ्च संविदात्मक है तो वह संवित् भी प्रपञ्चात्मक

होने के कारण भेदवती होगी है ॥९७॥ **न च विद्या० इत्यादि**— यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं सवित् के भेद तथा अभेद का निरूपण इसलिए नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अविद्या का विलास है। भेदाभेद निरूपण पद की व्युत्पत्ति है **भेदाभेदयोः अनिरूपणं यस्याः सा** अतएव आविद्यिक नीलादि भेद के मिथ्या होने तथा मित्यार्थ में दुर्घटत्व का होना दूषण नहीं अपितु भूषण ही है। तो अद्वैती विद्वानों की अविद्या न्याय न्याय रूपी अग्नि के संस्पर्श से उसी तरह विनष्ट हो जायेगी जिस तरह जतू (लाह) से बहना आभरण अग्नि का सम्पर्क प्राप्त करके विनष्ट हो जाता है। **जतुनो विकारः जातुषः** यह जातुष शब्द की व्युत्पत्ति है। जतू शब्द से **त्रपुष जतुनों षुक्** सूत्र से अण प्रत्यय तथा पुक् होकर जातुष शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् प्रपञ्च अविद्या का विलास नहीं सिद्ध हो सकता है ॥९८॥ अविद्या न्याय पराहत है इस बात को बतलाते हुए सिद्धान्ती कहते हैं। **तथाहि० इत्यादि**— प्रश्न है कि यह अविद्या विद्या के अभाव रूप है अथवा विद्या से भिन्न अर्थान्तर स्वरूप है ? यदि इसको विद्या का अभाव रूप मानें तो निरूपाख्यस्व भाववाली (अर्थात् शून्य स्वरूप) होने के कारण वह प्रपञ्च की व्यवस्थापिका इसलिए नहीं हो सकती है कि अविद्या स्वयं ही अलब्ध सत्ताक (सत्ता विहीन) है ॥९९॥ **अर्थान्तरम्० इत्यादि**— विद्या से भिन्न अर्थान्तर स्वरूपा है तो फिर उसका भिन्न तथा अभिन्न रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता है। किञ्च अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि अविद्या का अर्थानन्तरार्थत्व इत्यादि विकल्प नहीं किया जा सकता है तथा यह जो कहते हैं कि अविद्या विद्या से भिन्न अर्थान्तर रूप है ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं ॥१००॥ **अथार्थान्तर० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि अविद्या अर्थान्तरत्व भी भ्रान्ति कल्पित ही है तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि अविद्या से विद्या के भेद का यदि निरूपण नहीं किया जा सकता है तो ऐसी स्थिति में आपकी अभिमत अविद्या ही विद्या हो जायेगी और परमार्थ होगी ॥१०१॥ **किञ्च इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि आपके मतानुसार संवित् शुद्ध एवं

अजडा है तथा अविद्या विकारास्पद, अशुद्ध तथा जड़ा है । उस अविद्या का भी भेद आप विद्या को क्यों नहीं मानते हैं और उस भेद को ही परमार्थ क्यों नहीं मानते हैं । ऐसी स्थिति में परमार्थ अविद्या का ही विलास सारा भेद है । एक संवित् को प्रकाशक मानने पर तो सबों के सर्वदा प्रकाशित होते रहने का प्रसङ्ग होगा ही ॥१०२॥ यहाँ तक सिद्धान्ती अविद्या के भिन्नत्व भिन्नत्व के कारण अनिर्वचनीयत्व का खण्ड करके उसके स्वरूपानुपपत्ति का भी निरूपण करते हुए कहते है । **अपिचेयम्० इत्यादि**— यह अविद्या विद्या के अभाव रूप हो अथवा विद्या से भिन्न रूप हो आपके अभिमत विद्या का स्वरूप क्या है वह संविद वेद्य है कि वेदि भी है ॥१०३॥ **वेद्यत्वे० इत्यादि**— विद्या को आप चाहे वेद्य मानें या वेदिता मानें दोनों ही स्थितियों में अविद्या की निवृत्ति भिन्नाभिन्नत्व दोनों के द्वारा नहीं हो सकती है, क्योंकि वे दोनों चूकि अविद्या के निवर्तक नहीं है अतएव उस प्रकार की विद्या के भी निवर्तक नहीं हो सकते हैं । **नहि ज्ञानादृते० इत्यादि**— क्योंकि आपके सिद्धान्त में ज्ञान को ही अविद्या का निवर्तक माना जाता है । ज्ञान से भिन्न के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति आप भी नहीं मानते हैं । **संविदेवेति० इत्यादि**— यदि आप कहें कि विद्या संवित् स्वरूप ही है तो चूकि संवित को नित्य सिद्ध होने के कारण तथा सर्वव्यापक होने के कारण अविद्या उसके अभाव स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकती है ॥१०४॥ **किञ्चेयम्० इत्यादि**— यदि आप अविद्या को विद्या के विरुद्ध मानें तो भी यह अविद्या कहीं भी नहीं रह सकती है । क्योंकि संवित् रूपी विद्या सर्वगत है । वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है वह अद्वितीय है ॥१०५॥ **अभावोऽन्यो० इत्यादि**— आप अविद्या को चाहे संवित् के अभाव रूप मानें, या संवित् से भिन्न मानें, या संवित् से विरुद्ध मानें इन तीनों में से किसी भी पक्ष को मानने पर आपको संवित्द्वैत की प्रतिज्ञा को त्यागना ही पड़ेगा ।

यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि हम संवित् को ही केवल परमार्थ सत् मानते हैं अतएव हमारे मत पर माथैक्य को ही स्वीकारा जाता है अविद्या तो अपरमार्थ है अतएव अनादि होने पर भी अद्वैत की वाधिका नहीं हो

सकती है । तो इसका उत्तर है कि आप अविद्या को अनादि मानते हैं अतएव उसका कल्पक दोषान्तर नहीं हो सकता है । फलत: वह अपरमार्थ नहीं हो सकती है । यदि उसका कल्पक दोष ब्रह्म को ही मानें तो फिर दुघर्ट होने के कारण अथवा दूसरे हेतु की अपेक्षा न होने के कारण मुक्ति में भी अविद्या का प्रसङ्ग होगा । किञ्च अविद्या अनादि है, अतएव उसका अत्यन्त नाश नहीं हो सकता है, फलत: ज्ञान का भी निवर्त्य नहीं हो सकता है । इस तरह अविद्या की स्वरूपानुपपति बतलायी गयी है ॥१०६॥

अविद्या के आश्रयानुपपत्ति का वर्णन

मूल—

किञ्चासौ कस्य ? जीवस्य ।
को जीवो यस्य सेति चेत् ।
नन्वेवमसमाधानमन्योन्याश्रयणं भवेत् ॥१०७॥
न ते जीवादविद्या स्यात् न च जीवस्तया विना ।
न बीजाङ्कुरतुल्यत्वं जीवोत्पत्तेरयोगतः ॥१०८॥
ब्रह्मणश्चेन्न सर्वज्ञं कथं तत् बंभ्रमीति ते (भोः) ।
अविद्याकृतदेहात्मप्रत्ययाधीनता न ते ।
ब्रह्मसर्वज्ञभावस्य, तत्स्वाभाविकताश्रुतेः ॥१०९॥
भेदावभासगर्भत्वादथ सर्वज्ञता मृषा ।
त एवामृषा कस्मान्न स्याच्छब्दान्तरादिवत् ॥११०॥
यथा शब्दान्तराभ्याससङ्ख्याद्याः शास्त्रभेदकाः ।
भेदावभासगर्भाश्च यथार्थाः, तादृशी न किम् ॥१११॥
सर्वज्ञे नित्यमुक्तेऽपि यद्यज्ञानस्य सम्भवः ।
तेजसीव तमस्तस्मान्न निवर्तेत केनचित् ॥११२॥
सर्वज्ञत्वादिवचनप्रामाण्यं व्यावहारिकम् ।
तात्त्विकं तु प्रमाणत्वमद्वैतवचसामिति ।
नियामकं न पश्यामो निर्बन्धात्तावकादृते ॥११३॥

आश्रयप्रतियोगित्वे परस्परविरोधिनी ।
कथं वैकरसं ब्रह्म सादिति प्रातिपद्यते ॥११४॥
प्रत्यक्त्वेनाश्रयो ब्रह्मरूपेण प्रतियोगि चेत् ।
रूपभेदः कुतस्त्योऽयं यद्याविद्याप्रसादजः ।
ननु साऽपि तदायत्तेत्यन्योन्याश्रयणं पुनः ॥११५॥
अवस्तुत्वादविद्यायाः.........(नेदं तद्दूषणं यदि) ।
वस्तुनो दूषणत्वेन त्वया क्वेदं निरीक्षितम् ॥११६॥

ससा....उक्तारा (स्वसाध्यस्य पुरस्कारा) द्दोषोऽन्योन्यसमाश्रयः।
न वस्तुत्वादवस्तुत्वादित्यतो नेदमुत्तरम् ॥११७॥

किञ्चाविद्या न चेत्.... (वस्तु व्यवहार्यं कथं भवेत्)।
....(नचासद्वत्योम) पुष्पादि व्यवहारवदिष्यते ॥११८॥

नाप्यवस्त्विति चो...(क्तौ तु वस्तुत्वं सिध्यति ध्रुवम्)
.....(निषिध्यते) समस्तेन नञा वस्त्विति चेत्.... (मतम्) ॥११९॥

समस्तेन नञा वस्तु प्रथमं यन्निषिध्यते ।
प्रतिप्रसूतं व्यस्तेन पुनस्तादिति वस्तुता ॥१२०॥

अतो न वस्तु ना...(वस्तु न सद्वाच्यं न चाप्यसत्) ....न क
(अमानक) श्चकास्तीति विवक्षिर्या (विवक्षीर्मा) स्म जातुचित् ॥१२१॥

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्चासौ० इत्यादि— अब प्रश्न होता है कि यह अविद्या किसकी है ? अर्थात् अविद्या का आश्रय कौन है ? यदि कहें कि अविद्या नींव की है तो फिर प्रश्न उठता है कि जीव कौन है तो यही कहना होगा कि जिसकी अविद्या है तो ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा । क्योंकि जब जीव की सिद्धि हो तब अविद्या की सिद्धि हो और जब अविद्या की सिद्धि हो जाय तो जीव की सिद्धि हो किन्तु दोनों में कोई सिद्ध नहीं है, क्योंकि जब अविद्या का चैतन्य सम्बन्ध नहीं होगा तब तक जीव नहीं सिद्ध हो सकता और जब तक जीव सिद्ध नहीं होगा तब तक वह अविद्या का आश्रय नहीं बन सकता है । अतएव

अन्योन्याश्रय दोष का समाधान नहीं हो सकता है । यहाँ पर बिजाङ्कुर न्याय की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि बीजांकुर प्रवाह में अन्य-अन्य बीज अन्य-अन्य अङ्कुर का उत्पादक होता है तब अन्य-अन्य अङ्कुर अन्य-अन्य बीज का उत्पादक होता है । किञ्च आप भी मानते हैं कि जीव की उत्पत्ति नहीं होती है ।।१०७-१०८।। यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म हैं तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म सर्वज्ञ हैं । अतएव वे सभी वस्तुओं का सर्वदा यथावस्थित रूप से साक्षात्कार करते हैं । वे परंब्रह्म अनेक प्रकार की भ्रान्ति रूप अविद्या के आश्रय हों यह सम्भव नहीं है । अतएव अद्वैती यह कहते हैं कि ब्रह्म को ही भ्रम होता है वह भी नहीं हो सकता है क्योंकि ब्रह्म सर्वज्ञ है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या जन्य देहात्म भ्रम के कारण ब्रह्म को भ्रमत होता है तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि **य सर्वज्ञः सर्ववित्, परास्य पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च । इत्यादि** श्रुतियाँ ब्रह्म की सर्वज्ञता को स्वाभाविक बतलाती हैं । अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता है ब्रह्म की सर्वज्ञा अविद्या जन्य अहङ्कार मूलक है । यदि अद्वैती विद्वान कहें कि ब्रह्म का स्वभाव ही अविद्या है और अविद्या जन्य ही सर्वज्ञता है तो अद्वैती विद्वानों का कहना उपहासास्पद है क्योंकि स्वभाव दुरति क्रम होता है । अविद्या के स्वभाव होने से ब्रह्म सदा अज्ञ ही रहेंगे । इस तरह से कभी भी मोक्ष नहीं होगा ।।१०९।। **भेदावभास० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि सर्वज्ञता मिथ्या है, क्योंकि वह भेदावभास गर्भ है तो यहाँ पर यह क्यों न कहा जाय कि सर्वज्ञता सत्य है, क्योंकि वह भेदावभास गर्भ है। इस तरह भेद का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध हो सकता है । इस बात को बतलाया गया ही है । अतएव उसके अवभास कता की अयथार्थता भी नहीं सिद्ध हो सकती है ।।११०।। **यथाशब्दान्तरा० इत्यादि**— अर्थात् जिस तरह पूर्व मीमांसा में शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकारणान्तर के द्वारा कर्म भेद का निरूपण किया जाता है । शब्दान्तर इत्यादि शास्त्र भेदक हैं । अर्थात् विभिन्न विधि वाक्य विभिन्न प्रकार का

विधान करते हैं, अतएव वे भेद के व्यवस्थाय हैं, अर्थात् भेदक प्रमाण रूप हैं इस तरह से मीमांसक मानते हैं तथा शब्दान्तरादिमूल विधेयों के भेद ज्ञान यथार्थ होते हैं उसी तरह पारमार्थिक कार्य विषयिणी सर्वज्ञता यथार्थ होगी ही ॥१११॥ यदि सर्वज्ञ नित्य मुक्त ब्रह्म में ही अविद्या लग जाय तो उसकी निवृत्ति उसी तरह से असम्भव है जिस तरह तेज में ही यदि घोर अन्धकार लग जाय तो उसको दूर नहीं किया जा सकता है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि **तत्त्वमसि** इस वाक्य से उत्पन्न अपरोक्ष चिन्मात्र ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार के द्वारा ही अविद्या की निवृत्ति होती है तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं हो सकता है । दूसरी बात यह है कि ब्रह्म अपनी अविद्या से भी भ्रान्त हो जाता है और जीव अपनी विद्या के द्वारा उसको मुक्त करता है, यह कथन भी अध्यात्म दर्शन के विपरीत है ॥११२॥ अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि के प्रतिपादक वचनों का प्रामाच्य भी व्यावहारिक ही है । परमार्थ प्रामाण्य तो अद्वैत प्रतिपादक वचनों का ही है । निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही परमार्थ हैं । जीव तथा ईश्वर इत्यादि का भेद भी अविद्या कल्पित है । इसका विरोध करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि अद्वैती विद्वानों के इस कथन में कोई भी प्रमाण यह केवल अद्वैती विद्वानों की कपोल कल्पना मात्र है । द्वैत श्रुति तथा अद्वैत श्रुति दोनों का इसी अर्थ में तात्पर्य हैं कि प्रकारों में भेद होने पर प्रकारी ब्रह्म एक ही हैं । अतएव किसी भी श्रुति की अप्रमाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती है । समानाधिकरण्य वाक्यों के द्वारा भी सर्वात्मभूत सर्वशरीरक परंब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन किया जाता है । अतएव अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि अविद्या ही ब्रह्म में जीवभाव तथा ईश्वर भी कल्पना करने वाली वह ठीक नहीं हैं ॥११३॥ आश्रयप्रतियोगित्वे ब्रह्म को अविद्या का आश्रय मानने पर आश्रय और विषय दोनों ही परस्पर विरोधी हैं, सन्मात्र, एकरस, स्वप्रकाश रूप ब्रह्म अपने विषय भूत अविद्या का आश्रय कैसे हो सकते हैं ?॥११४॥ **प्रत्यक्त्वेन० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि सन्मात्र ही ब्रह्म स्वप्रकाशत्व रूपेण, या अहन्त्व

रूप से प्रत्यक् रूप से अविद्या का आश्रय होता है तथा ब्रह्म रूप से विषय होता है। तो यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म का यह रूप भेद कैसे हुआ ? यदि अविद्या के द्वारा हो तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस रूप भेद को अद्वैती विद्वान् स्वभाविक नहीं कह सकते हैं क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म में सविशेषत्व का प्रसङ्ग होगा ॥११५॥ यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या अवस्तु (अपरमार्थ) है अतएव उसका दुर्घटत्व दूषण नहीं अपितु भूषण ही है। अतएव यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। इस पर सिद्धान्ती पूछते हैं **वस्तुनोदूषणत्वेन इत्यादि**— अर्थात् पारमार्थिक वस्तु में अन्योन्याश्रयत्वादि दोष कहीं देखा है क्या ? वास्तविकता है कि व्यवहारिक ही प्रपञ्च में स्थान-स्थान पर दोष की कल्पना की जाती है, पारमार्थिक में नहीं, क्योंकि परमार्थ तो व्यवहार का विषय बनता ही नहीं है। अतएव अविद्या में अन्योन्याश्रय दोष होगा ही ॥११६॥ **ससा० इत्यादि**— स्वयम्प्रकाश विषय की अपनी सिद्धि में हेतु बनाने के ही कारण अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग होता है। अतएव **अवस्तुत्वात्** अर्थात् अविद्या के अपरमार्थ होने के कारण दोष नहीं है, इस तरह का उत्तर समीचीन उत्तर नहीं है ॥११७॥ **किञ्च० इत्यादि**— दूसरी बात है कि यदि अपरमार्थ है तो फिर वह व्यवहार के योग्य कैसे हो सकती है। लोक में देखा जाता है कि तुच्छ आकाश पुष्प का कोई व्यवहार नहीं होता है ॥११८॥ यदि उसको अपरमार्थ्य भी न माने तो फिर उसके परमार्थ्य की सिद्धि हो ही जायेगी। **निषिध्यते० इत्यादि**— यदि आप कहें कि अविद्या में नञ् समास होने के कारण उसके वस्तुत्व का (परमार्थ का) निषेध हो जाता है ॥११९॥ **समस्तेन० इत्यादि**— नञ् के साथ समस्त होने के कारण जो प्रथम वस्तु का निषेध है उससे व्यस्त होकर उसके द्वारा उसके विरोधी रूप अर्थ के होने के कारण विद्या की वस्तुता (परमार्थता) की सिद्धि हो जाती है ॥१२०॥ अतएव आप यह कभी भी नहीं कह सकते हैं कि अविद्या न तो वस्तु है न अवस्तु है, न तो वह सत् शब्द वाच्य है और न असत् शब्द है अतएव वह सदसदनिर्वचनीय रूप से प्रकाशित होती है ॥१२१॥

एक अविद्या पक्ष में दोषों का प्रदर्शन

मूल—

किञ्च प्रपञ्चनिर्वाहजननी येयमाश्रिता ।
अविद्या सा किमेकैव नैका वा तदिदं वद ।
तदाश्रयश्च संसारी तथैको नैक एव वा ॥१२२॥
सा चेदेका, ततस्सैका शुक्रस्य ब्रह्मविद्यया ।
पूर्वमेव निरस्तोति व्यर्थस्ते मुक्तये श्रमः ॥१२३॥

तत्त्वप्रकाशिका— इसके पहले यह बतलाया गया है कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकते । यदि अद्वैती विद्रान् अविद्या का आश्रय जीव को माने तो उस पक्ष में होने वाले दोषों को वे बतलाते हुए कहते हैं । **किञ्च० इत्यादि—** अद्वैत सिद्धान्त में जिस अविद्या को प्रपञ्च की निर्वाहिका तथा प्रपञ्च की जननी माना जाता है, वह अविद्या एक है कि अनेक है तथा उसका आश्रय भूत जीव एक है कि अनेक है ? इस बात को अद्वैती विद्वानों को बतलाना चाहिए ॥१२२॥ यदि वह एक है तब तो वह शुकदेवजी की ही ब्रह्म विद्या से पहले ही निरस्त हो गयी। अतएव आपलोग जो मुक्ति की प्राप्ति के परिश्रम करते हैं वह व्यर्थ ही है क्योंकि श्रुति बतलाती है कि शुकदेवजी मुक्त हो गये, वामदेव महर्षि मुक्त हो गये । जब अविद्या निरस्त ही हो गयी तो फिर प्रपञ्च की अनुवृत्ति कैसे होती है ? यदि कहें कि अविद्या तो बाधित हो गयी फिर भी प्रपञ्च उसी तरह से अनुवृत्त हो रहा है जिस तरह जल जाने पर रस्सी के समान प्रतीत होती है । जब बाधित हो ही गयी है तो वह कुछ समय बाद प्रपञ्च की अनुवृत्ति अपने आप हो जायेगी, उसके लिए प्रयास क्यों ?॥१२३॥

एक जीववाद का निरूपण

मूल—

स्यान्मतं नैव ते सन्ति वामदेवशुकादयः ।
यद्विद्यया निरस्तत्वान्नाद्याविद्येति चोद्यते ॥१२४॥

मुक्तामुक्तादिभेदो हि कल्पितो मदविद्यया ।
दृश्यत्वान्मामकस्वप्नदृश्यभेदप्रपञ्चवत् ॥१२५॥
यत्पुनर्ब्रह्मविद्यातस्तेषां मुक्तिरभूदिति ।
वाक्यं तत्स्वाप्नमुत्तयुक्तियुत्तया प्रत्यूह (ह्य) तामिति ॥१२६॥

तत्त्वप्रकाशिका— स्यान्मतम्० इत्यादि— यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि जीव एक ही है । वही स्थान के समान प्रपञ्च को देखता है शुक इत्यादि स्वप्न में दिखायी देने वाले पुरुषों के समान हैं । शुक इत्यादि की मुक्ति का प्रतिपादन करने वाला वाक्य भी स्वप्न में दिखायी देने वाला देवदत्त आदि के मुक्ति वचन के समान अप्रामणिक हैं । तत्त्व के साक्षात्कार के पश्चात् ही अविद्या की निवृत्ति होगी । वह मैं ही हूँ । मैं मूला विद्या के द्वारा कल्पित हूँ और दूसरे दिखने वाले सबके सब मेरी तूला विद्या के द्वारा कल्पित हैं । मुक्त तथा अमुक्त आदि का भेद भी उसी तरह मिथ्या है । **दृश्यत्वात् इत्यादि—** ये सब उसी तरह से दृश्य हैं जिस तरह मेरे द्वारा देखे जाने पर स्वप्न में दिखायी देने वाला भेद प्रपञ्च है ॥१२४-१२५॥ सिद्धान्ती ने यह जो कहा है कि शुकादि की ब्रह्म विद्या के द्वारा ही मुक्ति हो गयी । ये सारी बातें स्वाप्न उक्ति के समान होने के कारण बाधित हो जाती हैं ॥१२६॥

एक जीववाद पक्ष में मुक्त्यर्थ प्रवृत्ति के वैयर्थ्य का निरूपण

मूल—

नन्वीदृशानुमानेन स्वाविद्यापरिकल्पितम् ।
प्रपञ्चं साधयत्य(न्न)न्यः कथं प्रत्युच्यते त्वया ॥१२७॥
त्वदविद्यानिमित्तत्वे यो हेतुस्ते विवक्षितः ।
स एव हेतुस्तस्यापि भवेत्सर्वज्ञसिद्धिवत् ॥१२८॥
इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तिव्याहते भवतां मते ।
मुखमस्तीति यत्किञ्चित्प्रलपन्निव लक्ष्यसे ॥१२९॥
यथा च स्वाप्नमुत्तयुक्तिसदृशी तद्विमुक्तिगीः ।
तथैव भवतोऽपीति व्यर्थो मोक्षाय ते श्रमः ॥१३०॥

यथा तेषामभूतैव पुरस्तादात्मविद्यया ।
मुक्तिर्भूतोच्यते तद्वत्परस्तादात्मविद्यया ॥१३१॥
अभाविन्येव सा मिथ्या भाविनीत्यपदिश्यताम् ।
सन्ति स स्वप्नदृष्टानि दृष्टान्तवचनानि ते ॥१३२॥
ननु नेदमनिष्टं मे यन्मुक्तिर्न भविष्यति ।
आत्मनो नित्यमुक्तत्वान्नित्यसिद्धैव सा यतः ॥१३३॥
तदिदं शान्तिकर्मादौ वेतालावाहनं भवेत् ।
येनैवं सुतरां व्यर्थो ब्रह्मविद्यार्जनश्रमः ॥१३४॥
अविद्याप्रतिबद्धत्वादथ सा नित्यसत्यपि ।
असतीवेति तद्व्यक्तिर्विद्याफलमुपेयते ॥१३५॥
हस्तस्थमेव हेमादि विस्मृतं मृग्यते यथा ।
यथा तदेव हस्तस्थमवगम्योपशाम्यति ॥१३६॥
तथैव नित्यसिद्धात्मस्वरूपानवबोधतः ।
संसारिणस्तथाभावो व्यज्यते ब्रह्मविद्यया ॥१३७॥
हन्त केयमभित्यक्तिर्या विद्याफलमिष्यते ।
स्वप्रकाशस्य चिद्धातोर्या स्वरूपपद्रे स्थिता ॥१३८॥
संवित् किं सैव किं वाऽहं ब्रह्मास्मीतीति कीदृशी ।
यदि स्वरूपसंवित् सा, नित्यैवेति न तत्फलम् ॥१३९॥
अथ ब्रह्माहमस्मीति संवित्तिर्व्यक्तिरिष्यते ।
ननु ते ब्रह्मविद्या सा सैव तस्याः फलं कथम् ॥१४०॥
किञ्च सा तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्या भवन्मते ।
उत्पत्तिमत्यनित्येति मुक्तस्यापि भयं भवेत् ॥१४१॥
अपि च व्यवहारज्ञाः सति पुष्कलकारणे ।
कार्यं न जायते येन तमाहुः प्रतिबन्धकम् ॥१४२॥

इह किं तद्यदुत्पत्तुमुपक्रान्तं स्वहेतुतः ।
अविद्याप्रतिबद्धत्वादुत्पत्तिं न प्रपद्यते ॥१४३॥
न मुक्तिर्नित्यसिद्धत्वात्, न ब्रह्मास्मीति धीरपि ।
न हि ब्रह्माय (ह) मस्मीति संवित्पुष्कलकारणम् ।
संसारिणस्तदाऽस्तीति कथं सा प्रतिबध्यते ॥१४४॥
यतः सा कारणा भावादिदानीं नोपजायते ।
न पुनः प्रतिबद्धत्वादस्थाने तेन तद्वचः ॥१४५॥

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **नन्वीदृशा० इत्यादि**— अब प्रश्न होता है कि यदि दूसरा कोई इस बात को सिद्ध करता है, आपका प्रपञ्च आपकी ही अविद्या से परिकल्पित हैं तो उसका निरास आप क्यों करते हैं ? यदि आप कहें कि उसके द्वारा किया जाने वाला अनुमान प्रयोजक नहीं है तो फिर उसी के समान आपका भी अनुमान प्रयोजक नहीं हो सकता । अतएव परस्पर में होने वाले विरोध के कारण दोनों में से कोई भी अनुमान परमार्थ नहीं सिद्ध होता है । अथवा जिस तरह सभी ज्ञाता जीवों की सिद्धि नहीं हो सकती है उसी तरह अन्य सारी वस्तुओं के एक अविद्या कल्पितत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि जिसको आप साधक मानते हैं, वह साधका भास मात्र है ॥१२७-१२८॥ **इत्यन्योन्य० इत्यादि**— इस तरह परस्पर में आप अपने दूसरे लोगों को बाधित करते हैं और आपका ही दूसरा व्यक्ति आपके मत का खण्डन करता है, इस तरह परस्पर में एक दूसरे का मत खण्डित करते हुए सुन्दोपसुन्दोज्याय से दोनों का मत खण्डित हो जाता है । अथवा यह कहा जाय कि आप का मुख अतएव मन में जो आता है उसे आप बकते रहते हैं ॥१२९॥ **यथा च० इत्यादि**— आप यह जो कहते हैं कि जिस तरह से स्वप्न में कही जाने वाली वाणी मिथ्या होती है, उस तरह शुकादि की मुक्ति सम्बन्धी श्रुति वाणी भी मिथ्या ही है । उसी तरह आपका मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयास व्यर्थ ही है ॥१३०॥

यथा तेषा० इत्यादि— जिस तरह से शुकादि की मुक्ति आत्मविद्या द्वारा नहीं हुयी फिर भी श्रुति कहती है कि शुक की मुक्ति हो गयी, उसी तरह से बाद में भी आपकी मुक्ति आत्म विद्या से नहीं होने वाली है। अतएव नहीं होने वाली होने के कारण वह मिथ्या है, इसलिए आप मुक्ति का प्रयास त्याग दीजिए क्योंकि इस विषय में आपके स्वप्न विषयक वचन ही दृष्टान्त हैं ॥१३१-१३२॥

ननुनेदम्०— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि मुक्ति का न होना मेरे लिए अनिष्ट नहीं अपितु इष्ट ही है, क्योंकि हम तो यही मानते हैं कि आत्म नित्य मुक्त है । अतएव मुक्ति तो हमारे यहाँ नित्य सिद्ध है ॥१३३॥ **तदिदमित्यादि**— आपका यह कथन उसी तरह से है जिस तरह से कोई शान्ति कर्म के प्रारम्भ में वेताल का आवाहन करने लगे। इस तरह आपका मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रयास आपकी प्रवृत्ति के विरुद्ध है ॥१३४॥ **अविद्याप्रतिबद्ध० इत्यादि**— यद्यपि मुक्ति नित्य सिद्ध है अतएव वह ब्रह्म विद्या के द्वारा उत्पाद्य नहीं है फिर अविद्या के द्वारा प्रतिबद्ध (तिरोभूत) होने के कारण वह विद्यमान रहकर असत् के ही समान है अतएव उसकी अभिव्यक्ति के लिए ब्रह्म विद्या में परिश्रम करना सफल हो जाता है ॥१३५॥ जैसे कोई अपने हाथ में लिए हुए सुवर्ण को भूल जाता है और उसको खोजने लग जाता है और जब उसको इस बात का ज्ञान हो जाता है कि सुवर्ण को तो मैं अपने हाथ में ही लिए हुए हूँ तो वह शान्त हो जाता है, नित्य उसी तरह संसारी जीव को इस बात का ज्ञान नहीं है कि मुक्ति तो नित्य सिद्ध है ब्रह्म विद्या के द्वारा उसको इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मुक्ति नित्य सिद्ध है ॥१३६-१३७॥ एक विद्या पक्ष में यह दोष दिखाया गया है कि शुक की ही ब्रह्मविद्या से ही प्रतिबन्ध निवृत्ति हो जाने से दूसरे के द्वारा ब्रह्मविद्या के लिए श्रम व्यर्थ है । अब अनेक अविद्या पक्ष में दोष दिखाते हैं । **हन्त० इत्यादि**— अद्वैती विद्वानों से प्रश्न है कि जिसे वे ब्रह्म विद्या का फल मानते हैं, उस अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है ? इतरानपेक्ष स्वरूप प्रकाश ज्ञान तत्त्व स्वरूप विद्या साध्य ही अभिव्यक्ति

है ? अथवा ब्रह्म हूँ, इस प्रकार की वृत्ति अभिव्यक्ति है । यदि आप उसे स्वयम्प्रकाश स्वरूप संवित् को ही अभिव्यक्ति मानें तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि वह नित्य है ॥१३८-१३९॥ **अथ० इत्यादि**— आप **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार के होने वाले साक्षात् ज्ञान को ही अभिव्यक्ति कहें तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि आपके भी मत में मुक्ति में ब्रह्म विद्या साध्य प्रकाशान्तर नहीं स्वीकार किया जाता है अतएव ब्रह्म विद्या साध्य ब्रह्म विद्या ही कैसे हो सकती है ?॥१४०॥ **किञ्च सा० इत्यादि**— दूसरी बात है कि आपके मत में वह ज्ञान **तत्त्वमसि इत्यादि**— वाक्य जन्य माना जाता है अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तात्म स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप यदि वह साक्षात्कार स्वरूप संविति होगी तो उसके उत्पत्ति और विनाशवती होने के कारण अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी उसकी पुनः उत्पत्ति हो जायेगी । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि पहली अविद्या को विनष्ट करके विद्या स्वयं विनष्ट हो जाती है तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि आपकी अविद्या अनादि है अतएव वह पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो सकती है । वह सूक्ष्म रूप से तो बनी ही रहेगी और अभिव्यक्ति की निवृत्ति होने पर फिर वह स्थूल हो जायेगी। यदि कहें कि अनादि होने पर भी वह मिथ्या है अतएव उसका आत्यनिका विनाश हो जायेगा तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी मिथ्यात्व साधक युक्तियाँ, युक्त्यभास रूप हैं । अतएव आपके मत में मुक्त के भी संसार मय का प्रसङ्ग होगा ॥१४१॥ **अपि च० इत्यादि**— दूसरी बात यह है कि व्यवहार को यह जानते हैं कि पुष्कल मात्रा में कारण के रहने पर भी जिसके कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है उसे प्रतिबन्धक कहते हैं ॥१४२॥ **इहकिमू० इत्यादि**— अब प्रश्न उठता है कि मुक्ति की उत्पत्ति में कौन सा प्रतिबन्धक है जिसके कारण विद्या की उत्पत्ति नहीं होती है यदि कहें कि अविद्या ही उसका प्रति बन्धक है तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि आप मुक्ति को नित्य मानते हैं अतएव अविद्या उसकी प्रतिबन्धक नहीं हो सकती है । यदि कहें कि **अहं ब्रह्मास्मि** यह बुद्धि ही प्रतिबधिका है तो ऐसा नहीं कह सकते हैं

क्योंकि वह संवित् का पुष्कल कारण नहीं है । संसारी जीवों के विषय प्रावण्य की दशा में तत्त्व के साक्षात्कार रूप पुष्कल कारण की प्राप्ति नहीं होने के कारण विद्या की उत्पत्ति नहीं होती है अतएव उसमें भी अविद्या की प्रतिबन्धकता नहीं हो सकती है ॥१४३-१४४॥ चूकि कारणाभाव के कारण विधान ही उत्पन्न होती है अतएव यह कहना कि अविद्या से प्रतिबन्धित होने के कारण विद्या नहीं उत्पन्न होती है, ठीक नहीं है । अतएव दुर्घट होने के कारण आपके सिद्धान्त में मुक्त जीवों को भी संसारित्व का भय होगा ही ॥१४५॥

एक अविद्या के द्वारा कल्पित एक जीववाद का निरास

मूल—

किञ्चैको जीव इत्येतद्वस्तुस्थित्या न युज्यते ।
अविद्यातत्समाश्लेषजीवत्वादि मृषा हि ते ॥१४६॥
प्रातिभासिकमेकत्वं प्रतिभासपराहतम् ।
यतो नः प्रतिभासन्ते संसरन्तः सहस्रशः ॥१४७॥
आसंसारसमुच्छेदं व्यवहाराश्च तत्कृताः ।
अबाधिताः प्रतीयन्ते स्वप्नवृत्तविलक्षणाः ॥१४८॥
तेन यौक्तिकमेकत्वमपि युक्तिपराहतम् ।
प्रवृत्तिभेदानुमिता विरुद्धमितिवृत्तयः ।
तत्तत्स्वात्मवदन्येऽपि देहिनोऽशक्यनिह्नवाः ॥१४९॥

यथाऽनुमेयाद्वह्न्यादेर (रा)नुमाना विलक्षणाः । प्रत्यक्षं ते (क्ष्यन्ते) तथाऽन्येभ्यो जीवेभ्यो न पृथक् कथम् ॥१५०॥

न चेच्चेष्टाविशेषेण परो बोद्धाऽनुमीयते ।
व्यवहारोऽवलुप्येत सर्वो लौकिकवैदिकः ॥१५१॥
न चौपाधिकभेदेन मेयमातृविभागधीः ।
स्वशरीरेऽपि तत्प्राप्तेः शिरःपाण्यादिभेदतः ॥१५२॥

त (य) था तत्र शिरःपाणिपादादौ वेदनोदये ।
अनुसन्धानमेकत्वे, तथा सर्वत्र ते भवेत् ॥१५३॥
प्रायणान्नरकक्लेशात् प्रसूतिव्यसनादपि ।
चिरातिवृत्ताः प्रागूजन्मभोगा न स्मृतिगोचराः ॥१५४॥
युगपज्जायमानेषु......(सुखदुःखादिषु स्फुटः) ।
आश्रयासङ्करस्तत्र कथमैकार्थ्यविभ्रमः ॥१५५॥

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्च० इत्यादि— दूसरी बात है कि आपके मत में एक अविद्या से कल्पित एक जीववाद ठीक नहीं है एक जीव परमार्थ नहीं है क्योंकि वह मिथ्या अविद्या कल्पित होने के कारण उसे आप (अद्वैती विद्वान्) जीव भाव को मिथ्या मानते हैं ॥१४६॥ अब प्रश्न है कि आप एक का ही प्रतिभास होने के कारण एक जीव को मानते हैं, अथवा अनेक जीवों का प्रतिभास होने पर भी उसकी युक्ति के द्वारा एकत्व का प्रतिपादन करते हैं ? प्रथम पक्ष को तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि क्योंकि हमलोगों को तो हजारों संसारी जीवों की प्रतीति होती है, अतएव आपका प्रतिभासिक एक जीव बाद प्रतीति प राहत है ॥१४७॥ **आसंसार० इत्यादि—** अनेन जीवों के द्वारा किए जाने वाले व्यवहार स्वापकाल की प्रवृत्तियों से विलक्षण रूप से महाप्रलय काल पर्यन्त अबाधित ही प्रतीत होते हैं । कहने का अभिप्राय है कि स्वप्न काल में प्रतीत होने वाले विषयों तथा व्यवहारों का अभाव स्वप्न काल में भी था इस बात का निश्चय व्यवहार दशा में पाश्चातन बाध के द्वारा निश्चित होता है । किन्तु जीवों के भेद का बाध तो व्यवहार दशा में होता नहीं है । अपितु व्यवहार काल में दूसरे जीवों के द्वारा किए गये उपकार आदि की प्रतीति आपामरपण्डित सब को होती है । अतएव जीव भेद को अद्वैती विद्वान प्रातिभासिक नहीं कह सकते हैं ॥१४८॥ **तेन यौक्तिक० इत्यादि—** चूकि व्यवहार काल में जीवों के भेद का बाध नहीं होता है, अतएव अद्वैतियों की सभी शरीर मेरे द्वारा आत्मवान् हैं, क्योंकि वे शरीर हैं, मेरे शरीर के समान । यह एक जीव साधक युक्ति जीव भेद साधक युक्ति के द्वारा खण्डित हो जाती है । अब प्रश्न

उठता है कि जीव भेद साधक युक्ति क्या है तो उसे बतलाते हैं। **प्रवृतिभेदा० इत्यादि**— भिन्न-भिन्न शरीरों में होने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों के द्वारा जीव भेद का अनुमान होता है। उसके अनुकूल तथा प्रतिकूल उन शरीरों में ज्ञान तथा सङ्कल्प आदि की भिन्नता के भी कारण उन सभी जीवों की भिन्नता अनुमान होता है। शरीर धारियों में अपनी ही आत्मा के समान दूसरे शरीर धारियों में होने वाले ज्ञानादि का अपलाप नहीं किया जा सकता है ॥१४९॥ **यथानुमेयाद् इत्यादि**— जिस तरह पर्वत में अनुमान की जाने वाली अग्नि से सपेक्ष महान रहने वाली अग्नि विलक्षण (भिन्न) होती है उसी तरह से आपके सङ्कल्प, प्रवृत्ति तथा ज्ञानादि से भिन्न प्रकार के सङ्कल्प, प्रवृत्ति तथा ज्ञानादि वाले दूसरे जीवों का भी प्रत्यक्ष होता ही है ॥१५०॥ **न चेत्० इत्यादि**— यदि भिन्न-भिन्न शरीरों में होने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टा के द्वारा दूसरे ज्ञाता जीव का अनुमान नहीं स्वीकार किया जाय तो फिर लोक में पाये जाने वाले तत्-तत् अनुगुण व्यवहारों तथा अधिकारी तथा अनाधिकारी आदि शास्त्रीय विभागों आदि का भी लोप हो जायेगा ॥१५१॥ **न चौपाधिक० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ज्ञान एक ही है, वही उपाधि के भेद के कारण अनेक जीव रूप से प्रतीत होता है। औपाधिक जीव भेद के ही कारण जीवभेद तथा स्वभाव का असांकर्य प्रतीत होता है औपाधिक भेद भी कल्पित ही हैं उसी के कारण प्रमाता तथा प्रमेय भेद विषयीणि बुद्धि होती है तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि औपाधिक भेद के कारण व्यवस्था को स्वीकार करने पर शिर, पाणि आदि के भेद के कारण भी उन सबों से विशिष्ट ज्ञान के भेद का प्रसङ्ग होगा ॥१५२॥ ऐसी स्थिति में यह अनुभव कैसे हो सकता है ? कि मेरे शिर में सुख है किन्तु पैरों में वेदना होती है। इस तरह से एक ही व्यक्ति को सुख-दुःख की अनुभूति कैसे होती है ? और ऐसी ही प्रतीति सबको भी होती है। किञ्च आपके मतानुसार तो सभी शरीरों में एक ही चैतन्य के रहने पर सभी शरीरों में समकाल में ही सुख तथा दुःख का अनुभव होने का प्रसङ्ग होगा ॥१५३॥ अतएव

प्रत्येक शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्माओं को स्वीकार करना चाहिए । यदि कहें कि प्रत्येक शरीर में आत्मा अलग-अलग होती हैं तो फिर पूर्व जन्म में भोगे हुए भोगों का स्मरण क्यों नहीं होता है ? तो इसका उत्तर है कि लोक में देखा जाता है कि प्रबल कष्ट के कारण संस्कारों का प्रमोष हो जाता है । अत्यधिक ज्वरादि के कारण पूर्वाधीत विषयों का विस्मरण हो जाता है । उसी तरह मृत्यु जन्य कष्ट के कारण, नारीयादि कष्टों के कारण तथा जन्म के समय होने वाले कष्ट के कारण पूर्व जन्म में भोगों का स्मरण नहीं होता है ।।१५४।। **युगपत्० इत्यादि—** चूकि एक ही समय में भिन्न-भिन्न शरीरों में सुख, दुखादि की स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है । उनमें सुख दु:ख के आश्रय आत्मा का सांकर्य भी नहीं होता है अतएव एक जीववाद का भ्रम कैसे सम्भव है ? फलत: अनेक जीवों को स्वीकार करना ही चाहिए ।।१५५।।

अनेक अविधा कल्पित अनेक जीववाद का खण्डन

मूल—

न च प्रातिस्विकाविद्याकल्पितस्वस्वदृश्यकैः ।
जीवैरनेकैरप्येषा लोकयात्रोपपद्यते ।।१५६।।
परवार्ताऽनभिज्ञास्ते स्वस्वस्वप्नैकदर्शिनः ।
कथं प्रवर्तयेयुस्तां सङ्गाद्येकनिबन्धनाम् ।।१५७।।

तत्त्वप्रकाशिका— न च० इत्यादि— अद्वैती विद्वान् कहें कि अविद्या अनेक हैं उसके ही द्वारा कल्पित अनेक चैतन्यों के कारण अनेक जीवों का भेद होता है वे जीव अपनी-अपनी अविद्या के द्वारा कल्पित पदार्थों का अनुभव करते हैं, पृथक् लोगों को होने वाले स्वप्न के समान । व्यावहारिक एक जीव को दूसरा जीव नहीं ज्ञात होते हैं । अपने द्वारा देखे जाने वाले जीव स्वप्न के समान प्रातिभासिक हैं । इस तरह के अविद्या कल्पित अनेक जीवों के द्वारा भी लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता है ।।१५६।। अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि जीव अपनी ही अविद्या से कल्पित है अतएव वे व्यावहारिक दूसरें जीवों के वृत्तान्त को नहीं

जान पायेंगे । वे दूसरे जीवों की अविद्या से कल्पित नहीं है अपितु मूलाविद्या के द्वारा कल्पित हैं । उनके अनुसार लोक व्यवहार भी प्रातिभासिक ही है । इस तरह एक जीववाद ही हो जायेगा । एक जीव के कारण उनका दूसरों से सम्बन्ध कैसे होगा ?॥१५७॥

संवित् (ज्ञान) के निर्विशेषत्व का निरास

मूल—

किञ्च स्वयंप्रकाशत्वविभुत्वैकत्वनित्यताः ।
त्वदभ्युपेता बाधेरन् संविदस्तेऽद्वितीयताम् ॥१५८॥
संविदेन न ते धर्माः, सिद्धायामपि संविदि ।
विवाददर्शनात्तेषु; तद्रूपाणां च भेदतः ॥१५९॥
न च ते भ्रान्तिसिद्धास्ते येनाद्वैताविरोधिनः ।
तत्त्वावेदकवेदान्तवाक्यसिद्धा हि ते गुणाः ॥१६०॥

आनन्दस्वप्रकाशत्वनित्यत्वमहिमाद्यथ ब्रह्मस्वरूपमेवेष्टं, तत्रापीदं विविच्यताम् ॥१६१॥

ब्रह्मेति यावन्निर्दिष्टं तन्मात्रं किं सुखादयः ।
अथवा तस्य ते, यद्वा त एव ब्रह्मसंज्ञिनः ॥१६२॥
आद्ये तत्तत्पदाम्नानवैयर्थ्यं वेदलोकयोः ।
पूर्वोक्तनीत्या भेदश्च, जगज्जन्मादिकारणम् ॥१६३॥
अभ्युपेत्यैव हि ब्रह्म विवादास्तेषु वादिनाम् ।
द्वितीये सैव तैरेव ब्रह्मणः सद्वितीयता ॥१६४॥
तृतीये ब्रह्म भिद्येत तन्मात्रत्वात्पदे पदे ।
तत्समूहोऽथवा ब्रह्म तरुवृन्दवनादिवत् ॥१६५॥
प्रकर्षश्च प्रकाशश्च भिन्नावेवार्कवर्तिनौ ।
तेन न क्वापि वाक्यार्थोऽविभागोऽस्ति निदर्शनम् ॥१६६॥

जाड्यदु:खाद्यपोहेन यद्वोक्तत्रैव वर्तिता ।
ज्ञानानन्दादिशब्दानां न सतस्साद्वितीयता ॥१६७॥
अपोहा: किं न सन्त्येव, सन्तो वा, नोभयेऽपि वा ।
सत्त्वे सत्सद्वितीयं स्यात् जडाद्यात्मकतेतरे (ता परे) ॥१६८॥
सदसद्व्यतिरेकोक्तिः पूर्वमेव पराकृता ।
तथात्वे च घटादिभ्यो ब्रह्मापि न विशिष्यते ॥१६९॥
किञ्चापोह्यजडत्वादिविरुद्धार्थासमर्पणे ।
नैव तत्तदपोह्येत तदेकार्थैः पदैरिव ॥१७०॥
प्रतियोगिनि दृश्ये तु या भावान्तरमात्रधीः ।
सैवाभाव इतीहापि साद्विस्ते साद्वितीयता ॥१७१॥

तत्त्वप्रकाशिका— किञ्च० इत्यादि— दूसरी बात यह है कि आप संवित् को निर्विशेष मानते हैं वे कहते हैं कि अद्वितीय श्रुति के द्वारा उसके सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद राहित्य को बतलाया गया है। किन्तु उस निर्विशेष संवित् को वे स्वयंप्रकाश, व्यापक तथा नित्य मानते हैं । इन्हीं धर्मों के द्वारा संवित् के निर्विशेषत्व का बाध हो जाता है ॥१५८॥ यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि स्वयं प्रकाशत्व आदि संवित् से अभिन्न होने के कारण संवित् के धर्म नहीं है । यदि इस प्रकार की संवित् को स्वीकार करके भी संवित् के स्वप्रकाशत्व नित्यत्व इत्यादि के विषय में बौद्ध नैयायिक मीमांसक इत्यादि विद्वानों का चूकि विवाद देखा जाता है अतएव स्पष्ट होता है कि स्वप्रकाशत्व नित्यत्व इत्यादि संवित् के धर्म ही हैं वे संवित् से अभिन्न नहीं है ॥१५९॥ **न च ते० इत्यादि—** अद्वैती विद्वान् यदि यह कहते हैं कि जिन सबों से अद्वैत का विरोध होता है वे नित्यत्व इत्यादि भ्रान्ति कल्पित होने के कारण मिथ्या हैं तो वे ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि जो तत्त्वावेदक श्रुतियाँ हैं वे भी संवित् के नित्यत्व आदि का प्रतिपादन करते हैं यदि नित्यत्व आदि का बाध माना जायेगा तो तुल्य न्याय से संवित् के भी बाध हो जायेगा॥१६०॥ यदि अद्वैती विद्वानों को यह अभीष्ट हो कि आनन्दत्व, स्वप्रकाशत्व,

नित्यत्व तथा विभुत्व इत्यादि ब्रह्म स्वरूप ही है, तो उनको यह बतलाना चाहिए कि क्या नित्यत्व आदि ब्रह्म स्वरूप मात्र हैं ? या वे ब्रह्म के धर्म हैं या उनका ही नाम ब्रह्म हैं ?॥१६१-१६२॥ **आद्ये० इत्यादि**— यदि आनन्दत्व इत्यादि को ब्रह्म रूप मात्र माना जाय तो **आनन्दो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मं' इत्यादि** श्रुतियों में उन पदों के सह पाठ का वैयर्थ्य होगा । यदि उन सबों अतएव उन सबों को ब्रह्म का धर्म ही मानना होगा । ब्रह्म को स्वीकार करके तत्तवादी ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व को ही लेकर विवाद करते हैं । **द्वितीये० इत्यादि**— यदि नित्यत्व आदि को ब्रह्म का धर्म माना जाय तो उन सबों के साथ ब्रह्म की सद्वितीयता (सविशेषापत्ति) होगी ॥१६३-१६४॥ **तृतीये० इत्यादि**— यदि स्वयम्प्रकाशत्व, आनन्दत्व इत्यादि को ही ब्रह्म माना जाय तब तो सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म इत्यादि अनेक ब्रह्म के होने का प्रसङ्ग होगा । **तत्समूहः इत्यादि**— जिस तरह वृक्षों के समूह को वन कहा जाता है उसी तरह सत्यत्व ज्ञानत्व इत्यादि के समूह को ब्रह्म माने तो ऐसी स्थिति में यदि इन सबों के समुदाय वाला ब्रह्म के होने या सत्यादि ब्रह्म से भिन्न मानने पर भी ब्रह्म में सांशत्व तथा गुणत्व आदि होंगे ही ॥१६५॥ **प्रकर्षश्च० इत्यादि**— सत्यादि वाक्यों को अखण्डार्थ परक यदि माने तों भी निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है । जैसे सूर्य में रहने वाले प्रकर्ष तथा प्रकाश इत्यादि सूर्य से भिन्न सूर्य के धर्म हैं उसी तरह से सत्यत्व इत्यादि ब्रह्म के धर्म ही हैं। अतएव सत्यमित्यादि सामानाधिकरण्य वाक्य कहीं भी अभेद परक नहीं होते हैं॥१६६॥ **जाडयदुःखाद्यपो० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि सत्यं ज्ञानमित्यादि ब्रह्म में जाड्त्व, अलीकत्व, परिच्छन्न इत्यादि का अपोहन (अभाव) को बतलाते हैं अतएव ज्ञानानन्दादिपदों के द्वारा सधर्मता नहीं हो सकती है ॥१६७॥ **अपोहाः इत्यादि**— इस पर सिद्धान्ती पूछते हैं कि अपोह असत् हैं, या सत् है या सदसद् विलक्षण हैं यदि सत् है तब तो द्वितीयतायत्ति होगी यदि अपोहों को असत् मानें तब तो ब्रह्म के जडद्यात्मक होने का प्रसङ्ग होगा ॥१६८॥ यदि उनको सदसद्

विलक्षण मानें तो यह कथन ठीक नहीं है । अर्थात् वे सद् विलक्षण (भिन्न) होगा और यदि असद् विलक्षण होंगे तो सत् होंगे । **तथात्वे०** **इत्यादि**— दूसरी बात है कि अपोहों को चाहे ब्रह्म स्वरूप मानें या सदसद्विलक्षण मानें ऐसी स्थिति में ब्रह्म ही सद्सद विलक्षण होगा ।।१६९।। **किञ्चापोहय० इत्यादि**— जडादि व्यावर्तक धर्म बोधक पदों के बिना जडादि व्यावृत्ति का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है सत्यादि पदों के द्वारा जडादि के पर्याय पदों के समान व्यावर्तक धर्म बोधकत्व को अवश्य स्वीकार करना होगा । ऐसी स्थिति में उन्हीं धर्मों के द्वारा ब्रह्म की सविशेषतापत्ति होगी ।।१७०।। यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि सत्यादि पदों के द्वारा जडादि व्यावृत्ति रूपत्व का ही ज्ञान होता है व्यावर्तका धर्मवत्त्व का नहीं तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं **प्रतियोगिनि० इत्यादि**— यदि योग्य प्रतियोगी की उपलब्धि न हो तो उसके अभाव में केवल अधिकरण मात्र का ज्ञान होता है । फलतः अभाव के ज्ञान विशेष होने के कारण सत्यादि पदों के लक्ष्यार्थ रूप अभावों के भाव रूप होने के कारण ब्रह्म की सविशेषतापत्ति होगी ।।१७१।।

प्रपञ्च के सदसद् भिन्नत्व रूप मिथ्यात्व का खण्डन

मूल—

भूतभौतिकभेदानां सदसद्त्यतिरेकिता ।
कुतोऽवसीयते किं नु प्रत्यक्षादेरुतागमात् ।।१७२।।

प्रत्यक्षादीनि मानानि स्वस्वमर्थं यथायथम् । व्यवच्छिन्दन्ति जायन्त इति या (ता) वत् स्वसाक्षिकम् ।।१७३।।

यथाऽग्रतः स्थिते नीले नीलिमान्यकथा न, धीः एकाकारा, न हि तथा स्फटिके धवले मतिः ।।१७४।।

क्षीरे मधुरधीर्यादृक्, नैव निम्बकषायधीः ।
व्यवहाराश्च नियताः सर्वे लौकिकवैदिकाः ।।१७५।।
सत्यं प्रतीतिरस्त्यस्या मूलं नास्तीति चेन्न तत् ।
या चेदस्ति तस्या मूलं कल्प्यतां कार्यभूतया ।।१७६।।

क्लृप्तं चेन्द्रियलिङ्गादि तद्भावानुविधानतः ।
यौगपद्यक्रमायोगाद्त्यवच्छेदविधानयोः ॥१७७॥
ऐक्यायोगाच्च भेदो न प्रत्यक्ष इति यो भ्रमः ।
भेदेतरेतराभाववेकाग्रहणेन सः ॥१७८॥
स्वरूपमेव भावानां प्रत्यक्षेण परिस्फुरत् ।
भेदव्याहारहेतुः स्यात् प्रतियोगिव्यपेक्षया ॥१७९॥
यथा तन्मात्रधीर्नानानास्तिव्याहारसाधनी ।
ह्रस्वदीर्घत्वभेदा वा यथैकत्र षडङ्गुले ॥१८०॥
एवं व्यवस्थितानेकप्रकाराकारवत्तया ।
प्रत्यक्षस्य प्रपञ्चस्य तद्भावोऽशक्यनिह्नवः ॥१८१॥
आगमः कार्यनिष्ठत्वादीदृशेऽर्थे न तु प्रमा ।
प्रामाण्येऽप्यन्वयायोग्यपदार्थत्वान्न बोधकः ॥१८२॥
नासत् प्रतीतेः, बाधाच्च न सदित्यपि यन्न तत् ।
प्रतीतेरेव सत् किं न, बाधान्नासत् कुतो जगत् ?
तस्मादविद्ययैवेयमविद्या भवताऽऽश्रिता ॥१८३॥
किञ्च भेदप्रपञ्चस्य धर्मो मिथ्यात्वलक्षणः ।
मिथ्या वा परमार्थो वा नाद्यः कल्पोऽयमञ्जसा ॥१८४॥
तन्मिथ्यात्वे प्रपञ्चस्य सत्यत्वं दुरपह्नवम् ।
पारमार्थ्येऽपि तेनैव तवाद्वैतं विहन्यते ॥१८५॥

तत्त्वप्रकाशिका— अद्वैती विद्वान् प्रपञ्च को सदसदनिर्वचनीय मानते हैं उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं अद्वैती विद्वान भूत भौतिक प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निश्चय कैसे करते हैं प्रत्यादि प्रमाणों से अथवा शास्त्रीय प्रमाण के द्वारा ॥१७२॥ **प्रत्यक्षादीनि० इत्यादि**— प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने-अपने विषयों को जो विषय जैसे हैं उनको उसी प्रकाशक बतलाते हैं वे उनको सजातीय विसजातीय व्यतिरिक्त रूप से बतलाते हैं वे प्रमाण अपने विषयों को सदसद विलक्षण (मिथ्या) नहीं बतलाते हैं।

यह सब लोग जानते हैं ॥१७३॥ **यथाऽग्रतः इत्यादि**— जैसे सामने विद्यमान नील में नीलमति ही होती, वह एक ही प्रकार की होती है वह बुद्धि अनेक प्रकार की नहीं होती है, उसी तरह से श्वेत स्फटिक में नील बुद्धि नहीं होती हैं ॥१७४॥ जिस तरह से दुग्ध मधुर बुद्धि जैसी होती है वैसी निम्ब में होने वाली कषाय बुद्धि नहीं होती है । सभी लौकिक एवं वैदिक व्यवहार नियत होते हैं । अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के असाधारण आकार के भेद में अबाधित प्रतीति को बतलाकर उसी प्रकार के व्यवहार को भी प्रमाणिक रूप से उपन्यस्त करते हैं ॥१७५॥ **सत्यं प्रतीति० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ऐसी प्रतीति तो होती है किन्तु कोई उसका मूल नहीं है तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ऐसी प्रतीति होती है तो उसके किसी कार्य रूप मूल की कल्पना कर लेनी चाहिए ॥१७६॥ निर्दुष्ट इन्द्रियाँ ही उन ज्ञानों की प्रामाणिकता में कारण हैं, यह अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता है । फलतः वस्तुओं के भेद का ग्रहण निर्दुष्ट इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता है । **यौगपद्य० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा एक ही समय में वस्तु के स्वरूप तथा उसके भेद का ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि स्वरूप का ग्रहण प्रतियोगी ग्रहण निरपेक्ष होता है और भेद का ग्रहण प्रतियोगी ग्रहण सापेक्ष होता है । यदि सिद्धान्ती कहें कि प्रत्यक्ष पहले अधिकरण का ग्रहण करके उसके बाद उसके भेद का ग्रहण कर लेता है तो ऐसा सम्भव इसलिए नहीं है कि ज्ञान क्षणिक होता है वह भेद ग्रहण काल पर्यन्त नहीं रह सकता है । तथा स्वरूप और भेद का वह ग्रहण एक भी नहीं हो सकता है । अतएव प्रत्यक्ष के द्वारा स्वरूप का ही ग्रहण होता है भेद के ग्रहण का तो भ्रम होता है तो इस पर सिद्धान्ती कहतें है कि अद्वैती विद्वान् भ्रम वशात् भेद को अन्योन्याभाव के स्वरूप को ठीक से नहीं जान पाने के कारण ऐसा कहते हैं ॥१७७-१७८॥ **स्वरूपमेव० इत्यादि**— वस्तु के असाधारण आकार को स्वरूप कहते है उसके ग्रहण के समय ही प्रतियोगी के स्मरण की सहायता से भेद का व्यवहार भी होता है । जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व ही घट

का पह से भेद हैं ॥१७९॥ **यथा० इत्यादि**— जैसे वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान उसके नानात्व के अभाव को सिद्ध करता है अथवा छह अङ्गुल की वस्तु में बड़ी वस्तु की अपेक्षा ह्रस्वत्व का भेद होता है और छोटी वस्तु की अपेक्षा दीर्घत्व का भेद होता है ॥१८०॥ धर्मी के ग्रहण में स्वरूप लक्षण का भेद के आद्यक्षण में ही ग्रहण हो जाने के कारण भेद व्यवहार के ही लिए प्रतियोगी के स्मरण की अपेक्षा होती है । विभिन्न पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है । इसलिए उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है ॥१८१॥ प्रत्यक्ष का भेद प्रपञ्च के सत्त्व में प्रामाण्य है उसके सदसद् विलक्षणत्व में प्रामाण्य नहीं है । इस बात को बतलाकर अब यह बतलाया जाता है कि प्रपञ्च के सदसद् विलक्षणत्व में शास्त्र का प्रमाण्य नहीं हैं, क्योंकि शास्त्र तो कार्य रूपी ही अर्थ का प्रतिपादक होता है । यह मीमांसक मानते हैं । सिद्धान्त में माना जाता है कि शास्त्र सिद्ध अर्थ में प्रमाण है किन्तु अनिर्वचनीय वस्तु के विषय में शास्त्र प्रमाण नहीं है । क्योंकि ऐसे अर्थ के ज्ञान का जनक शब्द प्रमाण नहीं है ॥१८२॥ अद्वैती विद्वानों की यह अनुमानमयी युक्ति भी सत् नहीं है कि प्रपञ्च सदसद भिन्न है क्योंकि उसकी प्रतीति तो होती है किन्तु अन्त में उसका बाध हो जाता है । यह क्यों न मान लिया जाय कि जगत् सत्य है, क्योंकि उसकी प्रतीति होती है, किञ्च जगत् असत् नहीं है क्योंकि उसका बाध होता है । अतएव अनिर्वचनीयत्व चूकि अप्रमाणिक है अतएव उसके सदसद निर्वचनीय की) कल्पना आपलोग अपने अज्ञान के ही कारण करते हैं ॥१८३॥ किञ्च भेद प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर भेद के सत्यत्व की सिद्धि हो जायेगी । भेद मिथ्यात्व को सत्य मानने पर ब्रह्म से भिन्न किसी का भी सत्यत्व को मानने पर अप सिद्धान्त होगा । इसी तरह अद्वैत का भी अपघात होगा । यदि आप भेद मिथ्यात्व को सत्य मानकर उसे ब्रह्म रूप कहें तो ऐसा होने पर ब्रह्म में मिथ्या वस्तु के गुणत्व का प्रसङ्ग होगा ॥१८४-१८५॥

सिद्धान्ती द्वारा सत् अद्वैत का खण्डन तथा प्रपञ्च सत्यत्व का समर्थन

मूल—

सर्वाण्येव प्रमाणानि स्वं स्वमर्थं यथोदितम् ।
असतोऽर्थान्तरेभ्यश्च व्यवच्छिन्दन्ति भान्ति नः ॥१८६॥
तथाहीह घटोऽस्तीति येयं धीरुपजायते ।
सा तदा तस्य नाभावं पटत्वं वाऽनुमन्यते ॥१८७॥
नन्वस्तीति युदक्तं किं तन्मात्रं घट इत्यपि ।
अर्थान्तरं वा, तन्मात्रे सदद्वैतं प्रसज्यते ।
अर्थान्तरत्वे सिद्धं तत् सदसद्भ्यां विलक्षणम् ॥१८८॥
यद्येवमस्ति ब्रह्मेति ब्रह्मौपनिषदं मतम् ।
घटवत्सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं तवापतेत् ॥१८९॥
आनन्दसत्यज्ञानादिनिर्देशैरेव वैदिकैः ।
ब्रह्मणोऽप्यतथाभावस्त्वयैवैवं समर्थितः ॥१९०॥
सदसद्व्यतिरेकोक्तिः प्रपञ्चस्य च हीयते ।
यद्यथा किञ्चिदुच्येत तत्सर्वस्य तथा भवेत् ॥१९१॥
तस्मादस्तीति संवित्तिर्जायमाना घटादिषु ।
तत्तत्पदार्थसंस्थानपारमार्थ्यावबोधिनी ॥१९२॥
सजातीयविजातीयव्यवच्छेदनिबन्धनैः ।
स्वैःस्वैर्व्यवस्थितै रूपैः पदार्थानां तु या स्थितिः ।
सा सत्ता न स्वतंत्राऽन्या तत्राद्वैतकथा कथम् ॥१९३॥

तत्त्वप्रकाशिका— सर्वाण्येव० इत्यादि— जैसा कि मैं कह चुका हूँ सभी प्रमाण अपने-अपने विषय को असत् तथा दूसरे विषयों से भिन्न व्यवस्थित करते हैं यह हम सबों को प्रतीत होता है ॥१८६॥ **तथाहि० इत्यादि—** उसी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं यहाँ पर इस समय घट है इस प्रकार की होने वाली प्रतीति उस देश तथा उस काल में

अपने असाधारण आकार से युक्त घट की सत्ता का ही प्रतिपादन करती है उसकी असत्ता का नहीं घटोतस्ति इस प्रतीति के द्वारा पट आदि दूसरे विषयों के धर्म से युक्ता का भी प्रतिपादन नहीं करती है । इस तरह **घटोऽस्ति इत्यादि**— प्रतीतियाँ असद् भिन्न वस्त्वन्तर भिन्न सत्तावान घटादि का प्रतिपादन करती है । इस तरह सत वस्तु के नानात्व की ही सिद्धि होती है सत् के अभेद की नहीं ॥१८७॥ इस पर अद्वैती विद्वान् पूछते हैं कि **घटोस्ति पटोऽस्ति इत्यादि**— जो कहा जाता है, यहाँ पर अस्ति पद से सन्मात्र को कहा जाता है अथवा अर्थान्तर को कहा जाता है यदि सन्मात्र को कहा जाता है तो उससे सत् के अद्वैत (अभेद) की सिद्धि हो गयी । यदि वह अर्थान्तर को बतलाते हैं तो उससे सद सद विलक्षण की सिद्धि हो गयी ॥१८८॥ इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो **ब्रह्मा अस्ति** इस उपनिषद वाक्य से भी ब्रह्म के घट के ही समान सदसद निर्वचनीयत्व की सिद्धि हो जायेगी ॥१८९॥ **आनन्दसत्य० इत्यादि**— इसी तरह **आनन्दो ब्रह्म इत्यादि**— वैदिक वाक्यों में भी यदि ब्रह्मपद के द्वारा आनन्दादि मात्र ही कहा जाता है तो ऐसी स्थिति दूसरे पद का उच्चारण व्यर्थ होगा । यदि उससे अतिरिक्त अर्थ का बोध यदि हो जाये तो ब्रह्म में आनन्दा नन्द विलक्षणत्व का प्रसङ्ग होगा । इस तरह आप के ही द्वारा ब्रह्म के अनानन्दत्व का समर्थन हो जायेगा ॥१९०॥ **सदसद० इत्यादि**— आपलोग जो प्रपञ्च को सदसद् व्यतिरिक्त कहते है उसका भी अर्थ आपके अनुसार होकर उसका अर्थ होगा कि प्रपञ्च में सदसद् व्यतिरिक्तान्यत्व है । **यद्यथा० इत्यादि**— जो कोई भी वस्तु जिस प्रकार से कही जाती है वे सभी वस्तुओं में आपके अनुसार तत्प्रकार राहित्य का ही प्रसङ्ग होगा ॥१९१॥ **तस्मात् इत्यादि**— अतएव घट आदि वस्तुओं के विषय में इस रूप से होने वाला ज्ञान घटादि सभी पदार्थों के संस्थानों की परमार्थता को ही बतलाता है ॥१९२॥ सजातीय, विजातीय व्यतिरिक्तता के कारण अपने-अपने रूपों से पदार्थों की जो स्थिति है वही पदार्थों की सत्ता है वह सत्ता कर्तृ परतन्त्र होती है, वह प्रत्येक पदार्थ के रूप में व्यवस्थित होती है, अतएव आपके अभिमत अद्वैत को स्वतन्त्रता तथा मानना उचित नहीं है ॥१९३॥

चैतन्य के अद्वैत के खण्डन पूर्वक ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के भेद की परमार्थता का प्रतिपादन

मूल—

न च नानाविधाकारप्रतीतिः शक्यनिह्नवा ।
न वेद्यं वित्तिधर्मः स्यादिति यत्प्रागुदीरितम् ॥१९४॥
तेनापि साधितं किञ्चित् संविदोऽस्ति न वा त्वया ।
अस्ति चेत् पक्षपातः स्यात् न चेते विफलः श्रमः ॥१९५॥
अतः स्वरसाविस्पष्टदृष्टभेदास्तु संविदः ।
यथा रथादिभिर्वाह्यै (यथावस्थायिभिर्बाह्यै)-
नैक्यं यान्ति घटादिभिः ॥१९६॥
सहोपलम्भनियमो न खल्वैकैसंविदा ।
नचेदस्ति ससामान्यं सर्वं संवेदनास्पदम् ॥१९७॥
सहोपलम्भनियमान्नान्योऽर्थः संविदो भवेत् ।
यदेतदपराधीनस्वप्रकाशं तदेव हि ॥
स्वयम्प्रकाशताशब्दमिति वृद्धाः प्रचक्षते ॥१९८॥
यस्मिन्नभासमानेऽपि यो नामार्थो न भासते ।
नासावर्थान्तरस्त (रं त) स्मान्मिथ्येन्दुरिव चन्द्रतः ॥१९९॥
अभासमाने विज्ञाने न चात्मार्थावभासनम् ।
इति संविद्विवर्तत्वं प्रपञ्चः स्फुटमञ्चति ॥२००॥
.........मैवं परिभवः (मैवं स्मार्थन् परिभवः) प्रत्यक्षेण
बलीयसा । संरक्ष्यमाणभेदास्ते नानुमानानुवर्तिनः ॥२०१॥
तथा हीदमहं वेद्मीत्यन्योन्यानात्मना स्फुटम् ।
त्रयं साक्षाच्चकास्तीति सर्वेषामात्मसाक्षिकम् ॥२०२॥
प्रत्यक्षप्रतिपक्षं च नानुमानं प्रवर्तते ।
न हि वह्नेरनुष्णत्वं द्रव्यत्वादनुमीयते ॥२०३॥

किञ्च हेतुर्विरुद्धोऽयं सहभावो द्वयोर्यतः ।
तवापि न हि संवित्तिः स्वात्मना सह भासते ॥२०४॥
नीलाद्युपप्लवापेतस्वच्छचिन्मात्रसन्ततिः ।
स्वापादौ भासते, नैवमर्थः संवेदनात् पृथक् ।
तेन संवेदनं सत्यं संवेद्योऽर्थस्त्वसन्निति ॥२०५॥
तदेतदपरामृष्टस्ववाग्बाधस्य जल्पितम् ।
सहोपलम्भनियमो येनैवं सति हीयते ॥२०६॥
यस्मादृते यदाभाति भाति य (त) स्मादृतेऽपि तत् ।
घटादृतेऽपि निर्भातः पटादिव घटः स्वयम् ॥२०७॥

(इति चिदद्वैतनिरासेन मितिमातृमेयभिदायाथार्थ्यसमर्थनम्)

एतावानेव संवित्सिद्धिभाग उपलभ्यते

इति श्रीमद्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रवर्तनधुरन्धरपरमाचार्यश्रीमद्भगवद्यामुनमुनिसमनुगृहीते सिद्धित्रये संवित्सिद्धिः ।

तत्त्वप्रकाशिका— प्रमेय स्वरूप सत् के नानात्व का प्रतिपादन करके अद्वैत्यभिमत चित् (चैतन्य) के अद्वैत के निरास पूर्वक ज्ञान के भी नानात्व का प्रतिपादन करते हैं । **न च० इत्यादि**— विषयों तथा आश्रयों के भेदों के द्वारा तथा प्रत्यक्षादि स्वगत विशेषों के द्वारा अनुभव किए जाने वाले संवित् के नानात्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है । **न वेद्यम्० इत्यादि**— अद्वैती विद्वानों द्वारा किए गये निर्विशेषत्व साधक अनुमान का अनुवाद करके सिद्धान्ती उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस अनुमान के द्वारा वे संवित् में निर्विशेषत्व रूप साध्य धर्म को स्वीकार करते हैं कि नहीं ? यदि स्वीकार करते हैं तो उनका यह धर्म में अकारण ही पक्षपात का प्रसङ्ग होगा । अर्थात् वे एक निर्विशेषत्व रूपी धर्म को तो स्वीकार करते हैं और प्रामाणिक धर्मों को नहीं स्वीकार करते हैं । यदि कहें कि उसके द्वारा कोई भी साध्य धर्म स्वीकार नहीं करते हैं तो अद्वैतियों का श्रम व्यर्थ होगा ॥१९४-१९५॥ **अतः इत्यादि**— अतएव संवित् के निर्विशेषत्व का खण्डन किए जाने के कारण स्वाभाविक

विषय, आश्रय तथा स्वगत प्रत्यक्षत्वादि विशेषताओं से विशिष्ट भिन्न-भिन्न रूप से स्पष्टतः प्रतीत होने वाले ज्ञानों की यथावस्थित बाह्य घट आदिकों के साथ अभेद नहीं हो सकता है ॥१९६॥ **सहोपलम्भ० इत्यादि**— ज्ञान के साथ ही उपलब्ध होने के कारण उसके साथ ज्ञाता एवं ज्ञेय का अभेद नहीं माना जा सकता है । क्योंकि सभी ज्ञान विशेषों के द्वारा सहोपलम्भ का नियम नहीं हो सकता है । क्योंकि एक ज्ञान के अभाव में दूसरे ज्ञान के द्वारा भी विषय की उपलब्धि होती है । यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि विशेष के साथ सहोपलम्भ का व्यभिचार होने पर भी ज्ञान सामान्य के साथ तो सहोपलम्भ का नियम तो है ही; तो अद्वैती विद्वानों का यह भी कथन ठीक नहीं है ॥१९७॥ **सहोपलम्भ० इत्यादि**— सहोपलम्भ नियम के कारण ज्ञान का दूसरा अर्थ नहीं हो सकता है । वृद्धों ने स्वयम्प्रकाशता शब्द का अर्थ प्रकाशकान्तर निरपेक्ष प्रकाशत्व ही बतलाया है ॥१९८॥ **यस्मिन् इत्यादि**— ज्ञान के प्रकाश के अभाव में विषय का भी प्रकाश नहीं हो सकता है । अतएव विषय की ज्ञान से अनन्यता सिद्ध होती है । वह उसी तरह ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता है जिस तरह बिम्ब भूत चन्द्रमा से उसका प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं होता है ॥१९९॥ **अभासमाने० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ज्ञान के प्रकार के बिना आत्मा (ज्ञाता) और ज्ञेय का प्रकाश नहीं होता है इसी से सिद्ध होता है कि ज्ञाता और ज्ञेय आदि सारा प्रपञ्च ज्ञान के विवर्त है ॥२००॥ अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **मैवम्० इत्यादि**— अर्थात् आप इस प्रकार से ज्ञाता ज्ञेय आदि भेदों का खण्डन अनुमान के द्वारा नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अनुमान की अपेक्षा बलवान् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञाता ज्ञेय आदि भेदों की रक्षा हो जाती है । अतएव भेद अनुमानानुवर्ती नहीं हो सकते हैं ॥२०१॥ **तथाहि० इत्यादि**— मैं इसको जानता हूँ इत्यादि अनुभवों में ज्ञाता और श्रेय एवं ज्ञान ये तीनों परस्पर में भिन्न रूप से स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं ॥२०२॥ **प्रत्यक्ष० इत्यादि**— अनुमान प्रत्यक्ष का विरोधी अनुमान नहीं हो सकता है कोई भी इस तरह का अनुमान नहीं

करता है कि अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह द्रव्य है, जल के समान क्योंकि इस अनुमान का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाध हो जाता है ॥२०३॥ **किञ्च० इत्यादि**— सहोपलम्भ हेतु अभेद के विरुद्ध हेतु है क्योंकि दो में ही सहभाव होता है अद्वैती अभिमत भी ज्ञान के साथ नहीं प्रकाशित होता है । अतएव संवित् के साथ उपलब्ध होने वाले विषय इत्यादि ज्ञान से भिन्न ही हैं ॥२०४॥ **नीलाद्युप० इत्यादि**— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि नीलादि विषय सम्बन्ध से रहित स्वच्छ चिन्मात्र ज्ञान सन्तान की स्वापादि काल में प्रतीति होती है किन्तु विषय का भी ज्ञान के सम्बन्ध से रहित नहीं प्रकाशता है । इससे सिद्ध होता है कि विषय ज्ञान से भिन्न नहीं है । वह अविद्या के द्वारा ज्ञान में कल्पित है अतएव ज्ञान ही सत् है और विषय मिथ्या हैं ॥२०५॥ इसका परिहार करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं **तदेतद० इत्यादि**— इस तरह की बात अद्वैती विद्वान् अपनी वाणी के विधात का परामर्श नहीं करने के कारण कहते हैं । यह सिद्ध हो चुका है कि विषय के बिना संवित् की प्रतीति होने पर ज्ञान के बिना विषय की भी प्रतीति सिद्धप्राय है । अद्वैती द्वारा उपन्यस्त सहोपलम्भ का नियम असिद्ध हो चुका है । अतएव अद्वैती विद्वान् अपने पूर्वापर वचन के विरोध को भी नहीं सोचते हैं इसीलिए वे इस तरह की बात कहते हैं ॥२०६॥ जो जिसके बिना प्रकाशित होता है वह भी उसके बिना प्रकाशित होता है जैसे घट के बिना भी पट प्रकाशित होता है, वैसे ही पट के बिना घट भी प्रकाशित होता है अतएव वे मातृमेय के य़थात्मा का अपलाप नहीं कर सकते है ॥२०७॥

इस तरह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त निर्धारण धुरन्धर परमाचार्य श्रीमद् यामुनाचार्य प्रणीत सिद्धित्रय के अन्तर्गत संवित्सिद्धि की जगद्गुरु रामाजनुजाचार्य वेदान्तविद् स्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य कृत तत्त्वप्रकाशिता सम्पूर्ण हुयी ।



ि
ि
उ
इ
ए
के
अ
अ
भी
वि
सह
वृद्ध
ही
में
अन
है
है ।
के
इसी
विव
सिद्ध
ज्ञेय
अनु
भेदों
हैं ॥
में ज्ञ
से प्र
विरो

सिद्धित्रय : पुस्तक-परिचय

परमाचार्य श्रीमद्यामुनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों में 'सिद्धित्रय' ग्रन्थ अत्यन्त प्रख्यात है। आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि तथा संवित् सिद्धि–इन तीनों सिद्धियों का समुदित रूप सिद्धित्रय ग्रन्थ है। 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक हिन्दीव्याख्या सर्वप्रथम प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। यह व्याख्या अवश्य ही अध्येताओं को अपने विषयोंका अन्वेषण करने में सुगमता प्रदान करने वाली होगी, ऐसा विश्वास है।

विषयानुकूल ग्रन्थ

(1) तत्त्वत्रयम्। (श्रीमद्विशिष्टाद्वैत-प्रकरणम्)। श्रीवरवरमुनीन्द्रभाष्य एवं तत्त्व-प्रकाशिका हिन्दीव्याख्या संवलित। श्रीस्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य श्रीयामुन मुनि-प्रभृति आचार्योंद्वारा प्रवर्तित 'श्रीविशिष्टाद्वैतदर्शन' में सर्वप्रथम तत्त्वत्रय के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। तत्त्वत्रय शब्द से तीन तत्त्वोंको अभिहित किया जाता है–चेतन, अचेतन एवं ईश्वर। 'चैतन्यमस्त्यस्येति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार चेतन शब्द जीव का वाचक है। तत्त्वत्रय नामक ग्रन्थ पर वरवरमुनीन्द्रभाष्य की सर्वप्रथम हिन्दीटीका 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम से प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। इसमें व्याख्यात प्रधान विषयों की सूची भी प्रस्तुत की गयी है, जिससे कि अध्येताओं को अपने अभीष्ट विषयों को अन्वेषित करने में सुगमता हो।

(2) वैष्णवमताब्जभास्करः। हिन्दीटीका सहित। श्रीकृष्णनारायणाचार्य

(3) श्रीसुदर्शनानुष्ठानम्। पूजाविधि, हवनविधि, सुदर्शनशतक एवं उसकी हिन्दी व्याख्या। श्रीगोविन्दाचार्य

(4) गीतार्थसंग्रहः। श्रीयामुनाचार्य विरचितः। वेदान्तदेशिकानुगृहीत गीतार्थसंग्रहरक्षा-संवलित। हिन्दीव्याख्या सहित। श्रीगोविन्दाचार्य

(5) श्रीवचनभूषणम्। श्रीलोकाचार्यप्रणीत। श्रीवरवरमुनिकृत भाष्य एवं रंगनायक्या हिन्दीटीका सहित। श्रीबालस्वामी श्रीनिवासाचार्य

(6) श्रीभाष्यम्। रामानुजाचार्यकृत। भावप्रकाशिका हिन्दीव्याख्या सहित। आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

(7) श्रीभाष्यम्। रामानुजाचार्यकृत। हिन्दीव्याख्या सहित। श्रीललितकृष्ण गोस्वामी

(8) विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन। (हिन्दी भाषा में)। स्वामी त्रिभुवनदास

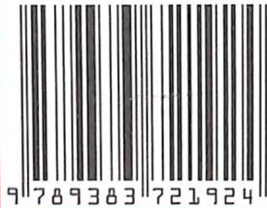
(9) शुद्धाद्वैत वेदान्त। (हिन्दी भाषा में)। पं. गिरधरगोपाल शर्मा

(10) तत्त्वमुक्ताकलापः। श्रीवेदान्तदेशिक। 'सर्वार्थसिद्धि' संस्कृत एवं आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदीकृत हिन्दीव्याख्या सहित।

(11) शतदूषणी। वेदान्तदेशिक। चण्डमारुतकृत संस्कृत व्याख्या तथा आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदीकृत हिन्दीव्याख्या सहित

(12) योगवाशिष्ठः (महारामायणम्)। विस्तृत हिन्दीव्याख्या सहित। व्याख्याकार–श्रीकृष्णपन्त शास्त्री

ISBN : 978-93-83721-92-4





चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

सिद्धित्रयम्
आत्म-ईश्वर-संवित्सिद्धयः
श्रीस्वामीदामोदरप्रपन्नाचार्यः

